आवश्यक सूत्र

(मूल-संस्कृतछाया-अन्वयार्थ-भावार्थ-विवेचन-परिशिष्ट युक्त)

तत्त्वावधान

आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा.

प्रथम संस्करण 2016

दिशा-निर्देशन

आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा.

सम्पादक

प्रकाशचन्द जैन

मुख्य सम्पादक

साहित्य प्रकाशन अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

(संरक्षक : अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ)

पुस्तक :

आवश्यक सूत्र

(मूल-संस्कृत छाया-अन्वयार्थ-भावार्थ-विवेचन एवं परिशिष्ट युक्त)

प्रकाशक:

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

दुकान नं. 182 के ऊपर,

बापू बाजार, जयपुर-302003 (राजस्थान)

फोन : 0141 - 2575997, 2571163

फैक्स : 0141-4068798

Email : sgpmandal@yahoo.in

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : 2016

मुद्रित प्रतियाँ : 5100

मूल्य : **100.00 रुपये** (एक सौ रुपये मात्र)

लेज़र टाइप सैटिंग :

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

मुद्रक : दी डॉयमण्ड प्रिंटिग प्रेस, जयपुर

अन्य प्राप्ति स्थल :

❒ **श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्याय संघ**
घोड़ों का चौक, **जोधपुर-342001**
(राजस्थान)
फोन : 0291-2624891

❒ **Shri Navratan ji Bhansali**
C/o. Mahesh Electricals,
14/5, B.V.K. Ayangar Road,
BANGALURU-560053
(Karnataka)
Ph. : 080-22265957
Mob. : 09844158943

❒ **Shri B. Budhmal ji Bohra**
211, Akashganga Apartment,
19 Flowers Road, Kilpauk,
CHENNAI-600010 (TND)
Ph. : 044-26425093
Mob. : 09444235065

❒ **श्रीमती विजयानन्दिनी जी मल्हारा**
''रत्नसागर'', कलेक्टर बंगला रोड़,
चर्च के सामने, 491-ए, प्लॉट नं. 4,
जलगाँव-425001 (महा.)
फोन : 0257-2223223

❒ **श्री दिनेश जी जैन**
1296, कटरा धुलिया, चाँदनी चौक,
दिल्ली-110006
फोन : 011-23919370
मो. 09953723403

प्रकाशकीय

तीर्थङ्कर भगवान की अनमोल आदेय वाणी को अनंत जीवों ने आत्मसात् कर शाश्वत सुख को प्रदान करने वाले, जन्म-मरण के दुःख से रहित मोक्ष रूपी शाश्वत स्थान को प्राप्त किया है, वर्तमान में कर रहे हैं, व भविष्य में भी करते रहेंगे।

वर्तमान में तीर्थङ्कर भगवंतों की वाणी के रूप में 32 आगम प्रमाण रूप माने गये हैं। इन 32 आगमों में 32वाँ आगम है-आवश्यक सूत्र। आवश्यक अर्थात् अवश्य करणीय। 'आवश्यक' का दूसरा नाम 'प्रतिक्रमण' भी है। प्रतिक्रमण का अर्थ है-पापों से पीछे हटना। प्रत्येक साधक का लक्ष्य पापों से मुक्त होकर शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त करना है। साधक दैनिक जीवन में लगे दोषों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के द्वारा आलोचना व प्रायश्चित्त करता है व भविष्य में उन दोषों का सेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है।

प्रस्तुत पुस्तक "आवश्यक सूत्र" में 6 आवश्यकों के माध्यम से जीवन में लगे दोषों की शुद्धि किस प्रकार हो, इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। 5 परिशिष्ट के माध्यम से श्रमण आवश्यक सूत्र की विधि व पाठ, श्रावक सूत्र के पाठों का विवेचन व विधि, श्रमण-श्रमणी के पाठों में अंतर, आवश्यक संबंधी विचारणा, प्रश्नोत्तर, संस्तारक पौरुषी आदि के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है।

व्यसन मुक्ति के प्रबल प्रेरक आचार्यप्रवर 1008 श्री हीराचन्द्र जी म.सा. का व्यसन मुक्ति व सामायिक-स्वाध्याय के अभियान को साकार रूप प्रदान करने में यह आवश्यक सूत्र कारगर सिद्ध हुआ है। आवश्यक सूत्र के स्वाध्याय से प्रत्येक

साधक व सुज्ञ पाठक निर्व्यसनी जीवन जीते हुए जीवन को निर्मल बनाकर साधना में आगे बढ़ने का संकल्प करता है। भगवान के बताये हुये मार्ग का अनुसरण करने का प्रयास करता है।

आचार्य प्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के तत्त्वावधान में तैयार हुए इस आवश्यक सूत्र का प्रथम संस्करण 2016 में प्रकाशित किया जा रहा है।

इस संस्करण को विशिष्ट बनाने के लिए आध्यात्मिक शिक्षा समिति के विद्वान् प्रशिक्षक श्री प्रकाशचन्दजी जैन ने आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के दिशा-निर्देशानुसार इसकी मूलभूत विशेषताएँ, भेद-प्रभेद, अध्ययनों के क्रम का आधार, प्रयोजन आदि को प्राक्कथन में आबद्ध करते हुए 5 परिशिष्टों का समावेश किया है।

पुस्तक के प्रूफ संशोधन एवं आवरण सज्जा में आध्यात्मिक शिक्षा समिति में सेवारत श्री राकेशजी जैन, जयपुर का सहयोग प्राप्त हुआ। लेज़र टाईप सेटिंग में श्री प्रहलाद नारायणजी लखेरा का सहयोग प्राप्त हुआ। एतदर्थ मण्डल परिवार आप सभी के प्रति आभार प्रकट करता है।

पाठकों से निवेदन है कि वे जीवन-उन्नायक भगवद्वाणी रूप आवश्यक सूत्र का स्वाध्याय कर अपने जीवन को सार्थक बनायें।

:: निवेदक ::

पारसचन्द हीरावत	**प्रमोदचन्द महनोत**	**पदमचन्द कोठारी**	**विनयचन्द डागा**
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मन्त्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल

प्राक्कथन

आवश्यक–ऐतिहासिक पर्यालोचना–

समणेण सावएण य अवस्सं कायव्वयं हवइ जम्हा।
अंतो अहो–निसिस्स उ, तम्हा आवस्सयं नाम।।

अर्थात् जो श्रावक–श्राविकाओं के लिए दोनों समय करना आवश्यक है उसे आवश्यक कहते हैं। संयमी जीवन को शुद्ध रखने के लिए अनिवार्य सभी क्रियाएँ आवश्यक कहलाती हैं। जैसे–प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्यायादि। लेकिन यहाँ दोनों समय करना आवश्यक होने से इसका संबंध प्रतिक्रमण व प्रतिलेखन से जुड़ता है। आवश्यक के भेदों के आधार पर देखें तो इसका संबंध प्रतिक्रमण से ही अधिक संगत लगता है। प्रतिक्रमण पापों से पीछे हटने की क्रिया है अत: इसकी ऐतिहासिकता पर विचार करें तो लगता है यह साधक के साथ जुड़ी हुई क्रिया है इसलिए जितना पुराना इतिहास साधक का है, उतना ही पुराना प्रतिक्रमण का भी है। साधना करने वाले साधक को कब–कब प्रतिक्रमण करना चाहिए इसका वर्णन ठाणांग सूत्र के 6ठें ठाणे में आया है, यहाँ 6 प्रकार के प्रतिक्रमण की चर्चा है–

छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते तं जहा–उच्चारपडिक्कमणे, पासवणपडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, जं किंचि मिच्छा, सोमणंतिए।

अर्थात् प्रतिक्रमण 6 प्रकार का कहा गया है–

(1) उच्चार प्रतिक्रमण–मल विसर्जन के पश्चात् वापस आने पर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

(2) प्रस्रवण प्रतिक्रमण–मूत्र विसर्जन के पश्चात् वापस आने पर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना।

(3) इत्वरिक प्रतिक्रमण–दैवसिक–रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

(4) यावत्कथित प्रतिक्रमण–मारणान्तिकी संलेखना के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

(5) यत्किंचित् मिथ्यादुष्कृत प्रतिक्रमण–साधारण दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़ं' कहकर पश्चात्ताप प्रकट करना।

(6) **स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण–**दु:स्वप्नादि देखने पर किया जाने वाले प्रतिक्रमण।

प्रत्येक आवश्यक क्रिया के दोष निवारण हेतु प्रतिक्रमण आवश्यक है। यहाँ मुख्यत: तीसरे इत्वरिक प्रतिक्रमण–जो दैवसिक व रात्रिक रूप में किया जाता है, उसकी चर्चा है।

आवश्यक सूत्र का स्वाध्याय करने से ज्ञात होता है कि उस समय साधकों के लिए प्रतिक्रमण की कोई विशेष विधि नहीं थी। आवश्यक पाठों को बोलकर शुद्धिकरण कर लिया जाता था। बाद में आचार्यों ने इसे साधु और श्रावक के लिए ज्ञान–दर्शन–चारित्र व तप की आराधना में लगने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करने हेतु अलग–अलग आगमों में आये हुए पाठों का संकलन कर विधि का निर्माण किया जो वर्तमान में प्रचलित है यह विधि कब व किसने निर्मित की इस विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

वर्तमान में प्रचलित साधु प्रतिक्रमण की विधि में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता परंतु श्रावक प्रतिक्रमण को लेकर विविधता दिखाई देती है। एक परंपरा आवश्यक सूत्र में श्रमण सूत्र के पाठों को भी आवश्यक मानती है तो दूसरी श्रावक सूत्र करने वाली है। श्रावक के लिए कौन–सी परंपरा से प्रतिक्रमण करना उचित है, इसके बारे में परिशिष्ट में प्रश्नोत्तरों में विस्तृत चर्चा हुई है। आप जिस परंपरा से जुड़े हुए हैं उसके अनुसार प्रतिक्रमण करने पर भी आप आराधक ही है अत: किसी को हीनाधिक बताने की आवश्यकता नहीं है।

आवश्यक के भेद–अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के चार भेद बताये हैं–**से किं तं आवस्सयं। आवस्सयं चउविहं पण्णत्तं तं जहा–(1) नामावस्सयं (2) ठवणावस्सयं (3) दव्वावस्सयं (4) भावावस्स्यं।** आवश्यक 4 प्रकार का कहा गया है–(1) नाम आवश्यक (2) स्थापना आवश्यक (3) द्रव्य आवश्यक (4) भाव आवश्यक। आवश्यक शब्द का निर्वचन (संयुक्त पद का खंड–खंड करके वाक्य के अर्थ का स्पष्टीकरण करना) 4 प्रकार से हुआ है–

(1) अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकम्–जो अवश्यक करने योग्य है, वह आवश्यक है। अर्थात् साधु–साध्वी, श्रावक–श्राविका रूप चतुर्विध संघ के द्वारा प्रतिदिन क्रमश: दिन और रात्रि के अंत में करने योग्य साधना को आवश्यक कहते हैं।

(2) आ. समन्ताद् वश्या भवंति इन्द्रियकषायादिभावशत्रवो यस्मात्तदावश्यकम्। इन्द्रिय और कषाय आदि भावशत्रु सर्वप्रकार से जिसके द्वारा वश में किये जाते हैं, वह आवश्यक है।

(3) गुणानां आसमन्ताद्वश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम्। आत्मो को दुर्गुणों से हटाकर पूर्णरूपेण सर्वप्रकार से वश–अधीन करे, वह आवश्यक है।

(4) गुणशून्यमात्मानम् आसमन्तात् वासयति गुणैरित्यावासकम्। अर्थात् गुणशून्य आत्मा को सर्वात्मना गुणों से जो वासित करे उसे आवासक (आवश्यक) कहते हैं।

नाम आवश्यक–जिस किसी भी जीव–अजीव आदि का लोक व्यवहार चलाने के लिए आवश्यक ऐसा नाम रख लिया जाता है, उसे नाम–आवश्यक कहते हैं।

स्थापना आवश्यक–काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पुस्तकर्म, लेप्यकर्म, अक्ष, वराटक में एक या अनेक आवश्यक रूप से जो सद्भाव या असद्भाव रूप स्थापना की जाती है, वह स्थापना आवश्यक है।

द्रव्य आवश्यक–जो आवश्यक रूप परिणाम का अनुभव कर चुका अथवा भविष्य में अनुभव करेगा ऐसा आवश्यक के उपयोग से शून्य साधु का शरीर आदि द्रव्य–आवश्यक है।

द्रव्य आवश्यक के दो भेद–(1) आगम द्रव्यावश्यक (2) नो–आगम द्रव्यावश्यक।

(1) आगम द्रव्यावश्यक–जिस (साधु) ने आवश्यक पद को सीख लिया है, हृदय में स्थित कर लिया है, आवृत्ति करके धारण रूप कर लिया है, श्लोक, पद, वर्ण आदि के संख्या प्रमाण का भली–भाँति अभ्यास कर लिया है, आनुपूर्वी–अनानुपूर्वी पूर्वक सर्वात्मना परावर्तित कर लिया है, स्वकीय नाम के समान अविस्मृत कर लिया है, उदात्तादि स्वरों के अनुरूप उच्चारण किया है, अक्षर का हीनतारहित उच्चारण किया है, अक्षरों का अधिकता रहित उच्चारण किया है, व्यतिक्रम रहित उच्चारण किया है, स्खलित रूप से उच्चारण नहीं किया है, शास्त्रान्तर्वर्ती पदों को मिश्रित करके उच्चारण नहीं किया है, एक शास्त्र के भिन्न–भिन्न स्थानगत एकार्थक सूत्रों को एकत्रित करके पाठ नहीं किया है। अक्षरों और अर्थ की अपेक्षा शास्त्र का अन्यूनाधिक अभ्यास किया है, यथास्थान समुचित घोषों पूर्वक शास्त्र का परावर्तन किया है, स्वरोत्पादक कंठादि के माध्यम से स्पष्ट उच्चारण किया है, गुरु के पास आवश्यक शास्त्र की वाचना ली है, जिससे वह उस शास्त्र की वाचना, पृच्छना, परावर्तना, धर्मकथा से भी युक्त है किंतु अर्थ का चिंतन करने रूप अनुप्रेक्षा (उपयोग) से रहित होने से वह आगम द्रव्यावश्यक है। अनुपयोगो द्रव्यं–आवश्यक के उपयोग से रहित होने के कारण उसे आगम–द्रव्यावश्यक कहा जाता है।

(2) नो आगम द्रव्यावश्यक तीन प्रकार का है– (अ) ज्ञायक शरीर द्रव्यावश्यक–जिसने पहले आवश्यक शास्त्र का सविधि ज्ञान प्राप्त कर लिया था, किंतु अब पर्यायांतरित हो जाने से उसका वह निर्जीव शरीर आवश्यक सूत्र के ज्ञान से सर्वथा रहित होने के कारण नो आगम ज्ञायक शरीर द्रव्यावश्यक है।

(ब) भव्य शरीर द्रव्यावश्यक–समय पूर्ण होने पर जो जीव जन्मकाल से बाहर निकला और उसी प्राप्त शरीर द्वारा जिनोपदिष्ट भावानुसार भविष्य में आवश्यक पद को सीखेगा, किंतु अभी सीख नहीं रहा है, ऐसे उस जीव का वह शरीर भव्य शरीर द्रव्यावश्यक कहलाता है।

(स) तद्व्यतिरिक्त द्रव्यावश्यक–इसके तीन भेद है–**(क) लौकिक द्रव्यावश्यक–**संसारी जनों द्वारा आवश्यक कृत्यों के रूप में जिनको अवश्य करना होता है, वे सब लौकिक द्रव्यावश्यक है।

(ख) कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक–मोक्ष के कारणभूत सिद्धांतों से विपरीत सिद्धांतों की प्ररूपणा एवं आचरण करने वाले चरक आदि कुप्रावचनिक द्रव्यावश्यक कहते हैं।

(ग) लोकोत्तरिक द्रव्यावश्यक–लोक में श्रेष्ठ साधुओं द्वारा आचरित एवं लोक में उत्तर–उत्कृष्टतर जिन प्रवचन में वर्णित होने से आवश्यक लोकोत्तरिक है। किंतु श्रमण गुण से रहित स्वच्छन्दविहारी द्रव्यलिङ्गी साधुओं द्वारा किये जाने से वह आवश्यक कर्म अप्रधान होने के कारण द्रव्यावश्यक है।

भावाश्यक के दो भेद है–(1) आमगत (2) नो आगमत:।

आवश्यक का ज्ञायक होने के साथ जो उसके उपयोग से भी युक्त हो वह आगम से भावाश्यक है।

नो आगमत भावावश्यक के 3 भेद हैं–**(अ) लौकिक–**लोक व्यवहार में आगम रूप से मान्य महाभारत, रामायण आदि की वाचना और श्रवण अवश्य करने योग्य होने से लौकिक आवश्यक है, उनके अर्थ में वक्ता व श्रोता के उपयोग रूप परिणाम होने से भावरूपता है।

(ब) कुप्रावचनिक–मिथ्या शास्त्रों को मानने वाले चरक, चीरिक आदि पाखंडी यथावसर जो भावसहित यज्ञ आदि क्रियाएँ करते हैं, वह कुप्रावचनिक भावावश्यक है।

(स) लोकोत्तरिक–प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ श्रमण आदि जनों को अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक है। इनके करने वालों का उनमें उपयोग वर्तमान रहने से भावरूपता है। आवश्यक के नाम, स्थापना आदि में वर्तमान में अलग–अलग परंपराओं में जो भेद परिलक्षित होता है वह द्रव्यावश्यक का ही है, भावावश्यक का लक्ष्य तो सभी का एक–सा ही है। हम भावावश्यक तक कैसे पहुँचें यह अधिक चिंतन का विषय है।

कैसे करें भावावश्यक की आराधना

(1) आवश्यक–अवश्य करणीय है, इस बात पर दृढ़ आस्था रखें–तीर्थङ्कर नाम गौत्र कर्म उपार्जन के 20 कारणों में एक कारण उभयकाल प्रतिक्रमण करने का भी बताया गया है ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में। शीघ्र मोक्ष जाने के 23 बोलों में एक बोल उभयकाल प्रतिक्रमण का भी है, इससे स्पष्ट है कि तीर्थङ्कर केवली या सामान्य केवली दोनों ही अवस्थाओं को प्राप्त करने में आवश्यक महत्त्वपूर्ण उपाय है। साधु–साध्वियों के लिए उभयकाल आवश्यक करना अनिवार्य है। श्रावक–श्राविका वर्ग भी उभयकाल या अपनी सुविधानुसार आवश्यक की आराधना में तत्पर रहते हैं।

वर्तमान में आवश्यक की आराधना एक परंपरा निभाना जैसा कार्य हो गया है, आवश्यक के प्रति अहोभाव, श्रद्धाभाव की कमी के कारण यह आराधना जीवन में आनन्ददायक नहीं हो पाती। करना चाहिए के स्थान पर करना पड़ता है का भाव अधिक आ जाता है जिससे अंतरंग जुड़ाव नहीं हो पाता। रस नहीं आता। जिससे इस समय में दूसरा कोई आराधना का उपक्रम उपस्थित होने पर इसके स्थान पर उसे महत्त्व दे दिया जाता है, यह आवश्यक अवश्यकरणीय है, इस पर श्रद्धा की कमी का प्रतीक है। अत: आवश्यक के काल में आवश्यक की ही आराधना करने योग्य है, अन्य कोई नहीं, ऐसी दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए।

(2) पाठों के शुद्ध उच्चारण करने पर पूरा ध्यान दें–शास्त्र के पाठों का उच्चारण कैसे करना चाहिए इस संबंध में विस्तार से वर्णन हुआ है। एक मात्रा, अनुस्वार, अक्षर, पद आदि कम–अधिक हो जाता है तो ज्ञान का अतिचार कहलाता है। आगमे तिविहे के पाठ में ऐसे अतिचारों की चर्चा हुई है, सूत्र के 32 दोषों में भी इन्हें शामिल किया गया है, अत: पाठों के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देना अनिवार्य है। उसके बिना भावविशुद्धि सम्भव नहीं है। जब भी सामायिक–प्रतिक्रमण आदि के पाठ सीखें तब किसी व्याकरण के ज्ञान प्राप्त किये हुए व्यक्ति के पास ही सीखें, एक बार गलत उच्चारण ज़ुबान पर जम जाता है तो उसे सुधारना बहुत कठिन होता है। अत: पहले उच्चारण शुद्धि के नियमों को सीखना चाहिए तथा एक–एक मात्रा, अनुस्वार

व पद का उच्चारण बार–बार करके देखना चाहिए। जल्दी व अधिक याद करने की अपेक्षा शुद्ध याद करने का लक्ष्य रखना चाहिए। उच्चारण शुद्धि हेतु इन तीन नियमों को अवश्य स्मरण रखें–**(अ) मात्रा संबंधी नियम–**अक्षर पर लगने वाली मात्रा का उच्चारण यदि छोटी मात्रा है तो धीरे से करना तथा बड़ी मात्रा हो तो उच्चारण लम्बा करना चाहिए। **(ब) अनुस्वार संबंधी नियम–**शब्द के अंत में आने वाले अनुस्वार का उच्चारण आधा 'म्' होता है, शब्द के बीच में अनुस्वार आने पर उसका उच्चारण अनुस्वार के अगले वर्ण के वर्ग का पाँचवाँ अक्षर होता है। **(स) संयुक्ताक्षर संबंधी नियम–**शब्द के प्रारंभ में संयुक्ताक्षर होने पर अगले अक्षर पर जोर दें। जैसे–त्याग में 'या' पर जोर दें। यदि बीच में संयुक्ताक्षर हो तो उसके पहले वाले अक्षर पर जोर दें। जैसे–चक्खुदयाणं में 'च' पर जोर देकर बोलना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी कुछ नियम हैं, उन्हें ध्यान में रखने से उच्चारण व लेखन की शुद्धता रहती है।

(3) प्रत्येक पाठ के शब्दार्थ पर ध्यान दें–भाव–विशुद्धि के लिए पाठों के शुद्ध उच्चारण के साथ प्रत्येक पाठ के शब्दों के अर्थ पर ध्यान देना चाहिए। बिना अर्थ के मूल पाठों का उच्चारण अपूर्ण ही माना जाता है। मूल से 14 पूर्वों का अध्ययन करने पर भी अर्थ के अभाव में आर्य स्थूलिभद्र को दसपूर्वी ही माना गया है, चौदहपूर्वी नहीं। नंदीसूत्र में कहा है–सुत्तत्थो खलु पढमो। सर्वप्रथम सूत्र व अर्थ पढ़ना चाहिए। प्राचीन परंपरानुसार गुरु शिष्य को पढ़ाते समय मूल पाठ के साथ उसका अर्थ–भावार्थ भी समझाते हैं जिससे पाठ याद करने के साथ भावविशुद्धि में भी सहायता मिलती है। सामायिक–प्रतिक्रमण सिखाते समय भी इस बात का ध्यान रखा जाय कि पाठों के शब्दों के अर्थ भी साथ में समझा दिये जाँय तो जुड़ाव अच्छा होता है।

(4) पाठ का प्रयोजन व उसकी विषय–वस्तु को हृदयंगम करें–जिस पाठ का उच्चारण किया जा रहा है उसके शब्दार्थ के साथ ही यदि पाठ को बोलने का प्रयोजन व उसमें जिन–जिन बातों का वर्णन हुआ है, उसे समझ लिया जाता है तो उच्चारण के साथ ही उसका ध्यान उसमें लग जाता है। अत: पाठ का उद्देश्य व विषय–वस्तु को हृदयंगम करना आवश्यक है, इसके लिए प्रत्येक पाठ के प्रश्नोत्तर दिये हुए हैं उन्हें पढ़कर समझना चाहिए। मूल पाठ और शब्दार्थ कंठस्थ करने वालों को आगे इन्हीं बातों का अध्ययन करवाना चाहिए। आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर के पाठ्यक्रम में इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए आवश्यक को इसी रूप में स्थान दिया गया है, उसके माध्यम से भी इसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, इस पुस्तक के परिशिष्ट में संबंधित प्रश्नोत्तर दिये गये है, वे भी पठनीय हैं।

(5) प्रत्येक क्रिया नियत विधि के अनुसार करें–भावविशुद्धि के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक पाठ के अर्थ सहित शुद्ध उच्चारण के साथ उसकी नियत विधि का पूर्णतया पालन करें। जितनी बार तिक्खुत्तो के पाठ से वंदना करना है उसे आवर्तन सहित पूरी विधि से उठ बैठकर करें। खमासमणो का पाठ, 99 अतिचार प्रकट में, श्रावक सूत्र के पाठ, पाँच पदों की भाववंदना आदि की जो विधि है उसी अनुसार यदि प्रतिक्रमण किया जाय तो शारीरिक लाभ के साथ आध्यात्मिक लाभ भी पूरा मिलता है। भगवान द्वारा उपदेशित प्रत्येक विधि–विधान शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से फायदेमंद हैं अत: उन्हें श्रद्धापूर्वक सविधि करने से विशेष निर्जरा है।

(6) प्रतिक्रमण चालू करने से कुछ समय पूर्व शांत होकर बैठें–जीवन में जाने–अनजाने होने वाली पापक्रियाओं के प्रायश्चित्त हेतु प्रतिक्रमण किया जाता है। जब तक पापों को स्मृति पटल पर नहीं लाया जायेगा उनकी आलोचना व मिच्छा मि दुक्कड़ कैसे दिया जायेगा? अत: प्रतिक्रमण के पूर्व 15–20 मिनिट शांत बैठकर अपनी दैनिक क्रियाओं का निरीक्षण करें, जो–जो पापकारी क्रियाएँ हुई हैं, जिन–जिन के साथ मनमुटाव हुआ है, उन प्रसंगों, व्यक्तियों को सामने लाकर उस गलती को मन से स्वीकार करें फिर विधि में बोले जाने वाले पाठ के माध्यम से उसका प्रतिक्रमण करें तो भावविशुद्धि विशेष होगी।

(7) प्रतिक्रमण करने के पहले, करते समय व करने के बाद अहोभाव रखें–जब प्रतिक्रमण करने का सुअवसर प्राप्त हो मन में एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव करें, मुझे अपने कृत पापों की आलोचना करने का सुनहरा अवसर मिल रहा है, पाप के कार्यों से समय मिल रहा है, यह मेरा सद्‌भाग्य है मैं पूरी एकाग्रता से विधि सहित इसे पूरा करूँगा इस संकल्प के साथ प्रतिक्रमण शुरू करें। प्रतिक्रमण करते समय प्रत्येक पाठ के अर्थ, प्रयोजन आदि पर ध्यान देते हुए पाठों के शुद्ध उच्चारण पूर्वक प्रतिक्रमण को पूरे उत्साह के साथ पूरा करें। पूर्ण होने के बाद अपने आपको धन्य–धन्य मानें, आज का मेरा यह समय सार्थक हुआ है, उसकी खुशी चेहरे पर स्पष्ट नज़र आने लगे, जब भी मौका मिलेगा प्रतिक्रमण करके अपने को धन्य करूँगा ऐसा संकल्प करें, अपनी प्रसन्नता का अनुभव करें। हल्कापन महसूस करें। परमात्मा के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करें–आपकी कृपा से मुझे यह अवसर प्राप्त हुआ है। गुरुदेव का आभार मानें–उनके मार्गदर्शन के कारण ही यह संभव हुआ है। इस प्रकार अहोभाव व श्रद्धाभाव प्रकट करें।

(9) सभी से अंतर से क्षमायाचना करें–प्रतिक्रमण के बाद 84 लाख जीवयोनि से क्षमायाचना की जाती है। हमारी क्षमायाचना अंतर्हृदय से होनी चाहिए। जिनके साथ भी हमारा मनमुटाव है। उनसे क्षमायाचना करनी चाहिए। केवल परंपरा का निर्वहन कर लेना मात्र पर्याप्त नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में क्षमापना से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया है कि क्षमापना से प्रह्लाद भाव की उत्पत्ति होती है अर्थात् प्रसन्नता का अनुभव करता है जिससे सब जीवों के साथ मैत्री भाव होता है, उससे भावविशुद्धि होकर जीव निर्भय बन जाता है अत: क्षमा करना व क्षमा माँगना दोनों ही कार्य अंतर्भावना से होने चाहिए।

यदि हम इस प्रक्रिया से प्रतिक्रमण की साधना करें तो निश्चित ही भाव प्रतिक्रमण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आवश्यक का क्रम एवं वैशिष्ट्य-

आवश्यक 6 हैं–(1) सामायिक (2) चतुर्विंशति स्तव (3) वंदना (4) प्रतिक्रमण (5) कायोत्सर्ग (6) प्रत्याख्यान। मूलाचार ग्रन्थ में 6 आवश्यकों के नाम इस प्रकार मिलते हैं–(1) समता (2) स्तव (3) वंदन (4) प्रतिक्रमण (5) प्रत्याख्यान (6) विसर्ग। छहों आवश्यकों का क्रम बहुत वैज्ञानिक और क्रमबद्ध हैं। शान्त्याचार्य के अनुसार विरति सहित व्यक्ति के ही सामायिक संभव है। विरति और सामायिक दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जब तक हृदय में समता का अवतरण नहीं होता तब तक समता के शिखर पर स्थित

वीतराग के गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को अपनाने की दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता। प्रमोदभाव या गुणग्राहकता का विकास होने पर ही व्यक्ति स्वत: नम्र एवं सरल बन जाता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अत: वंदना के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक का क्रम उपयुक्त है। दोषों के परिमार्जन में कायोत्सर्ग आवश्यक है। तन और मन की स्थिरता सधने पर दोषों का परिमार्जन स्वत: हो जाता है। व्यक्ति के भीतर जब स्थिरता व एकाग्रता सधती है, तभी वह वर्तमान में अकरणीय का प्रत्याख्यान करता है अथवा भविष्य में भोगों की सीमा हेतु संयमित होने का व्रत लेता है। संभव है इसीलिए प्रत्याख्यान को अंतिम आवश्यक के रूप में रखा है। सभी आवश्यक आपस में कार्य–कारण की शृङ्खला से बंधे हुए हैं अत: एक–दूसरे से जुड़े हुए हैं। कुंदकुंद के साहित्य में षडावश्यक के नाम भिन्न मिलते हैं–(1) प्रतिक्रमण (2) प्रत्याख्यान (3) आलोचना (4) कायोत्सर्ग (5) सामायिक (6) परम भक्ति।

आवश्यकों का प्रयोजन–

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के अधिकारों का प्रयोजन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ आवश्यक के 6 नाम हैं–

सावज्जजोगविरई, उक्तित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छा गुणधारणा चेव।।

(1) सावद्ययोगविरति (2) उत्कीर्तन (3) गुणवत् प्रतिपत्ति (4) स्खलित निंदना (5) व्रण चिकित्सा (6) गुणधारणा।

सर्वप्रथम सामायिक आवश्यक में पापकारी प्रवृत्ति से दूर रहकर समता पूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशति आवश्यक में सर्वोच्च शिखर पर स्थित महापुरुषों के गुणों की स्तवना की जाती है इससे अंत:करण की विशुद्धि होने के कारण दर्शन की विशुद्धि होती है। अनुयोगद्वार चूर्णि के अनुसाार–दर्शनविशोधि, बोधिलाभ और कर्मक्षय के लिए तीर्थङ्करों का उत्कीर्तन करना चाहिए। तृतीय वंदना आवश्यक गुणयुक्त गुरुजनों की शरण एवं उनकी वंदना की बात कहता है जिससे उनके गुण व्यक्ति के भीतर संचारित हो सकें और अहंकार का विलय हो सके। उत्तराध्ययन सूत्र में वंदना से जीव सौभाग्य, अप्रतिहत आज्ञाफल और सबके मन में अपने प्रति प्रियता का भाव पैदा करता है। साथ ही नीच गौत्र का क्षय कर उच्च गौत्र का उपार्जन करता है। चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में कृत दोषों की आलोचना की जाती है जिससे प्रतिदिन होने वाले प्रमाद का परिष्कार और शोधन होता रहे। प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छिद्रों को ढ़कता है। कायोत्सर्ग से संयमी जीवन के व्रणों की चिकित्सा होती है, साथ ही भेदविज्ञान की धारणा पुष्ट होती है कायोत्सर्ग व्यक्ति को निर्भार और प्रशस्त ध्यान में उपयुक्त करता है। आगमों में कायोत्सर्ग को सब दु:खों से मुक्त करने का हेतु माना है। अंतिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य में गलती न करने के संकल्प की अभिव्यक्ति की जाती है, जिससे इच्छाओं का निरोध तथा संवर की शक्ति का विकास होता रहे। प्रत्याख्यान गुणधारण करने का उत्तम उपाय है।

आवश्यक सूत्र का महत्त्व इस बात से भी प्रकट होता है कि इस आगम पर जितने व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये हैं अन्य किसी पर इतने नहीं लिखे गये।

व्याख्या साहित्य-

(1) आवश्यक निर्युक्ति–आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने आगमों के शब्दों को स्पष्ट करने के लिए दस आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं, जिनमें आवश्यक निर्युक्ति प्रथम व सबसे महत्त्वपूर्ण है। निर्युक्तियाँ संक्षिप्त शैली में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। आवश्यक निर्युक्ति में कितनी गाथाएँ हैं इस बात को लेकर बहुत मतभेद है–(1) हारिभद्रीय टीका में 1,055 (2) मलयगिरी कृत टीका में 1,067 (3) स्वोपज्ञ में 735 एवं (4) दीपिका में 1,062 जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित में 680। ''अन्यत्र गाथाओं की संख्या अधिक होने का कारण इनमें भाष्यादि की गाथाएँ मिल गई हैं, उन्हें निर्युक्ति के साथ जोड़ देने से ऐसा हुआ है।'' परिशिष्ट गाथा समीकरण (आवश्यक निर्युक्ति खण्ड–1, जैन विश्व भारती, लाडनूँ)

विषय–वस्तु–5 ज्ञान का भेद–प्रभेद सहित विस्तृत विवेचन, श्रुतज्ञान में सर्वप्रथम स्थान सामायिक व अंत में बिंदुसार को दिया है। सामायिक के अधिकारी कौन? शिष्य के गुण दोषों की चर्चा, व्याख्या–विधि के 26 उपोद्घात द्वार, भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन, भगवान ऋषभ के पूर्वभव, इक्ष्वाकु वंश की स्थापना तथा कुलकरों की उत्पत्ति का रोचक वर्णन, भगवान ऋषभ के सर्वांगीण जीवन का परिचय, ऋषभ के साथ–साथ अन्य तीर्थङ्करों से संबंधित वर्ण, प्रमाण, संहनन आदि 21 द्वारों का वर्णन किया गया है।

ऋषभ के बाद महावीर के जीवन के विविध प्रसंग, साधनाकाल के कष्ट आदि के स्थान एवं व्यक्ति के नाम सहित विस्तृत विवेचन है। महावीर के जीवन को स्वप्न, गर्भापहार आदि 13 द्वारों में निरूपित किया है। कैवल्य प्राप्ति के बाद महासेन उद्यान में दूसरा समवशरण हुआ जिसमें इन्द्रभूति आदि 11 ब्राह्मण आदि शिष्य सम्पदा के साथ शंकाओं का निराकरण होने पर कैसे प्रव्रजित हुए इसका वर्णन हुआ है। नय के प्रसंग में आर्य वज्र के जीवन–प्रसंगों का विस्तृत उल्लेख है तथा आर्य रक्षित के जीवन प्रसंग के साथ उन्होंने चारों अनुयोगों का पृथक्करण किया, इसका भी वर्णन प्राप्त है। निह्नवों का सम्पूर्ण वर्णन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद सामायिक, सामायिक के भेद, उसके अधिकारी की योग्यता, सामायिक कहाँ आदि विविध द्वारों का समाधान दिया गया है। अंतिम निर्युक्ति द्वार में सामायिक के निरुक्तों का उल्लेख कर सर्वविरति के 8 निरुक्त एवं उनसे संबंधित आठ ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन–प्रसंगों का संकेत दिया गया है, जिन्होंने समता का विशेष अभ्यास किया था।

सामायिक का प्रारंभ नमस्कार मंत्र से होता है अत: निर्युक्तिकार ने अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनका विवेचन करते हुए नमस्कार की उत्पत्ति, पद, पदार्थ, प्ररुपणा, प्रसिद्धि, क्रम, प्रयोजन, फल आदि 11 द्वारों का निरुपण किया है। इसके बाद करण, भंते, सामायिक, सर्व सावद्य, योग, प्रत्याख्यान और यावज्जीवन आदि सामायिक के पदों की व्याख्या की गई है। कहा जा सकता है कि इस निर्युक्ति में सामायिक पर तो सांगोपांग विवेचन मिलता ही है, साथ ही अन्य विषयों पर भी विशिष्ट जानकारी प्राप्त होती है।

(2) विशेषावश्यक भाष्य–आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने साामायिक आवश्यक पर भाष्य लिखा, जो विशेषावश्यक भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसे सामायिक भाष्य भी कहते हैं। यह ग्रन्थ विशेष रूप से आवश्यक निर्युक्ति के अंतर्गत सामायिक निर्युक्ति की व्याख्या के रूप में लिखा गया है। सैद्धांतिक एवं तात्त्विक दृष्टि से यह ज्ञान का आकर ग्रन्थ है। इसे दार्शनिक चर्चा का प्रथम एवं उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस आगम में वर्णित लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे प्रकरण हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में हैं जैसे–पंचज्ञान, गणधरवाद, पंच नमस्कार आदि। पं. दलसुख मालवणियाजी के अनुसार–जैन परिभाषाओं को स्थिर रूप प्रदान करने में इस ग्रन्थ को जो श्रेय प्राप्त है, वह शायद ही अन्य अनेक ग्रन्थों को एक साथ मिलाकर मिल सके।

इस ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ मिलती हैं–**(अ) स्वोपज्ञ टीका**–इसमें कुल 4329 गाथाओं की व्याख्या है जिनमें 735 निर्युक्ति गााथाएँ है। यह टीका स्वयं भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने लिखी है, यह टीका अधूरी लिखी गई थी जिसे फिर कोट्याचार्य द्वारा पूरी की गई। **(ब) कोट्याचार्य कृत टीका**–जिनभद्रगणि की स्वोपज्ञ टीका को पूर्ण किया जिसका ग्रन्थमान 13700 श्लोक प्रमाण है। **(स) मलधारी हेमचन्द्र कृत टीका**–यह विस्तृत एवं गंभीर टीका है। इसमें इन्होंने सरल, सुबोध भाषा में दार्शनिक मन्तव्यों को स्पष्ट किया है, इसके माध्यम से इस गंभीर ग्रन्थ को पढ़ने में सुविधा हो गई है। इसमें 3603 गाथाएँ भाष्य की है जिन पर 28000 श्लोक प्रमाण टीका लिखी गई है।

(3) आवश्यक चूर्णि–इसमें विस्तार से गाथाओं की व्याख्या की गई है। यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आवश्यक चूर्णि मुख्यत: निर्युक्ति की व्याख्या करती है, कहीं-कहीं भाष्य की गाथाओं की भी व्याख्या मिलती है। जिनदासगणि महत्तर ने अनेक ग्रन्थों पर चूर्णियाँ लिखीं पर आवश्यक पर लिखी गई चूर्णि परिमाण में बृहत्तम है। यह छहों आवश्यक पर लिखी गई है। भाषा शैली की दृष्टि से भी यह चूर्णि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कथाओं की दृष्टि से यह अत्यंत समृद्ध ग्रन्थ है।

(4) हारिभद्रीय टीका–आचार्य हरिभद्र ने अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं पर उनमें आवश्यक एवं उसकी निर्युक्ति पर लिखी गई टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस टीका में उन्होंने मूल भाष्य की गाथाओं की भी व्याख्या की है। टीका का प्रयोजन बताते हुए वे कहते हैं–

यद्यपि मया तथान्यै: कृतास्य निवृतिस्तथापि संक्षेपात्।
तद्रुचिसत्त्वानुग्रहहेतो:, क्रियते प्रयासोऽयम्।।

इसमें स्पष्ट है कि इस टीका से पूर्व उन्होंने तथा किसी अन्य आचार्य ने एक बृहद् टीका का निर्माण किया था, जो आज हमारे सामने उपलब्ध नहीं है, बाद में उन्होंने यह संक्षिप्त टीका लिखी। यह टीका 22,000 श्लोक प्रमाण है।

(5) मलयगिरीय टीका–आचार्य मलयगिरी महान् टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध है इन्होंने 25 ग्रन्थों पर टीका की, ऐसा उल्लेख मिलता है। ये केवल आगमों के ही नहीं अपितु गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र व कर्मशास्त्र के भी गहरे विद्वान् थे। टीकाकारों में इनका स्थान प्रथम कोटि का है। इनकी टीकाएँ मूलस्पर्शी अधिक हैं। अपनी टीका में इन्होंने लगभग सभी शब्दों की सटीक एवं संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। आवश्यक पर इनकी टीका अधूरी मिलती है। 1099 गाथा तक की टीका उन्होंने लिखी 1100वीं गाथा के पूर्वार्द्ध की व्याख्या मिलती है, उसके बाद साम्प्रतमर: अर्थात् अब अरनाथ का उल्लेख है ऐसा संकेत है। आगे न गाथा का उत्तरार्द्ध दिया है और न ही उसकी कोई व्याख्या है। इसका ग्रन्थमान 18,000 श्लोक प्रमाण है।

अन्य भी दीपिका, अवचूर्णि, टिप्पण आदि इस पर उपलब्ध हैं जो आवश्यक की महत्ता को उजागर करते हैं।

आवश्यक सूत्र के अनेक संस्करण अनेक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित हुए हैं। सभी का आवश्यक को सर्वजन सुलभ बनाने का प्रयास स्तुत्य है। हमने इस संस्करण में आवश्यक सूत्र के पाठ, संस्कृत छाया, शब्दार्थ, भावार्थ, विवेचन एवं अनेक परिशिष्टों जिनमें श्रमण सूत्र विधि, श्रावक सूत्र विधि, प्रश्नोत्तर आदि के माध्यम से विशेष सामग्री देने का प्रयास किया है, सामग्री संकलन में अनेक संस्थाओं द्वारा प्रकाशित आवश्यक संबंधी पुस्तकों का सहयोग लिया, सबके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

आचार्य भगवन्त ने अनंत कृपा करके इस सूत्र की प्रस्तावना के संबंध में अपने भाव व्यक्त किये जिन्हें शब्द रूप में पिरोकर यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य भगवन्त पूज्य गुरुदेव 1008 श्री हस्तीमलजी म.सा. जो जिनशासन के देदीप्यमान नक्षत्र थे, जिनका समूचा जीवन स्वाध्याय को समर्पित था उन्हीं की अहैतुकी कृपा से यह संस्करण तैयार हुआ है उनके प्रति नतमस्तक होते हुए हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अल्पज्ञता व प्रमादवश यदि जिनवाणी के विपरीत कुछ प्ररुपणा हुई हो तो उसका मिच्छा मि दुक्कडं देते हुए सुधी पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि यदि कोई स्खलना आपके ध्यान में आए तो अवश्य सूचित करावें ताकि आगे संशोधन किया जा सके।

सुज्ञेषु किं बहुना!

शुभेच्छु
प्रकाशचन्द जैन, प्राचार्य
मुख्य सम्पादक
साहित्य प्रकाशन अ.भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ

प्रस्तावना

परमात्मा महावीर देव ने परम पवित्रता को प्राप्त करने का प्राथमिक उपाय बताया है, ''आवश्यक की आराधना।'' पाप से पीछे हटे बिना कोई भी जीव धर्माराधना में आगे नहीं बढ़ सकता। निज दोषों को देखकर, उन दोषों को दूर करना-यही साधक का मुख्य कर्त्तव्य है। अपने दोष देखना भी एक श्रेष्ठ गुण है, धर्म साधना का प्रमुख अंग है।

उत्तराध्ययनसूत्र के 29वें अध्ययन की पाँचवीं पृच्छा में आलोचना (स्वदोष दर्शन) करने का सुंदर फल प्रतिपादित किया है। आलोचना करने वाला माया-निदान और मिथ्या दर्शन रूप तीनों शल्यों को उखाड़ फैंकता है-जो कि मोक्ष मार्ग में विघ्न रूप हैं। अनंत संसार के वर्धक हैं। आलोचना करने वाला ऋजु भाव को प्राप्त करता है। इसी के साथ छठी पृच्छा में भी बताया है कि आत्म निंदा करने वाला पश्चात्ताप को प्राप्त करता है। अपने पापों का पश्चात्ताप करता हुआ, क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर लेता है, मोहनीय कर्म को क्षय कर देता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी एक दोहे में तिरने के तीन उपाय बताये हैं-

''प्रभु प्रभु धुन लागी नहीं, पड़या न सतगुरु पाय।
दीठा नहीं निज दोष तो, तरिये कौन उपाय।।''

अर्थात् प्रभु भक्ति, गुरु समर्पण और निजदोष-दर्शन, ये संसार सागर से तिरने के तीन उपाय हैं। ये अगर जीवन में न आये, तो जीव कैसे भवसिन्धु को तिरेगा?

किसी मुमुक्षु को इकतीस आगम न भी आये तो भी उसमें संयम लेने की पात्रता हो सकती है, परंतु 32वाँ 'आवश्यक सूत्र' नहीं आता है तो वह संयम लेने के योग्य नहीं है। कदाचित् किन्हीं कारणों से उसे ''सामायिक चारित्र'' प्रदान कर भी दिया गया है तो आवश्यक सूत्र कंठस्थ कराए बिना छेदोपस्थापनीय चारित्र में प्रवेश नहीं कराया जाता है। स्पष्ट है, संयम-साधना में, मुक्ति प्राप्ति में आवश्यक सूत्र का ज्ञान मूल हेतु है। प्रथम व अंतिम तीर्थङ्कर के शासनवर्ती श्रमण-श्रमणियों को उभयकाल आवश्यक करना (प्रतिक्रमण करना) आवश्यक होता है। चातुर्याम धर्म वाले पार्श्वापत्य संत जब 24वें तीर्थङ्कर के शासन में सम्मिलित हुए,

तब उन्होंने सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत स्वीकार किए। बीच के 22 तीर्थङ्करों के संत प्रतिक्रमण नहीं करते ऐसा नहीं है, उनके जब दोष लगता है, तब वह ऋजुता और प्राज्ञता होने से तत्काल प्रतिक्रमण कर लेते हैं। उनकी सजगता (जागरुकता) अधिक होने से वे तत्काल दोष से असंग होकर आत्मशुद्धि कर लेते हैं। दोष को दूर किये बिना कोई तिरा नहीं, तिरता नहीं और तिरेगा नहीं। आवश्यक सूत्र अपने दोषों को दूर करने की एक मनोवैज्ञानिक व्यवस्थित साधना पद्धति है। प्रथम तीर्थङ्कर के संत-सती ऋजु और जड़ और 24वें तीर्थङ्कर के संत-सती वक्र और जड़ होने से उन्हें उभयकाल ''आवश्यक करना'' अनिवार्य बताया गया है। ''अवश्यं करणाद् आवश्यकम्'' अर्थात् आवश्यक (प्रतिक्रमण) अवश्य करणीय है।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम बताये हैं। ''आवस्सयं अवस्स करणिज्जं, धुवणिग्गहो विसोही य। अज्झयण छक्कवग्गो, णाओ आराहणा मग्गो।। 1. आवश्यक 2. अवश्यकरणीय 3. ध्रुव निग्रह 4. विशोधि 5. अध्ययन षट्क वर्ग 6. न्याय 7. आराधना 8. मार्ग। इनमें एक नाम अवश्यकरणीय हैं। मुमुक्षु के लिए अवश्यकरणीय होने से ही इसका नाम ज्ञानियों ने अवश्यकरणीय रखा है। इसी के साथ कहा है-समणेणं सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहो, णिसस्स य, तम्हा 'आवस्सयं' नाम।

अर्थात् साधु और श्रावक के द्वारा दिन और रात्रि के अंत में अवश्य करने योग्य होने से इसका नाम 'आवश्यक' रखा गया है। आचार्य मलयगिरी ने भी लिखा है-''अवश्यकर्त्तव्यमावश्यकम्।'' श्रमणादिभिरवश्यम् उभयकालं क्रियत इति भाव:। श्रमण और श्रावक को उभयकाल अवश्य करना चाहिए। इसलिए इसका नाम आवश्यक है। आज कुछ निश्चय दृष्टि में अतिरेक रखने वाले इसकी उपेक्षा करते हैं-यह उचित नहीं है। जिनाज्ञा की अवज्ञा है।

मोक्ष पिपासु क्रियावान श्रावक को भी प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिये। इतना संभव नहीं तो अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों को अवश्यमेव करें। पाक्षिक पर्व के दिन तो प्रतिक्रमण का विशेष लक्ष्य रखें।

अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के दो प्रकार बताये हैं-(1) द्रव्य-आवश्यक और (2) भाव-आवश्यक।

(1) द्रव्य-आवश्यक-इसमें आवश्यक करने वाला मात्र पाठों का उच्चारण करता है। जो पाठ बोला जा रहा है, उसमें उसका उपयोग नहीं रहता। शब्दों में रहे हुए भावों के साथ जुड़कर वह अपनी आत्मा को भावित नहीं कर पाता। मात्र क्रियाएँ करता है।

(2) भाव-आवश्यक-इसमें आत्मसाधक आवश्यक में रहे हुए एक-एक शब्द के साथ अपना

उपयोग जोड़ता है। शब्दों में रहे हुए भावों से अपनी चेतना को भावित करता है। अनुयोग द्वार सूत्र कह रहा है कि भाव आवश्यक करने वाला एकाग्रचित्त, तन्मय, तदनुरूप लेश्या वाला, उसी अनुरुप अध्यवसाय, तीव्र भावना युक्त, उसी के अर्थ में उपयोगवान्, मन को कहीं अन्यत्र नहीं ले जाते हुए जो आवश्यक करता है, वह ''भावावश्यक'' है।

जिनशासन में द्रव्य और भाव दोनों का महत्त्व है। द्रव्य भाव से ही सुशोभित होता है। द्रव्य आधार है तो भाव आधेय है। द्रव्य पात्र है तो भाव तदन्तर्गत पेय है। इसीलिए कहता हूँ- ''भाई! प्रतिक्रमण अर्थ सहित सीखो। जो अर्थ का जानकार होगा-वह अपने को भावों से भी भावित कर पायेगा। अर्थोपार्जन के लिए लोग तेलगु, कन्नड़ आदि भाषाओं को सीख लेते हैं, परंतु भव से पार कराने वाले-इस प्राकृत भाषा के आवश्यक सूत्र को सीखने में उद्यम क्यों नहीं करते? इसके महत्त्व को समझकर इसे सीखने का पुरुषार्थ करना चाहिए। बूँद-बूँद से घड़ा भरता है। एक-एक पंक्ति या पाठ भी याद करेंगे तो एक दिन प्रतिक्रमण के जानकार बन जायेंगे। मैंने तो अनपढ़ लोगों को भी पाठ सुन-सुनकर प्रतिक्रमण याद करते देखा है। कहते हैं पच्चीस बोल की कुंजी और प्रतिक्रमण की पूँजी तो पास में होनी ही चाहिए।

शास्त्रकारों ने इस आवश्यक सूत्र को छह-भागों में विभक्त किया है। 1. सामायिक 2. चतुर्विंशति स्तव-तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति 3. वंदन-गुरुदेवों को वंदन 4. प्रतिक्रमण-पापों का मिथ्यादुष्कृत देना 5. कायोत्सर्ग-काया के ममत्व का त्याग 6. प्रत्याख्यान आहारादि का त्याग करना। अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के छ: गुण निष्पन्न नाम बताये हैं। 1. सावद्य-योग विरति 2. उत्कीर्तन 3. गुणवत्प्रतिपत्ति 4. स्खलित निंदना 5. व्रण चिकित्सा 6. गुणधारण। छह आवश्यकों का सामान्य रूप से दिग्दर्शन करते हैं-

1. सामायिक (सावद्य योग विरति)-समभाव की आय का नाम ''सामायिक'' है। विषम भाव का अभाव ही समभाव है। जीव का स्वभाव 'समभाव' है। जीव जब अज्ञानवश दोष से जुड़ता है-तब उसमें विषम भाव पैदा होता है। जीव दोष से जुड़ता क्यों है? क्योंकि जीव भूलवश दोष को अपना मानने लगता है। अनादि संस्कारों के कारण रागादि दोष उसे सुखद लगते हैं। परंतु उन सुखों के पीछे दु:ख भी लगा हुआ है। सुख का भोगी दु:ख का भागी बने बिना नहीं रह पाता। इस सुख का त्यक्ता ही आत्मिक सुख का भोक्ता बनता है। जीव की दोषों से दूरी कैसे हो? दोषों का द्रष्टा बने बिना उनसे दूरी होना संभव नहीं है। जिस क्षण साधक दोष का द्रष्टा बनता है, उस क्षण दोष उसके लिए एक दृश्य के रूप में होता है। अर्थात् दोष अलग हो जाता है और जीव अलग हो जाता है। दोष दर्शन का क्षण दोष विमुक्ति का क्षण है, जीव जितनी गहराई से अपने दोष दर्शन कर पायेगा, उतनी ही गहराई से अपने दोषों का निकंदन कर पायेगा। इसे एक व्यवहारिक दृष्टांत से देखते हैं-

सेठजी के घर में चोर चोरी करने हेतु प्रवेश कर गया। सेठजी ने चोर को देख लिया। आप ही बताइये–चोर चोरी करेगा या वहाँ से नौ–दो–ग्यारह होने की कोशिश करेगा? स्पष्ट है चोर वहाँ से भागने की ही कोशिश करेगा।

इसी तरह जीव रूपी सेठ द्वारा दोष रूपी चोर देख लिए जाने पर दोष का निष्कासन ही होगा। इसीलिये अनंत ज्ञानियों ने साधना का प्रथम चरण सामायिक बतलाया है। क्योंकि अपने दोषों को देखे बिना विषम भाव हटने वाला नहीं है और विषम भाव हटे बिना समभाव आने वाला नहीं है।

प्रथम सामायिक आवश्यक में श्रमण वर्ग 125 अतिचारों व श्रावक वर्ग 99 अतिचारों का ध्यान करता है। ध्यान में वह **''तस्स मिच्छामि दुक्कडम्''** नहीं बोलकर **''तस्स आलोउं''** बोलता है। आलोउं (आलोचना) आसमन्तात्लोचयति इति आलोचना यानि अच्छी तरह से अपने दोषों को देखना। जब तक वह अपने दोषों को अच्छी तरह देखेगा नहीं तब तक अच्छी तरह मिथ्या दुष्कृत कैसे दे पायेगा? अगर दोषों का आलोचन सम्यक् प्रकार से नहीं हुआ है तो उसका चतुर्थ आवश्यक में मिच्छामि दुक्कडम् (मिथ्या–दुष्कृत) देना भी मिथ्या है। राग–द्वेषात्मक परिणति का परित्याग करने पर ही जीव अपनी सहज स्वाभाविक समभावमय परिणति को प्राप्त करता है। सावद्य योग का (18 पाप) परिहार करने पर ही जीव सामायिक में आता है (साामाइएणं भंते........ उत्तराध्ययन 29/8)

सामायिक की यह एक व्याख्या हुई। सामायिक को अनेक व्याख्याओं से व्याख्यायित किया जा सकता है। अनुयोग द्वार सूत्र में सामायिक के लिए गाथा–द्वय में कहा है–**जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे तस्स सामाइयं होइ इइ केवलिभासियं।** जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप से समाहित रहती है, उसी के सामायिक होती है ऐसा केवली भगवान ने कहा है।

जो समो सव्वभुएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होई, इइ केवलिभासियं।।

अर्थात् जो त्रस और स्थावर रूप समस्त जीव राशि के ऊपर समान भाव वाला होता है–उसके सामायिक होती है, ऐसा केवलिभाषित है। भगवती सूत्र में कहा है–**आयासामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।** अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूप में विराजमान रहना ही सामायिक है। और सामायिक का प्रयोजन भी उस शुद्ध आत्मिक स्वरूप को प्राप्त करना ही है।

2. चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक (उत्कीर्तन)–चौबीस तीर्थङ्कर भगवंतों की स्तुति करना, उनके गुणों का उत्कृष्ट भाव पूर्वक कीर्तन करना द्वितीय आवश्यक है। जब साधक अपने दोषों को दूर करने का

प्रयत्न करना है, समभाव में स्थित रहने का पुरुषार्थ करता है–तो यह कार्य उसे अत्यन्त दुरुह लगता है। तब उसके मन में उन तीर्थङ्कर भगवंतों के प्रति सहज भक्ति उमड़ पड़ती है, जिन्होंने इस दु:साध्य कार्य को साधकर स्वरूप में, समता में संस्थिति कर ली है। इस भव में भी एक जरा सी चाय की या और कोई व्यसन आदि की लत लग जाती है तो उसे छोड़ने में भी कैसी ताकत लगती है, जबकि ये राग–द्वेष, विषय–कषाय के संस्कार तो अनादि कालीन संस्कार हैं–इन्हें छोड़ने में जीव को एड़ी से चोटी तक का जोर लगाना पड़ता है। ये कार्य दु:साध्य अवश्यक हैं–परंतु असाध्य नहीं हैं। अनंत जीव पुरुषार्थ प्रकट करके परम पद को पा चुके हैं। जीव उन परम पद को प्राप्त–परमात्मा को देखकर अपना पुरुषार्थ प्रकट करता है।

परिपूर्णता को प्राप्त ऐसे प्रभु की भक्ति हमें भी आत्म–शक्ति प्रदान करती है। आवश्यक निर्युक्ति में भद्रबाहु स्वामी ने कहा है–भत्तीइ जिनवराणां, खिज्जंती पुव्वसंचिया कम्मा। अर्थात् जिनेन्द्र देव की भक्ति, पूर्वोपार्जित कर्मों को क्षय करती है। कल्याण मंदिर स्तोत्र में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि जैसे चंदन वन में चंदन के वृक्षों पर भुजंग लिपटे हुये हैं, वहाँ मयूर आकर ज्यों ही कैकारव करता है त्योंही भुजंग वहाँ से भाग जाते हैं। वैसे ही जो साधक हृदय में आपकी भक्ति को स्थान देता है–उसके कर्मों के निबिड़ बंध खुल जाते हैं। वह कर्म–मुक्त बन जाता है।

''भक्ति भवसिंधु तिराती है, भक्ति भव ताप मिटाती है।
भगवान भक्त में भेद नहीं, भक्ति भगवान बनाती है।।''

पूज्य हमीरमलजी म.सा. के सुश्रावक दहीखेड़ा निवासी सुश्रावक विनयचन्द्रजी कुम्भट पद्मप्रभुजी की स्तुति करते हुए कहते हैं–

''पाप–पराल को पुञ्ज बण्यो अति, मानो मेरु आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहजे प्रजलित सारो।
पद्म प्रभु पावन नाम तिहारो।।''

भक्ति वही कर सकता है–जिसे भगवान के गुणों का सम्यक् भान है, ज्ञान है। भले अत्यल्प ही सही पर जिसे समभाव का रसास्वादन हुआ है। वही भगवान की अनंत समता की कल्पना करके उनकी भक्ति में अहोभाव से प्रेरित होकर निमग्न हो सकता है। लोगस्स और नमोत्थुणं दोनों भक्ति के पाठ हैं। कहते हैं भगवान बनना सरल है पर भक्ति आना कठिन है। भगवान के प्रति उत्कृष्ट भक्ति आई नहीं कि भव सिन्धु तिरे नहीं। उत्तराध्ययन के 29वें अध्ययन में चतुर्विंशतिस्तव का फल दर्शन विशुद्धि बताया है। यह सम्यग्दर्शन ही मुक्ति का बीज है और यह प्राप्त होता है प्रभु भक्ति से। बशर्ते कि भक्ति होनी चााहिए भाव सहित। भगवान में

विद्यमान वीतरागता आदि स्मृति पथ में लाकर उसमें तल्लीन होना। मानव भव में श्रावक व्रतों का विराधक होने वाला नंदमणिकार का जीव तिर्यंच के भव में प्रभु भक्ति से मुक्ति मार्ग का आराधक बन गया। उत्तराध्ययन 29/1 4 में बताया ही है स्तव-स्तुति करने वाला ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप बोधि लाभ को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप बोधि लाभ को प्राप्त हुआ जीव उसी भव में अंत क्रिया (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है या कल्प विमान को प्राप्त करता है। जो जिसको भजता है-वह उसको पाता है। संसार में किसी राजा, सेठ आदि की सेवा-पूजा करने वाला भौतिक सम्पत्ति का स्वामी बन सकता है, परंतु भगवान की निष्काम भाव भक्ति करने वाला तो आत्मिक गुणों के शाश्वत ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है। जब साधक भगवद् भक्ति में, मन के तार को जोड़ता है, उसमें एकतार बनता है तो सहज ही उसके भीतर वे गुण प्रादुर्भूत होने लग जाते हैं। गुरुदवे फरमाते थे-जैसे सूर्योदय होने पर कमल खिलने लगता है, वैसे ही प्रभु भक्ति से आत्मा में विद्यमान गुण सहज ही सुविकसित होने लगते हैं। यह उन लोगों के लिए समाधान है जो ये कहते हैं कि भगवात तो वीतराग है-वह तो हमें कुछ देते नहीं है। परंतु यह सत्य है भक्त प्रभु भक्ति से स्वयं भगवान बन जाता है।

एक बात और समझने की है-जैनदर्शन की भक्ति अपने पुरुषार्थ को गौण नहीं करती है। भक्ति सहित पुरुषार्थ साधक का कार्य सुलभ हो जाता है। भगवान हमारे सारथी बनने को तैयार है, पर इस आंतरिक संग्राम में युद्ध तो हमें स्वयं ही लड़ना है। जैसे महाभारत के युद्ध में श्रीकृष्ण, अर्जुन के सारथी बनते हैं। युद्ध स्वयं अर्जुन ही करता है और विजय पताका भी फहराता है। पर यह भी सत्य है-समर्थ सारथी होने पर विजय भी आपके चरण अवश्य चूमेगी। इसलिए नमोत्थुणं में आता है-''धम्मसारहीणं'' भगवान इस कर्मयुद्ध में हमारे सारथि बनने को तैयार है-पर यह समर हमें स्वयं ही लड़ना होगा। हाँ, यह निश्चित है कि प्रभु को हमने सारथि बनाकर युद्ध किया, तो हमारी कर्मों पर विजय मिलना आसान है, मुक्ति के साम्राज्य को प्राप्त करना सुनिश्चित ही है। कहते हैं भक्ति दो तरह की होती है, सचेष्ट और निश्चेष्ट। इसे एक उदाहरण के माध्यम से समझते हैं। एक तो है बिल्ली का बच्चा और दूसरा है बंदर का बच्चा। बिल्ली के बच्चे को उसकी माँ मुँह से पकड़ती है, परंतु बच्चे की तरफ कोई चेष्टा नहीं रहती यह है निश्चेष्ट भक्ति, जो यहाँ अनभीष्ट है। दूसरी तरफ है बंदर का बच्चा जिसे माँ अपनी छाती से चिपकाती है, परंतु बच्चा स्वयं अपनी तरफ से भी छाती से पकड़ के रखता है, यह है सचेष्ट् भक्ति यही यहाँ अभीष्ट है। हम साधना में पुरुषार्थ करें, पर प्रभु भक्ति सहित करें। भक्ति से साधना में सरसता पैदा होती है। भक्त भक्ति से आनन्द मग्न बना रहता है और उसी प्रभु भक्ति से परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। वह भगवान से कोई कामना नहीं करके मात्र मोक्ष प्राप्ति की भावना रखता है। इसीलिए चतुर्विंशति स्तव के अंतिम चरण में बोलता है-''सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'' हे सिद्ध भगवान आप

मुझे सिद्धि प्रदान करें। व्यक्ति की जैसी अंतस् की माँग होती है तथानुरूप ही उसका पुरुषार्थ होता है। भावना भवनाशिनी। अत: सिद्धि की उत्तम भावना भायें।

3. वंदन (गुणवत्प्रतिपत्ति)–चतुर्विंशति स्तव के बाद तृतीय वंदन आवश्यक है। प्रत्यक्ष आराधना में आगे बढ़ने वाले सद्गुरुदेव हैं। पूर्णता प्राप्ति में प्रयत्नशील गुरुदेव को देखकर शिष्य भी या श्रमणोपासक भी अपनी साधना में तेजस्विता लाता है। उनकी समत्व की, निर्विकारता की, असंगता की साधना को देखकर, उसकी साधना को भी बल मिलता है। क्योंकि भगवान तो पूर्णता पा चुके। वर्तमान में साधनाशील तो गुरुदेव ही हैं। उन्हें देखकर उसे भी लगता है–मैं भी साधना में आगे बढ़ सकता हूँ। इसीलिए तीसरा आवश्यक गुरु वंदन लिया है। जिनशासन में देव के पश्चात् गुरुदेव का स्थान है। प्रभु तो सर्वोपरि है ही। वैष्णव परंपरा में तो यह भी कहा है–

''गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव ने गोविंद दियो बताय।''

शिष्य को प्रभु का परिचय कराने वाले गुरु ही है। गुरु के बिना उसे कौन साधना का मार्ग बताता? इस अपेक्षा से गुरु की अध्यात्म जगत में अत्यन्त महत्ता है। कहा है–

''गुरु को सिर पर राखिये, चलिए आज्ञा माहि।
कहे कबीर दास को, तीन लोक में भय नाहिं।।''

गुर्वाज्ञा को अग्रणी रखकर आराधना करने वाला आराधक बन जाता है, मुक्ति प्राप्त कर लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन के 10वें बोल में वंदन का फल बताते हुए कहा है–नीच गौत्र का क्षय, उच्च गौत्र का बंध, सौभाग्य की प्राप्ति, अप्रतिहत आज्ञा का फल और दाक्षिण्य भाव (लोकप्रियता) की प्राप्ति। विनय जिन शासन का मूल है। विनय धर्म का मूल है। विनय समस्त गुणों का सम्राट् है। विनय अनेकानेक गुणों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। विनयवान का हृदय कोमल होता है, उसे झुकाने में नहीं झुकने में आनन्द का अनुभव होता है। गुरु चरणों में झुककर`````` वह अपने आपको, सौभाग्यशाली समझता है। गुरु के चरण कमल, कर्म मल को धोकर, आत्मा को विशुद्ध बनाने वाले हैं। इच्छामि खमासमणो और तिक्खुत्तो ये गुरु वंदन के मुख्य पाठ हैं। कभी रास्ते चलते गुरुदेव मिले, उनके हाथ में गोचरी पानी आदि का वजन हो तो उस समय विनय में विवेक रखते हुए, चरण स्पर्श न करते हुए दूर से ही सिर झुकाकर ''मत्थएणं वंदामि'' बोलकर जघन्य वंदन करना चाहिए। तिक्खुत्तो के पाठ में बायें से दायें (Left to Right)आवर्तन देते हुए पंचांग झुकाकर विधि सहित वंदन करना चाहिए। यह मध्यम वंदना है। इस विधि में सद्भावों का सम्मिलित होना भी परमावश्यक है। श्री कृष्ण वासुदेव ने वंदन से सातवीं, छठी, पाँचवीं और चौथी नरक के

बंधनों को पार करते हुए तीसरी नारकी तक सीमित कर दिया। वंदनावश्यक में दो खमासमणो में बारह आवर्तों के साथ भक्ति भाव से, अहोभाव से गुरुदेव को वंदन करना चाहिए। यह उत्कृष्ट वंदन है। प्रभु महावीर ने अपनी अंतिम देशना उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन विनयश्रुत में फरमाया है। दशवैकालिक सूत्र के 9वें अध्ययन के चार उद्देशकों में ''विनय समाधि'' के नाम से बहुत ही सुंदर समायोजना शय्यंभवाचार्य ने की है। विनय अहंकार का मारक है, इसीलिए भव-सिंधु से तारक है। वंदन करने से पूर्व वंदनीय के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक है। जो महाव्रतधारी हैं, रत्नत्रय से युक्त हैं, चारित्रिक गुणों से समृद्ध हैं, वही हमारे वंदनीय हैं।'' ''वेश देख पूजो रे भाई जिन करणी जोहि जाई।'' यह अन्यन्मतियों का कथन हो सकता है। हमारे यहाँ तो कहते हैं-''इर्याभाषाएषणा, ओलखलो आचार। गुणवंत गुरु देखते, वंदो बारम्बार।'' यह साधुत्व के गुणों की, आचार की भी आवश्यकता है। इसीलिए इस आवश्यक का नाम 'गुणवत्प्रतिपत्ति' है, यानि वंदनीय में वंदन योग्य गुण होने पर ही वंदनीय है, अन्यथा नहीं। कहते हैं ऐसे वेशधारियों को वंदन से कर्मों की निर्जरा नहीं होती मात्र कायक्लेश होता है। अपितु असंयम का अनुमोदन होने से कर्मों का बंधन ही होता है। वर्तमान में श्रावक समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह जिनाज्ञा में रहकर आराधना करने वाले आचार निष्ठ संतों को ही आदर व बहुमान दें। शिथिलाचारियों, एकलविहारियों को वंदन आदि करने में विवेक रखने की आवश्यकता है। उन्हें साध्वाचार के अनुसार आहार, पानी, वस्त्र, स्थान आदि देने का निषेध नहीं कर रहा। क्योंकि गृहस्थ के दरवाजे सबके लिए खुले रहते हैं। परंतु उन्हें गुरु तरीके से तवज्जा देने में तो विवेक रखना ही चाहिए। गुरुदेव में विद्यमान गुणों को मद्देनजर रखकर वंदन करने से वे गुण हमारे भीतर भी प्रकट होते हैं। इसीलिए कहा है-''वंदे तद्‌गुण लब्ध्ये।'' गुरुदेव का विनय तो करना ही है, परंतु उनकी अविनय, आशातना से सदैव बचते रहना है। कहा है-''अनाशातना बहुमान करणं च विनय:।'' आशातना से बचते रहकर बहुमान करते रहने पर ही विनयगुण की पूर्णता होती है। गुरुदवे को वंदन आदि से विनय तो करे उनकी बात न माने तो यह अधूरा विनय है। उनके कथन को प्रभु-आज्ञा की तरह स्वीकार करने पर ही आराधना होती है। कुछ समझने के लिए जिज्ञासा या तर्क किया जा सकता है, वह अविनयय नहीं है। वंदन पाप, ताप व संताप सबको मिटाने वाला है। वंदन-चंदन से भी बढ़कर शीतलतादायक है।

4. प्रतिक्रमण (स्खलित निंदना)-आवश्यक सूत्र का चतुर्थ चरण है प्रतिक्रमण। प्रथमावश्यक में जिन दोषों का समालोचन किया था-उन्हीं दोषों का यहाँ मिच्छामि दुक्कडम् देना है। उन दोषों से अपने आपको अलग करना है। भूतकाल में भूलवश जो अतिक्रमण हो गया था-उसी का प्रतिक्रमण करना है। साधक का साध्य तो समत्व ही है। उस समत्व को साध चुके या उसकी साधना में तल्लीन ऐसे गुरुदेव को क्रमश: दूसरे-तीसरे आवश्यक में स्तुति-वंदन करके अपने आत्मबल को बढ़ाया है। षड़ावश्यक में सबसे

बड़ा आवश्यक 'प्रतिक्रमणावश्यक' ही है। इसमें ही सबसे अधिक पाठ होने से बोलचाल में लोग आवश्यक सूत्र कर रहे हैं, ऐसा न कहकर 'प्रतिक्रमण कर रहे हैं' ऐसा बोलते हैं। यह आवश्यक सूत्र का हृदय है। पाप के पंक से पीछे हटे बिना जीव पवित्रता के प्रांगण में प्रवेश नहीं कर सकता है। पत्रिवता सबको प्रिय है, परंतु पाप का प्रायश्चित्त किये बिना वह प्राप्त होने वाली नहीं है। पाप त्याग का संकल्प करने के बावजूद भी, औदयिक भाववश या प्रमादवश जीव भूलकर बैठता है। बस उस अतीत की भूल की धूल को झाड़कर, वर्तमान की निर्मलता को प्राप्त करना ही प्रतिक्रमण का प्रधान लक्ष्य है। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है-''शुभ योग से अशुभ योगों में गए हुए अपने आपको पुन: शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।'' प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग। मिथ्यात्व ही समस्त दोषों का मूल है। इसका त्याग करने के लिए पुद्गल में ममत्व बुद्धि का त्याग करना होगा। इस मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुए बिना अन्य अव्रतादि का प्रतिक्रमण होना असंभव है।

अनुयोग द्वार सूत्र में द्रव्य और भाव के भेद से प्रतिक्रमण को दो भागों में विभक्त किया है। द्रव्य प्रतिक्रमण में बिना आत्मिक लक्ष्य के, बिना उपयोग के मात्र पाठोच्चारण होता है-कायिक उठक-बैठक होती है। जबकि भाव प्रतिक्रमण का आराधक लाघक आत्मलक्षी होकर पाठों में उपयोगवान होकर विधि सहित प्रतिक्रमण करता है। उसे अपने दोष से दु:ख होता है-इसीलिए उसे दूर करने का प्रयत्न करता है।

मुमुक्षु का मिच्छामि दुक्कडम् कुम्हार वाला नहीं होता है कि गलती करता जाय और मिच्छामि दुक्कडम् देता जाय। आज अधिकांशतया प्रतिक्रमण करने वालों की दशा ऐसी है-न तो पाप से पीछे फिरते हैं और न ही अंतर के वैमनस्य, कालुष्य आदि को धोते हैं। भाव प्रतिक्रमणकर्त्ता का मन तो अपने दोषों के प्रति ग्लानि से भर उठता है। उसका अंतर्मन रोता है कि कब मेरे दोषों का निकंदन होगा, कब मैं निर्दोष बनूँगा। मैं कब वीतरागता का वरण करूँगा।

प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार भी है-1. दैवसिक, 2. रात्रिक, 3. पाक्षिक, 4. चातुर्मासिक और (5) सांवत्सरिक।

(1) दिवस के अतं में किये जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

(2) रात्रि के अवसान में किये जाने वाला प्रतिक्रमण रात्रिक है।

(3) पक्ष (पखवाड़े) के अंत में पन्द्रह दिन का किया जाने वाला प्रतिक्रमण पाक्षिक है।

(4) चातुर्मासिक-चातुर्मासिक पूर्णिमाएँ वर्ष में तीन आती है-आषाढ़ी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा और फाल्गुनी पूर्णिमा को किये जाने वाले प्रतिक्रमण चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

(5) सांवत्सरिक प्रतिक्रमण-आषाढ़ी पूर्णिमा से पचास दिन पश्चात् भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन सांवत्सरिक महापर्व आता है। इस एक दिन के महापर्व में वर्ष भर के पापों की आलोचना की जाती है। आत्मसाधक तो प्रतिपल सजग रहता है। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण में श्रमण व रुचि वाले श्रावक प्रतिक्रमण करते हैं। कहते हैं कभी किसी के साथ साधु की कुछ कहा-सुनी हो गई और वह उस दिन भी क्षमा याचना न करे तो उसकी साधुता खटाई में पड़ जाती है। उसका साधुत्व व गुणस्थानों से पतन हो जाता है। चार महिने में भी क्षमापना न करे तो श्रावक श्रावकत्व के गुणस्थान से च्युत हो जाता है। वर्ष भर में भी क्षमायाचना न करे तो उसका सम्यक्त्व भी समाप्त हो जाता है। बृहत्कल्प सूत्र के चतुर्थ उद्देशक में और भी अधिक सूक्ष्मता से कथन हुआ है। साधु का किसी के साथ कलह हो जाये तो उसे उस स्थिति में आहार-पानी के लिए जाना-आना नहीं कल्पता है। न ही बड़ी नीति के लिए जाना या विहार करना कल्पता है। उसे क्षमायाचना करने पर ही ये कार्य करने कल्पते हैं। क्षमा, मुनि का प्रथम धर्म है। वैर-वैमनस्य को भुलाकर इस दिन तो सबसे आत्मीयता से गले मिलना चाहिए। तभी आराधना संभव है। यह क्षमापना तो परम आह्लाद भाव को प्रदान करने वाली है। मुक्तिप्रदायक है। भगवान महावीर बृहत्कल्प सूत्र में फरमाते हैं''उवसम सारं खु सामण्णं। जो उवसमई तस्स होई आराहणा। श्रामण्य का (साधना) का सार उपशम भाव है। क्षमा भाव है। जो उदित कषाय को उपशम करता है उसकी ही आत्माराधना होती है। उसके अंतर से तो यही निकलता है-खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे। मित्ति मे सव्व भुएसु, वेरं मज्झ न केणइ। वह 84 लाख जीव योनियों से क्षमा माँगता है, सबको क्षमा देता है, किसी के साथ वैर नहीं रखता। सबके साथ मैत्री भाव की स्थापना करता है। ऐसा उत्कृष्ट मैत्री भाव तो जिनशासन में देखने को मिलेगा, अन्यत्र ऐसा मिलना दुर्लभ है। ठाणांग सूत्र के छठे ठाणे में प्रतिक्रमण के छ: भेद बताए है।

(1) उच्चार प्रतिक्रमण-बड़ी नीत परठकर प्रतिक्रमण (ईर्या को) करें।

(2) प्रस्रवण प्रतिक्रमण-लघुनीत परठकर प्रतिक्रमण करें।

(3) इत्वर प्रतिक्रमण-दिन व रात्रि के अंत में किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वल्पकालीन होने से इत्वर प्रतिक्रमण है।

(4) यावत्कयिक प्रतिक्रमण-महाव्रतादि के रूप में जीवन भर के लिए पाप से निवृत्ति करना यावत्कयिक प्रतिक्रमण है।

(5) यत्किंचित मिथ्या प्रतिक्रमण-संयम में सावधानी रखते हुये भी, जरा-सी भी स्खलना के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण। अर्थात् भूल को स्वीकार करके उसके लिए तत्काल मिच्छामि दुक्कडम् देना।

यह साधक की पाप भीरुता का परिचय देता है। ऐसी दुष्कृत गर्हा साधक को साधना की उच्च अर्हता प्रदान करती है। इसके लिए आंतरिक सजगता अपेक्षित है।

(6) स्वप्नात्मिक प्रतिक्रमण–रात्रि में अर्द्ध निद्रित अवस्था में आये हुए दु:स्वप्न के निवारण के लिए यह प्रतिक्रमण है। प्राय: प्रात:काल उठकर साधक 4 लोगस्स का ध्यान करता है। इससे इसकी शुद्धि हो जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में बताया है–प्रतिक्रमण द्वारा साधक व्रत में हुए छिद्रों को ढ़क देता है। चारित्रिक निर्दोषिता को प्राप्त करता है। स छिद्र नौका डूबाने वाली होती, उस छिद्र को ढ़क देने पर तिराने वाली है। ऐसे ही व्रत में लगे अतिचार की उपेक्षा कभी महान् अनर्थकारी हो **छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।** उस दोष का प्रायश्चित्त करने वाला साधक सकुशल भवपार पहुँच जाता है। आवश्यक नियुक्ति में आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने प्रतिक्रमण के आठ नाम बताये हैं–

(1) प्रतिक्रमण–कृत पाप से पीछे लौट आना।

(2) प्रतिचरणा–अहिंसा, सत्यादि में अच्छी तरह आचरण करना प्रतिचरणा है।

(3) परिहरणा–अशुभ योग, असदाचरण का परिहार करना।

(4) वारणा–विषय भोगादि का प्रभु वीर ने वारण (निषेध) किया है।

(5) निवृत्ति–अशुभ भाव से निवृत्त होना।

(6) निंदा–आत्मसाक्षी से अपने पापों को धिक्कारना। अपने दोषों के प्रति धिक्कार भाव ही आत्म गुणों पर अधिकार प्रदान करता है।

(7) गर्हा–गुरुदेव आदि के पास सरलता से अपने दोषों को प्रकट करना। इससे साधक का अहंकार समाप्त होता है, लघुता आती है।

(8) शुद्धि–आत्मा पर लगे अनादि कालीन दोषों को छोड़कर आत्मा को शुद्ध बनाना।

जैसे मलीन वस्त्र के मैल निकल जाने पर उसमें कैसा हल्कापन व कैसी सुंदरता आ जाती है। धूल-धूसरित भवन का कचरा निकल जाने पर उसमें कैसी स्वच्छता, रमणीकता आ जाती है, वैसे ही हमारी आत्मा का कर्म कचरा आत्मा को अलगन होने पर उसमें हमारी रमणीकता बढ़ेगी, आनन्दानुभव बढ़ेगा, अनंतजीव प्रतिक्रमण करके परम पद (सिद्धत्व) को पा चुके। हम भी प्रतिक्रमण करके परम पवित्रता को प्राप्त करें।

5. कायोत्सर्ग (व्रण चिकित्सा)–प्रतिक्रमण के पश्चात् पंचम आवश्यक है कायोत्सर्ग। काया और उत्सर्ग इन शब्दों से मिलकर बना है कायोत्सर्ग। काया का अर्थ है शरीर, और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग।

सामान्य अर्थ हुआ काया का त्याग परंतु इसका विशेष अर्थ है–कायिक ममत्व का त्याग करना। साधना में काया नहीं कायिक ममत्व बाधक है। देह तो नामकर्म की कृति है पर इसका नेह यह मोहनीय की प्रकृति है। नाम कर्म तो अघाति है जबकि आत्मिक गुणों का घात करने वाला तो यह मोहकर्म घातिकर्म है। शरीर की ममता छूटने पर शरीर स्वत: छूट जायेगा।

प्रथम आवश्यक 'सामायिक' इस सामायिक की साधना का बाधक तत्त्व है–कायिक ममत्व। आत्मा तो समभाव में ही है–उसमें विषम भाव तो यह देहराग ही पैदा करता है। जीव जब साधना करता हुआ देह राग की ओर झुकता है तो उसकी साधना में व्रण (घाव) पैदा होता है। उस व्रण की चिकित्सा (उपचार) करना यह 'व्रण चिकित्सा' रूप पंचम आवश्यक जिसे कायोत्सर्ग कहे या व्रण–चिकित्सा कहें एक ही बात है। कायोत्सर्ग करने का प्रयोजन तस्स उत्तरी के पाठ में बताया हुआ है–तस्स उत्तरी कारणेणं, पायाच्छित–करणेणं, विसोही करणेणं, विसल्ली करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं। अर्थात् उस पापात्मा (कषायात्मा) को ऊपर उठाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्धि के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पापकर्मों का निर्घात करने के लिए साधक द्वारा कायोत्सर्ग किया जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन की 12वीं पृच्छा के उत्तर में कायोत्सर्ग करने का फल बताया है–''कायोत्सर्ग करने वाला अतीत काल व वर्तमान में हुई भूलों का प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धिकरण कर लेता है। प्रायश्चित्त से विशुद्ध हुआ, हल्का हुआ साधक प्रशस्त ध्यान से युक्त होकर सुख पूर्वक विचरण करता है। जैसे भारवाहक सिर से वजन उतार देने पर हल्कापन (सुख) अनुभव करता है।

सबसे बड़ा भार यह शरीर का राग ही है। उत्तराध्ययन के 26वें अध्ययन में कहा भी है–काउस्सग्गं तओ कुज्जा, सव्व–दुक्ख–विमोक्खणं। किसी भी प्रवृत्ति के बाद जागरुक साधक कायोत्सर्ग करे, क्योंकि यह कायोत्सर्ग सभी दु:खों से विप्रमोक्ष कराने वाला है। साधक को तो प्रतिपल यही परिणाम रखना चाहिए न मे देहा, परीसहा। न ये देह मेरी और नही ये परीषह मेरे हैं। प्रभु द्वारा उक्त आचारांग के इस सूक्त–हम हमारे जीवन का आदर्श बनाकर अभ्यास करें। नीतिकारों ने भी कहा है–शनै: कंथा, शनै: पन्था, शनै: पर्वत लंघनम्। शनै: विद्या, शनै: वित्तं, पंचैतानि शनै: शनै:। जैसे अभ्यासी व्यक्ति शनै: शनै: कन्था (गूदड़ी/बड़ा वस्त्र) की सिलाई कर लेता है, शनै: शनै: लम्बी दूरी तय कर लेता है, शनै: शनै: बड़े–बड़े पर्वतों को लाँघ जाता है, शनै: शनै: व्यापार करता हुआ, धन जोड़ता हुआ एक दिन गरीब से अमीर हो जाता है, ऐसे अभ्यास से यह जीव श्रुत का पारगामी या आत्म विद्या का अधिकारी बन जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 4 में कहा है–''मुहुं मुहुं मोह गुणे जयन्तं'' अर्थात् बार–बार मोह को जीतने का प्रयत्न करें। गुरुदेव आचार्य भगवान हस्तीमलजी म.सा. ने भी भजन की पंक्तियों में कहा है–

गिरत-गिरत प्रतिदिन रस्सी भी, शिला घिसावेला।
करत-करत अभ्यास मोह को, जोर मिटावेला।।
कर लो सामायिक रो साधन.....।।

मोह विजय के क्षेत्र में जिनकी अद्भुत साधना थी, उनके ये वचन हैं। उनके भजन की ये पंक्तियाँ भी अंतर-ज्योति को जाज्वल्यमान करने वाली है-

सतगुरु ने यह बोध बताया, नहि काया नहि माया तुम हो।
सोच समझ चहुँओर निहारो, कौन तुम्हारा अरु कौन तुम हो।।

समझो चेतनजी अपना रूप, यो अवसर मत हारो।।टेर।।
ज्ञान दरस मय रूप तिहारो, अस्थि-माँस मय देह न थारो।।
दूर करो अज्ञान, होवे घट उजियारो।।

मेरे अंतर भया प्रकाश, नहीं अब मुझे किसी की आस।।टेर।।
तन-धन-परिजन सब ही पर हैं, पर की आश-निराश।
पुद्गल को अपना कर मैंने, किया स्वत्व का नाश।।

मानता हूँ यह साधना कठिन है, पर देह राग से ऊपर उठकर आत्म भावना से भावित होने वाले उन महापुरुषों की कृपा से हम सब भी मोह विजय की साधना में आगे बढ़े।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में भी कहा है-''**अन्नो जीवो, अन्नं देहं।**'' अर्थात् जीव अलग है और देह अलग है। यह भेद विज्ञान ही साधक को सहनशील बनाकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाता है। खंदकाचार्य अपने शिष्यों को घाणी में पिलने से पहले यही अंतिम उद्बोधन देते हैं-''**नत्थि जीवस्स नासुत्ति, एवं पेहेज्ज संजए।।**'' हे संयमियों यही अनुप्रेक्षण करो, जीव का नाश नहीं होता, जिसका नाश होता है, वह शरीर है, जड़ धर्मा है।

वर्तमान में कायोत्सर्ग में लोगस्स के पाठ का नियम है। दैवसिक व रात्रिक कायोत्सर्ग में चार, पाक्षिक को आठ, चातुर्मासिक को 12 तथा सांवत्सरिक महापर्व को 20 लोगस्स का कायोत्सर्ग करना अजमेर साधु सम्मेलन में सुनिश्चित हुआ है। आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रंथों में श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग के मुख्य पाँच लाभ गिनाए हैं-**(1) देहजाड्य शुद्धि**-देह की जड़ता समाप्त होती है।, तन दुरुस्त होता है। **(2) मति जाड्य शुद्धि**-बौद्धिक जड़ता मिटती है, एकाग्रता बढ़ती है। **(3) सुख-दुःख तितिक्षा**-सुख-दुःख सहने की अपूर्व क्षमता विकसित होती है। **(4) अनुप्रेक्षा**-आत्मचिंतन विकसित होता है। **(5) ध्यान**-शुभ ध्यान में विकास होता है।

कायोत्सर्ग से–कुछ आनुषांगिक लाभों के साथ मुख्य 'ममत्व त्याग' सधता है। तस्स उत्तरी के पाठ में कायोत्सर्ग के 12 आगार बताये हैं, उन्हें रखकर साधक कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग के **घोटक** आदि 19 दोष बताये उनसे भी बचकर निर्दोष रीति से कायोत्सर्ग करना चाहिये।

साधक का मुख्य ध्येय है–अयोगी अवस्था को प्राप्त करना और उसकी साधना करवाता है–कायोत्सर्ग। तस्स उत्तरी के पाठ में अंतिम में आता है–**ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।** कायिक, वाचिक, मानसिक स्थिरता के साथ उस पापात्मा (कषायात्मा) का भी त्याग करता है। योगों की चंचलता दु:ख की हेतु है जबकि स्थिरता सुख की हेतु है और अयोगी अवस्था शाश्वत सुख का कारण बनती है। कायोत्सर्ग आभ्यंतर तप का अंतिम भेद है। यह आत्मा को अंतर्मुखी बनाकर, सर्वकर्म खपाकर शाश्वत सुखी बना देता है।

6. प्रत्याख्यान (गुणधारण)–क्रम प्राप्त छठा अंतिम आवश्यक है प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का सामान्य प्रचलित अर्थ है त्याग। यह त्याग दो तरह का होता है, द्रव्य–त्याग और भाव–त्याग। द्रव्य से किसी वस्तु, आहार, पानी आदि का त्याग करना। भाव–त्याग है–विषमता का त्याग करना। विषमता को पैदा करने वाले राग–द्वेष–मोह का त्याग करना। भीतर से विषय–भोग आदि की कामना कम हुए बिना, द्रव्य त्याग सम्यक् होने वाला नहीं है। कुछ लोग ऊपर से कुछ प्रत्याख्यान लेकर ही राजी हो जाते हैं पर उन्हें आंतरिक आसक्ति को भी तोड़ने का लक्ष्य रखना चाहिए। तभी उन्हें त्याग से होने वाले आनन्द की अनुभूति होगी। साधक का प्रधान लक्ष्य तो साामायिक ही है उसे पुष्ट करने वाले अन्य चार आवश्यक है। प्रत्याख्यान भले ही होता वर्तमान में है पर संबंध भविष्य से है। बोलते भी है–भूतकाल का प्रतिक्रमण वर्तमान काल की सामायिक और भविष्य काल के प्रत्याख्यान। अर्थात् जिस साामायिक को उसने साधा है, उसे भविष्य में भी बनाये रखने के लिए संकल्पित होता है। उस सामायिक में बाधा उपस्थित करने वाले होते हैं–विषय–कषाय, कामना–वासना। उन विषय–कषाय कामना–वासना को काबू करने के लिए, न्यून करने के लिए या समाप्त करने के लिए नियम लेता है, प्रतिज्ञा करता है–यह प्रत्याख्यान है।

यह सम्यक् समझ पूर्वक किया जाता है तो सुप्रत्याख्यान है। अन्यथा लोक दिखावे हेतु, देखा–देखी, होड़ा–होड़ किया जाता है तो दुष्प्रत्याख्यान है। इससे आत्म हित सधने वाला नहीं है। प्रत्याख्यान के प्रमुख दो भेद है। (1) मूल गुण प्रत्याख्यान और उत्तर गुण प्रत्याख्यान–ऐसा भगवती सूत्र में कहा है। मूल गुण प्रत्याख्यान के दो भेद हैं। (1) सर्वमूल गुण प्रत्याख्यान (2) देशमूल गुण प्रत्याख्यान।

(1) सर्वमूल गुण में श्रमण के पाँच महाव्रत आते हैं और देशमूल गुण प्रत्याख्यान में श्रावक के पाँच अणुव्रत आते हैं। मूल गुण प्रत्याख्यान जीवन पर्यन्त के लिए होता है।

(2) उत्तरगुण प्रत्याख्यान के भी दो भेद है-(1) सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान (2) देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान। श्रावक के तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत-देश उत्तर गुण प्रत्याख्यान है। सर्व उत्तर गुण प्रत्याख्यान में अनागत आदि दस तरह के प्रत्याख्यान आते हैं। जो साधु व श्रावक दोनों के लिए समादरणीय, ग्रहणीय है। दस तरह के प्रत्याख्यान-(1) अनागत (2) अतिक्रांत (3) कोटि सहित (4) नियंत्रित (5) साकार (6) निराकार (7) परिमाण कृत (8) निरवशेष (9) सांकेतिक (10) अद्धा प्रत्याख्यान। (भगवती 7/2)

अद्धा प्रत्याख्यान के दस भेद-(1) नवकारसी (2) पौरुषी (3) पूर्वाद्ध (4) एकासन (5) एकस्थान (एकल ठाणा) (6) आचाम्ल (आयंबिल) (7) उपवास (8) दिवसचरिम (9) अभिग्रह (10) निर्विकृतिक (नींवी)। प्रत्याख्यान की शुद्धि के लिए ठाणांग सूत्र में पाँच व निर्युक्तिकार ने छह शुद्धियाँ बताई है-

(1) श्रद्धान शुद्धि-यानि शास्त्रोक्त प्रत्याख्यान पर श्रद्धान होना चाहिए।

(2) ज्ञान विशुद्धि-प्रत्याख्यान का स्वरूप समझकर प्रत्याख्यान करना।

(3) विनय विशुद्धि-विनय-वंदन पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना।

(4) अनुभाषण शुद्धि-गुरुदेव के समक्ष पाठों का सही उच्चारण करते हुए व्रत स्वीकार करना।

(5) अनुपालना शुद्धि-विपरीत परिस्थिति होने पर भी ठीक तरह से दृढ़ता से स्वीकृत व्रत की परिपालना करना।

(6) भाव विशुद्धि-पवित्र परिणामों से व्रत का परिपालन करना।

किसी भी प्रकार की भौतिक कामना के लिए प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के नवम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में कहा है-इस लोक, परलोक की कामना के लिए नहीं, न ही कीर्ति यश, श्लाघा आदि पाने के लिए तप करे, एकमात्र निर्जरा के लक्ष्य से, मुक्ति प्राप्ति हेतु ही तप करें।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में प्रत्याख्यान का सुंदर फल निरुपित किया-प्रत्याख्यान से साधक आस्रव द्वारों को बंद कर देता है, इच्छाओं का निरोध कर लेता है-सभी विषय-भोगों के प्रति विगत-तृष्णा वाला हो जाता है-इससे वह शांतचित्त होकर अध्यात्म में विचरण करता है। सत्य ही है भोग तो शांति का भक्षण ही करता है, त्याग ही शांति का रक्षण करता है। कहा भी है-'देहस्य सारं व्रत धारणं च। इस मानव देह का अगर कोई सार है, तो वह व्रतों को धारण करना। व्रत रूप गुणों को धारण कराने वाला होने से अनुयोग द्वारा सूत्र में इस प्रत्याख्यान का अपर नाम गुण धारण बताया है।

कई लोग कहते हैं कि नियम लेकर तोड़ने की अपेक्षा नियम नहीं लेना अच्छा है। नियम तोड़ने में ज्यादा पाप है। ऐसी उनकी धारणा है। पर जरा विचार करके देखें। नियम नहीं लेने वाला पूर्ण रूप से अव्रत में

रहता है और अव्रत में रहना पाप है। जबकि जिसने नियम लिया है-उसके कदाचित् व्रत में कोई अतिचार लग भी गया तो वह प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर लेगा। एक दोहे में इस का सुंदर समाधान दिया है-

चढ़ेगा वह गिरेगा, क्या गिरेगी पिसनहारी।
साधु श्रावक के दोष लगे तो, प्रायश्चित्त ले लगा दे कारी।।

एक ठाकुर साहब घोड़े की सवारी कर रहे थे, अचानक घोड़े से नीचे गिर पड़े। इस दृश्य को घट्टी पीसने वाली एक बुढ़िया ने देखा। वह बुढ़िया हँसकर कहने लगी मैं तो कभी गिरती ही नहीं हूँ। इसके जवाब में कहा कि घोड़े की सवारी का आनन्द ले रहा हूँ, प्रमादवश नीचे गिर भी गया तो क्या, वापस घोड़े पर बैठ जाऊँगा। तू घोड़े पर बैठी ही नहीं तो गिरेगी भी कहाँ से। (कदाचित् घट्टी पीसते हुए नींद का झोंका आ जाए तो घट्टी के हत्थे पर सिर लग सकता है।) दूसरा दृष्टांत यह दिया कि वस्त्र पहनने वाले का वस्त्र कभी फट भी जााय तो वह उसके 'कारी' (थिग्गल, पेबंद) लगाकर उसे वापस पहन सकता है। व्रत नहीं लेने वाला तो वस्त्र नहीं पहनने के समान ही है। प्राण जाय पर प्रण न जाय। यह कथन अपेक्षा से ठीक है पर एकांत उचित नहीं है। जिनशासन अनेकांत के सिद्धांत वाला है। जिनशासन में जहाँ व्रत में अड़िगता की बात कही है तो पोरसी उपवास आदि प्रत्याख्यानों में अनेक आगारों के साथ 'सव्वसमाहि वत्तिया गारेणं' (सर्व समाधि प्रत्ययाकार) नाम का एक आगार आता है।

साधक समाधि पूर्वक साधना करता है और साधना का ध्येय भी समाधि की वृद्धि ही है। परंतु कभी कोई आकस्मिक विसूचिका, शूल आदि व्याधि-उस समाधि में बाधक बने तो साधक इस 'सव्वसमाहि वत्तियागारेणं' आगार का प्रयोग करता है। (हालांकि इससे उसका व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि उसने पहले से ही इन आगारों के साथ व्रत ग्रहण किया है) क्योंकि जो व्रत निर्जरा का हेतु था, उसमें अगर आर्त्त-ध्यान, रौद्र-ध्यान आता है तो यह कर्मबंध का कारण भी बन सकता है। ऐसे क्लिष्ट परिणामों में आयुष्य पूरा हो जाय तो दुर्गति भी हो सकती है। ''जं लेस्सं मरई तं लेस्सं उववज्जई।'' हाँ उसकी प्रसन्नता के साथ दृढ़ता रहती है और उसमें काल कर जाय तो सद्गति का ही कारण है। दूसरी बात है-जीवन को महत्त्व देना या तप को? अपनी जगह दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। पर तप के समय असमाधि उत्पन्न हो गई कोई विशिष्ट रोग अचानक आ धमका है-उन लक्षणों में व्यक्ति पारणक कर लेता है। जीवन है तो पुन: तप आदि की आराधना करेगा। इस आगार का दुरुपयोग ना हो इसलिये सामान्य रूप से प्राथमिक दृढ़ता रखने की बात कही जाती है। अतिगाढ़ परिस्थिति में, विशिष्ट कारणों में ही यह आगार काम में लिया जाता है। इस आगार का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। किसी अनुभवी के परामर्श से ही इसका प्रयोग हो अन्यथा दृढ़ता ही श्रेयस्कर है।

दशवैकालिक सूत्र में भगवान ने कहा–'बलं थामं च पेहाए 8/35', अपने बल व सामर्थ्य को देखकर ही साधक अपने आपको तप आदि अनुष्ठानों में योजित करे। त्याग से ही शांति है। जितना त्याग, उतनी शांति। त्याग साधक के जीवन को मर्यादित बनाता है। जो कायदे में है वही फायदे में है। त्यागी का मन सधा हुआ रहता है, जिसका मन सधा–उसका जीवन सधा। त्याग से मनोनिग्रह होता है। त्याग से संकल्पशक्ति का विकास होता है, आत्मबल बढ़ता है। त्याग ही धर्म है। जो पराया है उसी का त्याग होता है। कहा है अपना तो–

''एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसण संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा।।''

ज्ञान दर्शन गुणों से युक्त शाश्वत आत्मा हूँ। शेष सभी बाह्य भाव हैं, संयोग लक्षण वाले हैं। जो पर है, उसे त्यागते जाओ, जो बचेगा वह स्वभाव होगा और वही धर्म है। किसी अनुभवी महात्मा से किसी ने पूछा आपने साधना करते हुए क्या पाया? वे बोले–''मैंने कुछ पाया नहीं खोया ही खोया है।'' जिज्ञासु बोला–''कैसे?'' महात्मा का जवाब था–''पाने योग्य तो भीतर है। जो बाह्य था, विभाव था, विकार था, उसे समाप्त कर दिया, खो दिया तो आनन्दमय निज भाव मिल गया।'' अत: सभी साधक त्याग की वृत्ति और प्रवृत्ति वाले बनें।

उपसंहार–छह आवश्यकों का सामान्य रूप से यह कथन हुआ। कहने या लिखने को कितना ही हो सकता है। इन छह आवश्यकों का समाचरण हमारे जीवन में सम्यक् प्रकार से हो और हम भी धन्य–धन्य बने, कृतकृत्य बने। श्रमण–श्रमणी वर्ग तो उभयकाल प्रतिक्रमण का आनन्द लेते ही हैं। वे तो सूर्योदय से पूर्व ही स्वाध्याय व प्रतिक्रमण से अपनी दिनचर्या की शुरुआत करते हैं। आध्यात्मिक लाभ के साथ शारीरिक व मानसिक लाभ सहज हो जाते हैं। विधि सहित, भाव सहित प्रतिक्रमण तन–मन को स्फुरित करने वाला है। इन छह आवश्यकों में स्व–दोष दर्शन, प्रभु भक्ति, गुरु भक्ति, निज–दोष की ग्लानि, कायिक–ममत्व का त्याग व संकल्प शक्ति को विकसित करने का सुंदरतम गुंफन है। इसीलिये ज्ञानियों ने प्रत्येक आत्मार्थी साधक के लिए आवश्यक बताया है। इस अरिहंत भगवंतों की आज्ञा को उभयकाल आराधन कर हर साधक भव पार करें। श्रमण–श्रमणी वर्ग की भाँति श्रावक–श्राविका वर्ग भी उभयकाल आवश्यक करने के अभ्यासी बनें। इससे स्वयं का जीवन तो सुंदर संस्कारित बनेगा ही, पारिवारिक वातावरण में भी समरसता पैदा होगी। सामाजिक स्तर भी ऊँचा उठेगा। जब अन्य धर्म वाले संध्या कर सकते हैं, नमाज पढ़ सकते हैं तो हमें तो सर्वज्ञ भगवान का इतना ऊँचा जिनशासन प्राप्त हुआ, हमें तो उनकी आज्ञा की आराधना करनी ही चाहिए। यह आज्ञा की आराधना हमारे आनन्द–वर्धन के लिए ही है।

जिस तरह से पर्युषणों के दिन में और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में आबाल वृद्धों का प्रतिक्रमण करने का

उत्साह देखने को मिलता है। वैसा उत्साह चातुर्मासिक पर्व, पाक्षिक पर्व में भी बनना चाहिए। दैवसिक, रात्रिक प्रतिक्रमण करने वाले भी अपने जीवन की व धर्मस्थान की शोभा बढ़ावें।

प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपनी संतान को सुंदर संस्कार देकर प्रतिक्रमण अवश्य याद करावें। ताकि इस भौतिक चकाचौंध में, बाह्य विषमता के वातावरण में उनका जीवन सुरक्षित रह सके। आज के बच्चे अधिक बौद्धिक, तार्किक क्षमता वाले हैं उन्हें अर्थ, भावार्थ सहित प्रतिक्रमण कंठस्थ करावें।

इस तरह प्रत्येक आत्मा द्रव्य और भाव आवश्यक (प्रतिक्रमण) के आराधक बनकर अनंत आनंद के अधिकारी बनें। इन्हीं मंगल भावनाओं के साथ......।

(आचार्य भगवंत श्री हीराचन्द्रजी म.सा. के प्रवचनों एवं विचारों के आधार पर)

❑❑❑

शास्त्र पढ़ने की विधि

ज्ञान-वृद्धि के लिये छद्मस्थ आचार्यों के ग्रन्थ और वीतराग प्रणीत शास्त्रों के पठन-पाठन की विधि में बहुत अन्तर है। ग्रन्थों के पठन-पाठन में काल-अकाल और स्वाध्याय-अस्वाध्याय कृत प्रतिबन्ध खास नहीं होता, जबकि शास्त्रवाणी जिसको आगम भी कहते हैं, के पठन-पाठन में काल-अकाल का ध्यान रखना आवश्यक है। वीतराग प्रणीत शास्त्र में जो कालिक शास्त्र हैं, वे दिन-रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही नियमानुसार शरीर और आकाश सम्बन्धी अस्वाध्यायों को छोड़कर पढ़े जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपांग, कुछ मूल और कुछ छेद आदि उत्कालिक कहे जाते हैं, वे दिन-रात्रि के चारों प्रहर में पढ़े जा सकते हैं।

स्वाध्याय करने वाले धर्म प्रेमी भाई-बहिनों को सर्वप्रथम गुरु महाराज की आज्ञा लेकर अक्षर, पद और मात्रा का ध्यान रखते हुए शुद्ध उच्चारण से स्वाध्याय करना चाहिये। आगम शास्त्र अंग, उपांग, मूल और छेद रूप से अनेक रूपों में विभक्त हैं, उन सबमें मुख्य रूप से कालिक और उत्कालिक के विभाग में सबका समावेश हो जाता है। स्वाध्याय करते समय स्वाध्यायी को ये बातें ध्यान में रखना आवश्यक है कि यह स्थान और समय स्वाध्याय के योग्य है या नहीं ? अत: ज्ञान के निम्न चौदह अतिचारों का ध्यान रखकर स्वाध्याय करने से ज्ञानाचार की आराधना होती है-

(1) सूत्र के अक्षर उलट-पलट कर पढ़ना। (2) एक शास्त्र के पद को दूसरे शास्त्र के पद से मिलाकर पढ़ना। (3) सूत्र-पाठ में अक्षर कम करना। (4) सूत्र पाठ में अधिक अक्षर बोलना। (5) पदहीन करना। (6) बिना विनय के पढ़ना। (7) योग-हीन-मन, वचन और काया के योगों की चपलता से पढ़ना। (8) घोषहीन-जिस अक्षर का जिस घोष से उच्चारण करना हो, उसका ध्यान नहीं रखना। (9) पढ़ने वाले पात्र का ध्यान न रखकर अयोग्य को पाठ देना। (10) आगम पाठ को अविधि से ग्रहण करना। (11) अकाल-जिस सूत्र का जो काल हो, उसका ध्यान न रखकर अकाल में स्वाध्याय करना। (12) कालिक-शास्त्र पठन के काल में स्वाध्याय नहीं करना। (13) अस्वाध्याय-अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय करना। (14) स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय नहीं करना।

अस्वाध्याय के प्रकार-

अस्वाध्याय का अर्थ यहाँ पर स्वाध्याय का निषेध नहीं, किन्तु जिस क्षेत्र और काल में स्वाध्याय का वर्जन किया जाता है, वह अपेक्षित है, इस दृष्टि से अस्वाध्याय मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है। (1) आत्म समुत्थ (2) पर समुत्थ। अपने शरीर में रक्त आदि से अस्वाध्याय का कारण होता है। अत: उसे आत्म समुत्थ कहा है। स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति आदि में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है। वहाँ पर दस औदारिक शरीर की, दस आकाश सम्बन्धी, पाँच पूर्णिमा तथा पाँच महाप्रतिपदा की और चार सन्ध्याएँ, कुल मिलाकर 34 अस्वाध्याय कही गई हैं, जो इस प्रकार हैं-

दस आकाश सम्बन्धी-

(1) **उल्कापात**-तारे का टूटना, उल्कापात में एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(2) **दिग्दाह**-दिशा में जलते हुए बड़े नगर की तरह ऊपर की ओर प्रकाश दिखता है और नीचे अन्धकार प्रतीत हो, उसे दिग्दाह कहते हैं। इसमें भी एक प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

(3) **गर्जित**–मेघ का गर्जन होने पर दो प्रहर का अस्वाध्याय।

(4) **असमय में गर्जन**–बिजली चमकना। आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक वर्षा–ऋतु में गर्जित और विद्युत की अस्वाध्याय नहीं होती है।

(5) **निर्घात**–मेघ के होने या न होने की स्थिति में कड़कने की आवाज हो तो अहोरात्रि का अस्वाध्याय माना जाता है।

(6) **यूपक**–शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया को चन्द्र प्रभ से सन्ध्या आवृत्त होने के कारण तीनों दिन प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय माना जाता है।

(7) **धूमिका**–कार्तिक से माघ मास तक मेघ का गर्भ जमता है, इस समय जो धूम वर्ण की सूक्ष्म जल रूप धूवर पड़ती है, वह धूमिका कहलाती है। जब तक धूमिका रहती है, तब तक स्वाध्याय का वर्जन करना चाहिये।

(8) **महिका**–शीतकाल में सफेद वर्ण की सूक्ष्म अपूकाय रूप धूवर गिरती है, उसे महिका कहते हैं। जब तक धूवर गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(9) **यक्षादीप्त**–कभी–कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा रह–रह कर प्रकाश होता हो, उसे यक्षादीप्त कहते हैं। जब तक वह साफ दिखाई पड़े, तब तक अस्वाध्याय मानना चाहिये।

(10) **रजउद्घात**–वायु के कारण आकाश में चारों ओर जो धूल छा जाती है, उसे रजोद्घात कहते हैं। जब तक यह रहे, तब तक अस्वाध्याय मानना चाहिये।

दस औदारिक शरीर सम्बन्धी–

(11–13) तिर्यञ्च के हाड़, मांस और रक्त, साठ हाथ के अन्दर हों, तथा साठ हाथ के भीतर बिल्ली आदि ने चूहे को मारा हो तो, अहोरात्रि का अस्वाध्याय कहा गया है। यदि मनुष्य सम्बन्धी हाड़–मांस और रक्त आदि हो, तो सौ हाथ दूर तक अस्वाध्याय माना गया है। तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का साठ हाथ तक होता है। काल की अपेक्षा टीकाकारों ने एक अहोरात्रि का समय माना है, किन्तु वर्तमान में कलेवर हटाकर स्थान को धोकर साफ कर लेने के बाद अस्वाध्याय नहीं माना जाता है। बहिरंग के ऋतुधर्म का तीन दिन और बालक–बालिका के जन्म का क्रमश: सात और आठ दिन का अस्वाध्याय माना जाता है।

(14) **अशुचि**–मल, मूत्र और गटर आदि स्वाध्याय–स्थल के पास हो अथवा मलादि दृष्टिगोचर हो, तो वहाँ स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(15) **श्मशान**–श्मशान के चारों ओर सौ–सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना गया है।

(16) **चन्द्रग्रहण**–चन्द्रग्रहण में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बारह प्रकार तक अस्वाध्याय माना गया है। आचार्यों ने यदि उदित चन्द्र ग्रसित हो, तो चार प्रहर रात के व चार प्रहर दिन के अस्वाध्याय मानने का निर्णय किया है।

(17) **सूर्यग्रहण**–सूर्यग्रहण का कम से कम आठ, बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर तक अस्वाध्याय माना गया है। यदि पूरा ग्रहण हो तो सोलह प्रहर का अस्वाध्याय माना जाता है।

(18) **पतन**–राजा के निधन, राजा या उत्तराधिकारी की मृत्यु होने पर जब तक दूसरा राजा सत्तारूढ़ न हो, तब तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(19) राजव्युद्ग्रह–राजाओं में परस्पर संग्राम होता रहे, जब तक शान्ति न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(20) औदारिक शरीर–उपाश्रय के निकट तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय का कलेवर पड़ा हो तो साठ हाथ तथा यदि मनुष्य का कलेवर हो तो सौ हाथ तक अस्वाध्याय माना जाता है।

(21–30) पाँच महापूर्णिमा–1. आषाढ़ी पूर्णिमा, 2. भादवा पूर्णिमा, 3. आश्विनी पूर्णिमा, 4. कार्तिक पूर्णिमा, 5. चैत्र की पूर्णिमा। **पाँच प्रतिपदा**–1. श्रावण कृष्णा प्रतिपदा, 2. आसोज कृष्णा प्रतिपदा, 3. कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा, 4. मगसर कृष्णा प्रतिपदा, 5. वैशाख कृष्णा प्रतिपदा। इन दिनों में इन्द्र महोत्सव होते थे। अत: इन दस दिनों में अस्वाध्याय माना गया है।

(31–34) चार संध्या–दिन एवं रात्रि में संध्याकाल अर्थात् प्रात:, सायं, मध्याह्न तथा मध्य–रात्रि में दो घड़ी अर्थात् एक मुहूर्त का अस्वाध्याय माना जाता है।

आगम तीन प्रकार के होते हैं–1. मूल पाठ को सुत्तागम, 2. अर्थ के पठन–पाठन को अर्थागम, 3. सूत्र बोलकर अर्थ पढ़ना तदुभयागम कहलाता है। अस्वाध्याय काल में सूत्र पढ़कर, अर्थ वाचना करने, कराने का निषेध समझना चाहिये। इस प्रकार अस्वाध्याय को छोड़कर, शुद्ध उच्चारण से शास्त्र का स्वाध्याय करना महती कर्म–निर्जरा का कारण होता है। अत: सुज्ञ पाठकों को प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिये।

■■■

विषयानुक्रमणिका

		प्रकाशकीय III
		प्राक्कथन V
		प्रस्तावना XXV
		शास्त्र पढ़ने की विधि XXXIII
	:	वंदण सुत्तं 1-2
	:	णमुक्कार मंतं 3-5
प्रथम अध्ययन	:	सामायिक 6-22
द्वितीय अध्ययन	:	चतुर्विंशतिस्तव 23-27
तृतीय अध्ययन	:	वंदना 28-33
चतुर्थ अध्ययन	:	प्रतिक्रमण 34-82
पंचम अध्ययन	:	कायोत्सर्ग 83-84
षष्ठ अध्ययन	:	प्रत्याख्यान 85-95
परिशिष्ट	:	परिशिष्ट-1 (श्रमण आवश्यक सूत्र की विधि) 96-130
	:	परिशिष्ट-2 (श्रावक आवश्यक सूत्र विधि) 131-152
	:	परिशिष्ट-3 (आवश्यक संबंधी विचरणा) 153-158
	:	परिशिष्ट-4 (प्रश्नोत्तर) 159-252
	:	परिशिष्ट-5 (संस्तार-पौरुषी सूत्र) 253-256

आवश्यक सूत्र

वंदण सुत्तं

(वन्दन सूत्र)

मूल– **तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।**

संस्कृत छाया– त्रि: कृत्वा आदक्षिणम् प्रदक्षिणं करोमि वन्दे नमस्यामि सत्करोमि सम्मानयामि कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यं पर्युपासे मस्तकेन वन्दे ।।

अन्वयार्थ–तिक्खुत्तो = तीन बार, **आयाहिणं** = दाहिनी ओर से, **पयाहिणं** = प्रदक्षिणा, **करेमि** = करता हूँ, **वंदामि** = स्तुति करता हूँ, **नमंसामि** = पंचांग नमाकर नमस्कार करता हूँ, **सक्कारेमि** = सत्कार करता हूँ, **सम्माणेमि** = सम्मान देता हूँ। (क्योंकि), **कल्लाणं** = आप कल्याण रूप हैं, **मंगलं** = आप मंगल रूप हैं, **देवयं** = आप धर्ममय देव रूप हैं, **चेइयं** = ज्ञानवान हैं (इसलिए), **पज्जुवासामि** = (मैं) आपकी उपासना करता हूँ, **मत्थएण** = मस्तक झुकाकर, **वंदामि** = वन्दन करता हूँ।

भावार्थ–हे गुरु महाराज! मैं अञ्जलिपुट को तीन बार अपने बायें (Left) हाथ की ओर से दाहिने (Right) हाथ की ओर घुमाकर प्रदक्षिणापूर्वक स्तुति करता हूँ, पाँच अंग झुकाकर वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सत्कार करता हूँ, (वस्त्र, अन्न आदि से) सम्मान करता हूँ, आप कल्याण-रूप हैं, मंगलस्वरूप हैं, आप देवतास्वरूप हैं, चैत्य अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं।

अत: हे गुरुदेव! मैं मन, वचन और काया से आपकी पर्युपासना-सेवा भक्ति करता हूँ तथा विनय-पूर्वक मस्तक झुकाकर आपके चरण-कमलों में वंदना करता हूँ।

विवेचन–'गुरु' शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार किया गया है–

गुशब्दस्त्वन्धकार: स्याद्, रुशब्दस्तन्निरोधक: ।
अन्धकारनिरोधित्वात्, गुरुरित्यभिधीयते ।।

'गु' शब्द अन्धकार का वाचक है 'रु' शब्द का अर्थ है–'रोकने वाला' आशय यह है कि जो अज्ञान रूपी अन्धकार को रोके, नष्ट करे उसको गुरु कहते हैं।

वंदामि–वचन से स्तुति करना।

नमंसामि–उपास्य महापुरुष को भगवत्स्वरूप समझकर अपने मस्तक को झुकाना अर्थात् काया से नमस्कार करना।

सक्कारेमि–मन से आदर करना।

सम्माणेमि–जब कभी अवसर मिले दर्शन कर पर्युपासना करना।

कल्लाणं–'कल्ये प्रात:काले अण्यते भण्यते इति कल्याणम्।' अमरकोष 1/4/25 'कल्य' का अर्थ प्रात:काल है और 'अण' का अर्थ है बोलना। अत: अर्थ हुआ प्रात: स्मरणीय। आचार्य हेमचन्द्र अर्थ करते हैं 'कल्य–नीरुजत्वमणतीति' अर्थात् कल्य का अर्थ है नीरोगता–स्वस्थता। जो मनुष्य को नीरोगता प्रदान करता है वह कल्याण है। 'कल्योऽत्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमाणयति प्रापयतीति कल्याण: मुक्ति हेतु:' यहाँ कल्य का अर्थ है मोक्ष (कर्म रोग से मुक्त स्वस्थ) जो कल्य–मोक्ष प्राप्त करावे वह कल्याण है।

मंगलं–'मंगतिहितार्थं सर्पति इति मंगलं' जो सब प्राणियों के हित के लिए प्रयत्नशील होता है, वह मंगल है। 'मंगति दूरं दुष्टमनेन अस्माद् वा इति मंगलं' अर्थात् जिसके द्वारा दुर्देव–दुर्भाग्य आदि सब संकट दूर हो जाते हैं वह मंगल है। अभिधान राजेन्द्र कोष में मंगलं शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है–'मंगं हितं लाति ददाति इति मंगलं' अर्थात् जो सब प्राणियों का हित करे अथवा जीव को संसार समुद्र से पार कर दे उसे मंगल कहते हैं।

देवयं–दैवत का अर्थ देवता है अर्थात्–'दीव्यन्ते स्वरुपे इति देवा' जो अपने स्वरूप में चमकते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में रमण करते हैं। वे देव हैं।

चेइयं–चैत्य शब्द अनेकार्थक हैं अत: प्रसंगानुसार अर्थ किया जाता है। 'चितीसंज्ञाने' धातु से चैत्य शब्द बनता है, जिसका अर्थ ज्ञान है। 'चित्ताह्लादकत्वाद् वा चैत्या' (ठाणांग वृत्ति 4/2) जिसके देखने से चित्त में आह्लाद उत्पन्न हो वह चैत्य होता है। यह अर्थ भी प्रसंगानुकूल है। गुरुदेव के दर्शन में सभी के हृदय में आह्लाद उत्पन्न होता है। राजप्रश्नीय सूत्र की मलयगिरि कृत टीका में चैत्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है–'चैत्यं सुप्रशस्तमनो–हेतुत्वाद्' मन को सुप्रशस्त, सुन्दर, शान्त एवं पवित्र बनाने वाले। वास्तव में गुरुदेव ही जगत के सब जीवों के कषाय–कलुषित अप्रशस्त मन को प्रशस्त, सुन्दर, स्वच्छ, निर्मल बनाने वाले होते हैं। इसलिए वे चैत्य कहलाते हैं। **पूज्य श्री जयमलजी म.सा. ने 'चेइयं' शब्द के 112 अर्थ लिखे हैं। जो कि आगम प्रकाशन समिति ब्यावर द्वारा प्रकाशित औपपातिक सूत्र में हैं।**

❑❑❑

णमुक्कार मंतं

(नमस्कार मंत्र)

मूल– **णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।**
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व–साहूणं।। (आर्या छन्द)
एसो पंच–णमुक्कारो, सव्व–पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।। (अनुष्टुप छन्द)

संस्कृत छाया– नम: अरिहद्भ्य:, नम: सिद्धेभ्य:, नम: आचार्येभ्य:, नम उपाध्यायेभ्य:, नमो लोके सर्वसाधुभ्य: ।।

एष पञ्चनमस्कार:, सर्वपापप्रणाशन:। मङ्गलानां च सर्वेषां, प्रथमं भवति मङ्गलम्।।

अन्वयार्थ–णमो अरिहंताणं = अरिहंतों को नमस्कार हो, **णमो सिद्धाणं** = सिद्धों को नमस्कार हो, **णमो आयरियाणं** = आचार्यों को नमस्कार हो, **णमो उवज्झायाणं** = उपाध्यायों को नमस्कार हो, **णमो लोए सव्वसाहूणं** = लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो, **एसो** = यह, **पंच णमुक्कारो** = पाँच अर्थात् पाँचों पदों को किया गया नमस्कार, **सव्व = पावप्पणासणो** = सब पापों का नाश करने वाला है, **मंगलाणं च सव्वेसिं** = और सभी मंगलों में, **पढमं हवइ मंगलं** = प्रथम (प्रधान–सर्वोत्कृष्ट–सर्वोत्तम) मंगल है।

भावार्थ–अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, मानव–लोक में विद्यमान समस्त साधुओं को नमस्कार हो।

उपर्युक्त पाँच परमेष्ठी–महान् आत्माओं को किया हुआ यह नमस्कार सब प्रकार के पापों को पूर्णतया नाश करने वाला है और विश्व के सब मंगलों में प्रथम मंगल है।

विवेचन–जैन परम्परा में नमस्कार मंत्र का बड़ा ही गौरवपूर्ण स्थान है। जो मनन (चिन्तन) करने से दु:खों से रक्षा करता है वह **मंत्र** होता है। **नम:** शब्द का अर्थ **मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वतोऽहमपकृष्ट: एतद् द्वयबोधानुकूल व्यापारो हि नम: शब्दार्थ:।** अर्थात् मुझसे आप उत्कृष्ट हैं, गुणों में बड़े हैं और मैं आपसे

अपकृष्ट हूँ, गुणों में हीन हूँ। यहाँ हीनता और महत्ता का सम्बन्ध वैसा ही पवित्र एवं गुणधायक है, जैसा कि पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य का होता है। अर्थात् प्रमोद भावना से उपासक, उपास्य (अपने से गुणी) के प्रति भक्ति का प्रदर्शन करता है। इसका दूसरा नाम नवकार मंत्र भी है। इसमें 68 अक्षर हैं, पाँच पद के 108 गुण हैं। इसमें अरिहंत व सिद्ध देव हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु ये तीन गुरु हैं।

पंच परमेष्ठी का नमन आत्मा को कलिमल से दूर कर पवित्र करता है। इतिहास साक्षी है कि इस महान् मंत्र के स्मरण से सेठ सुदर्शन की शूली का सिंहासन बन गया, भयंकर विषधर सर्प पुष्पमाला में परिणत हो गया। वस्तुतः नवकार मंत्र इहलोक एवं परलोक सर्वत्र समस्त सुखों का मूल है।

नवकार मंत्र विश्व के समस्त मंगलों में सर्वश्रेष्ठ है। यह द्रव्य मंगल नहीं वरन् भाव मंगल है। दधि, अक्षत, गुड़ आदि द्रव्य मंगल कभी अमंगल भी बन सकते हैं, पर नवकार मंत्र कभी अमंगल नहीं हो सकता। यह परमोत्कृष्ट मंगल, शान्ति प्रदाता, कल्याणकारी एवं भक्तिरस में आप्लावित करने वाला है।

नवकार मंत्र यह प्रमाणित करता है कि जैन धर्म सम्प्रदायवाद व जातिवाद से परे होकर सर्वथा गुणवादी धर्म है। अतः इस आराध्य मंत्र में अरिहंत और सिद्ध शब्दों का प्रयोग है; ऋषभ, शांति, पार्श्व या महावीर जैसे किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। जैसा कि अन्यत्र मिलता है। जो भी महान् आत्मा कर्म शत्रुओं को पराजित व विनष्ट कर इन उत्कृष्ट पदों को प्राप्त कर ले, वही अरिहंत और सिद्ध अर्थात् हमारे परम पूजनीय महामहिम देव हैं। इसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय व साधु का उल्लेख करते हुए भी किसी व्यक्ति विशेष या सम्प्रदाय विशेष के नाम का वर्णन नहीं है वरन् जो भी महापुरुष इन पदों के लिए आवश्यक गुणों से युक्त हों, वे देव और गुरु पद के योग्य एवं वंदनीय हैं।

अरिहंत–अरिहंत में दो शब्द हैं–अरि + हंत। 'अरि' का अर्थ है हानि करने वाला शत्रु तथा 'हंत' का अर्थ है नष्ट करने वाला। आत्मा के असली शत्रु मानव नहीं, कोई प्राणी नहीं किन्तु अपने वे विकार हैं जो आत्मगुणों को क्षति पहुँचाते हैं। जो काम क्रोधादि विकार आत्म गुणों की हानि करते हैं, वे ही वस्तुतः आत्मा के शत्रु हैं। जो कैवल्य प्राप्ति में बाधक इन घनघाती कर्मों को नष्ट कर देते हैं, वे ही क्रोधादि शत्रुओं को परास्त करने वाले महापुरुष अरिहंत हैं। 1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. मोहनीय व 4. अन्तराय। इनका क्षय होने से केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अक्षय गुणों की प्राप्ति हो जाती है।

सिद्ध–जिन महान् आत्माओं ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है वे ही सिद्ध हैं। आत्मा पर जो कर्म का मल लगा हुआ है और जो अपने असली स्वरूप को पहिचानने में बाधक हैं उनको दूरकर आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्राप्त करना ही आत्मा का स्वकार्य है। अष्ट कर्मों का नाश कर आत्मिक गुणों की प्राप्ति कर ली है। आत्मा का असली स्वरूप अरूपी, अविनाशी, अजर, अमर, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्द रूप है। वैसे स्वरूप की प्राप्ति करने वाले ही सिद्ध हैं।

आचार्य–आचार्य का तात्पर्य है वे महापुरुष जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हैं और शिष्यों से करवाते हैं। आचार्य सूत्र और अर्थ के ज्ञाता, गच्छ के नायक, गच्छ के लिए आधारभूत, उत्तम लक्षणों वाले समस्त श्रमण वर्ग के अग्रगण्य नेता होते हैं। उनकी आज्ञा से ही संघ का व्यवहार चलता है।

उपाध्याय–उपाध्याय श्रमण वर्ग के शैक्षणिक कार्यों के संचालक होते हैं। सूत्र व्याख्या के क्षेत्र में उपाध्याय का मत अधिकारी मत माना जाता है। उपाध्याय का कार्य स्वयं विमल ज्ञानादि प्राप्त करना तथा अन्य जिज्ञासुओं को द्वादशांगी वाणी का ज्ञान देकर उन्हें मिथ्यात्व से सम्यक्त्व में स्थिर करना है।

साधु–जो महापुरुष अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को तीन करण तीन योग से पालन करते हैं और श्रमणोचित गुणों से युक्त होते हैं, वे साधनाशील ही साधु कहलाते हैं। जो पाँच समिति, तीन गुप्ति का विधिवत पालन करते हुए मोक्ष मार्ग की राह में आगे बढ़ते रहते हैं, वे साधु हैं।

❑❑❑

प्रथम अध्ययन

सामायिक

सामायिक अर्थात् आत्मस्वरूप में रमण करना, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में तल्लीन होना। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्षामार्ग है। मोक्षमार्ग में सामायिक मुख्य है, यह बताने के लिए ही सामायिक अध्ययन को सबसे प्रथम रखा गया है।

भगवती सूत्र शतक 1 उद्देशक 9 में फरमाया है कि-'**आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे**' अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिदानंद स्वरूप आत्मतत्व की प्राप्ति करना ही सामायिक का प्रयोजन है। 'मेरा स्वरूप कैसा है?' आदि विचारों में तल्लीन होना, आत्म-गवेषणा करना सामायिक है।

अनुयोगद्वार सूत्र में सामायिक व्रत क्या है? इसकी परिभाषा बताते हुए कहा है-

''**जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।**
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं।।''

अर्थात् जो त्रस और स्थावर सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवलज्ञानियों ने फरमाया है।

सामायिक के आध्यात्मिक फल के विषय में उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29 में गौतमस्वामी प्रभु महावीरस्वामी से पूछते हैं कि-''**सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**''

अर्थात् हे भगवन्! सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है?

भगवान ने फरमाया-''**सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।**''

सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होने पर आत्मा पूर्ण विशुद्ध और निर्मल बन जाती है यानी मोक्ष पद को प्राप्त कर लेती है।

सामायिक की साधना उत्कृष्ट है। सामायिक के बिना आत्मा का पूर्ण विकास असंभव है। सभी धार्मिक साधनाओं के मूल में सामायिक रहा हुआ है। जैन संस्कृति समता प्रधान है। समता भाव की दृष्टि से ही सामायिक अध्ययन को प्रथम स्थान प्राप्त है।

सामायिक आवश्यक

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। वह जैन आचार का सार है। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए आवश्यक है। जितने भी साधक हैं वे जब साधना का मार्ग स्वीकार करते हैं तो सर्वप्रथम

सामायिक चारित्र को ग्रहण करते हैं। चारित्र के पाँच प्रकार हैं। उनमें सामायिक चारित्र प्रथम है। सामायिक चारित्र चौबीस ही तीर्थङ्करों के शासन काल में रहा है, पर अन्य चार चारित्र अवस्थित नहीं हैं श्रमणों के लिए सामायिक प्रथम चारित्र हैं, तो गृहस्थ साधकों के लिए सामायिक चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। जैन आचारदर्शन का भव्य प्रासाद सामायिक की सुदृढ़ नींव पर आधृत है। समत्ववृत्ति की साधना किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष की धरोहर नहीं है। वह सभी साधकों के लिए है और जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन है। आचार्य हरिभद्र ने तो स्पष्ट रूप से कहा है कि साधक चाहे श्वेताम्बर हो, चाहे दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी मत का हो, जो भी समभाव में स्थित होगा वह नि:संदेह मोक्ष को प्राप्त करेगा। एक व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण मुद्राओं का उदारतापूर्वक दान करता है, दूसरा व्यक्ति समत्वयोग की साधना करता है, इन दोनों में महान् कौन है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए तत्त्वदर्शी मनीषियों ने कहा-जो समत्वयोग-सामायिक की साधना करता है, वह महान् है। करोड़ों वर्षों तक तपश्चरण की निरन्तर साधना करने वाला जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर पाता, उनको समभावी साधक कुछ ही क्षणों में नष्ट कर लेता है। कोई भी साधक बिना समभाव के मुक्त नहीं हुआ है और न होगा ही। अतीत काल में जो साधक मुक्त हुए हैं, वर्तमान में जो मुक्त हो रहे हैं तथा भविष्य में जिन्हें मुक्त होना हैं, उनके मुक्त होने का आधार सामायिक था/है/रहेगा।

सामायिक एक विशुद्ध साधना है। सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की तरह एकदम शान्त रहती है, इसलिये वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करता आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, उनकी वह निर्जरा कर लेता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामायिक की विशुद्ध साधना से तीव्र घातिकर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

1. **सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।**
   समभावियप्पा लहेइ मुक्खं न संदेहो।। **-हरिभद्र**
2. **दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।**
   एगो पुण सामाइयं , करेइ न पहुप्पए तस्स।।
3. **तिव्वतवं तवमाणो जं न वि निवट्टइ उ जम्मकोडीहिं।**
   तं समभाविअचित्तो, खवेइ कम्मं खणद्धण।।
4. **सामायिक-विशुद्धात्मा सर्वथा घातिकर्मण:।**
   क्षयात्केवलमाप्नोति लोकालोकप्रकाशकम्।। **-हरिभद्र अष्टक-प्रकरण, 30-1**

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थ सिद्धि में सामायिक की परिभाषा करते हुए लिखा है-सम उपसर्ग पूर्वक गति अर्थ वाली 'इण' धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। सम्-एकीभाव, अय गमन अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुन: मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना समय है, समय का भाव सामायिक है। आचार्य मलयगिरि ने लिखा है-राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम हैं। मध्यस्थ भावयुक्त साधक की

मोक्ष के अभिमुख जो प्रस्तुति है, वह सामायिक है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने भी विशेषाश्यकभाष्य में यही परिभाषा स्वीकार की है। आवश्यकसूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और हारिभद्रीया वृत्ति, मलयगिरिवृत्ति आदि में सामायिक के विविध दृष्टियों से विभिन्न अर्थ किये हैं। सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना सम है और सम का लाभ जिससे हो, वह सामायिक हैं। पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करना ही सावद्ययोग परित्याग कहलाता है। अहिंसा, समता प्रभृति सद्गुणों का आचरण निरवद्ययोग हैं। सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' कहलाता है। जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है। 'सम' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है और 'अयन' का अर्थ आचरण है। अर्थात् श्रेष्ठ आचरण का नाम सामायिक है।

सामायिक की विभिन्न व्युत्पत्तियों पर चिन्तन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन सभी में समता पर बल दिया गया है। राग-द्वेष के विविध प्रसंग समुपस्थित होने पर आत्म स्वभाव में सम रहना, वस्तुतः सामायिक है। समता से तात्पर्य है-मन की स्थिरता, राग-द्वेष का उपशमन और सुख-दुःख में निश्चल रहना, समभाव में उपस्थित होना। कर्मों के निमित्त से राग-द्वेष के विषमभाव समुत्पन्न होते हैं। उन विषम भावों से अपने आपको हटाकर स्व-स्वरूप में रमण करना, समता है। समता को ही गीता में योग कहा है।

मन, वचन और काय की दुष्ट वृत्तियों को रोककर अपने निश्चित लक्ष्य की ओर ध्यान को केन्द्रित कर देना सामायिक है। सामायिक करने वाला साधक मन, वचन और काय को वश में कर लेता है। विषय, कषाय और राग-द्वेष से अलग-थलग रहकर वह सदा ही समभाव में स्थित रहता है। विरोधी को देखकर उसके अन्तर्मानस में क्रोध की ज्वाला नहीं भड़कती और न ही हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता है, जिससे विषमता की ज्वालाएँ उसकी साधना को नष्ट नहीं कर पातीं। उसे न निन्दा के मच्छर डँसते हैं और न ईर्ष्या के बिच्छू ही डंक मारते हैं। चाहे अनुकूल परिस्थिति हो चाहे प्रतिकूल, चाहे सुख के सुमन खिल रहे हों, चाहे दुःख के नुकीले काँटे बींध रहे हों, पर वह सदा समभाव से रहता है। उसका चिन्तन सदा जाग्रत रहता है। वह सोचता है कि संयोग और वियोग-ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं है। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय के फल हैं। परकीय पदार्थों के संयोग और वियोग से आत्मा का न हित हो सकता है और न ही अहित इसलिए वह सतत् समभाव में रहता है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा-जो साधक त्रस और स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है, उसकी सामायिक शुद्ध होती है। जिसकी आत्मा समभाव में, तप में, नियम में संलग्न रहती है, उसी की सामायिक शुद्ध होती है।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है-जैसे चन्दन, काटने वाली कुल्हाड़ी को भी सुगन्धित बना देता है, वैसे ही विरोधी के प्रति भी जो समभाव की सुगन्ध फैलाता है, उसी की सामायिक शुद्ध है।

समता के द्वारा साधक आत्मशक्तियों को केन्द्रित करके अपनी महान् ऊर्जा को प्रकट करता है। मानव अनेक कामनाओं के भँवरजाल में उलझा रहता है, जिससे उसका व्यक्तित्व क्षत-विक्षत हो जाता है।

द्वंद्व और तनाव का वातावरण बना रहता है। बर्बरता, पशुता, संकीर्णता व राग-द्वेष के विकार जन्तु पनपते रहते हैं। जब मानव समता से विचलित हुआ तब प्रकृति में विकृति, व्यक्ति में तनाव, समाज में विषमता, वातावरण में हिंसा के तत्त्व उभरे हैं। उन सभी को रोकने के लिए, सन्तुलन और व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामायिक की आवश्यकता है। सामायिक समता का लहराता हुआ निर्मल सागर है। जो साधक उसमें अवगाहन कर लेता है, वह राग-द्वेष के कर्दम से मुक्त हो जाता है।

सामायिक की साधना बहुत ही उत्कृष्ट साधना है। अन्य जितनी भी साधनाएँ हैं, वे सभी साधनाएँ इसमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थपिण्ड कहा है। उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनवाणी का साररूप बताया है। रंग-बिरंगे खिले हुए पुष्पों का सार गंध है यदि पुष्प में गंध नहीं है, केवल रूप ही है तो वह केवल दर्शकों के नेत्रों को तृप्त कर सकता है, किन्तु दिल और दिमाग को ताजगी प्रदान नहीं कर सकता। दूध का सार घृत है। जिस दूध में घृत नहीं हैं, वह केवल नाममात्र का ही दूध है। घृत से ही दूध में पौष्टिकता रहती है। वह शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार तिल का सार तेल है। यदि तिलों में से तेल निकल जाए, इक्षु खण्ड में से रस निकल जाए, धान में से चावल निकल जाए तो निस्सार बन जाता है। वैसे ही साधना में से समभाव यानी सामायिक निकल जाये तो वह साधना भी निस्सार है। केवल नाम मात्र की साधना है। समता के अभाव में उपासना उपहास है। साधक मायाजाल के चंगुल में फँस जाता है। दूसरों की उन्नति को निहार कर उसके अन्तर्मानस में ईर्ष्या की अग्नि सुलगने लगती है, वैर विरोध के जहरीले कीटाणु कुलबुलाने लगते हैं। इसीलिये सामायिक की आवश्यकता पर बल दिया गया है।

तात्पर्य यह है कि जब आत्मा पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है, तब सामायिक होती है। आत्मा का काषायिक विकारों से अलग होकर स्वस्वरूप में रमण करना ही सामायिक है और वही आत्म परिणति है। सामायिक में साधक बाह्य दृष्टि का परित्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाता है, विषमभाव का परित्याग कर समभाव में अवस्थित रहता है, पर पदार्थों से ममत्व हटाकर निजभाव में स्थित होता है। जैसे अनन्त आकाश विश्व के चराचर प्राणियों के लिए आधारभूत है, वैसे ही सामायिक साधना आध्यात्मिक साधना के लिए आधारभूत है।

सामायिक के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए विविध दृष्टियों से सामायिक को प्रतिपादित किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव आदि से उसका स्वरूप प्रतिपादित है। सामायिक करने वाला साधक साधना में इतना स्थिर होता है कि चाहे शुभ नाम हो चाहे अशुभ नाम हो उस नाम का उस साधक के अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं होता । वह सोचता है कि आत्मा अनामी है, आत्मा का कोई नाम नहीं है, नाम

प्रस्तुत शरीर का है, यह शरीर नाम कर्म की रचना है। इसलिए मैं व्यर्थ ही क्यों संकल्प विकल्प करूँ। सामायिक का साधक चित्ताकर्षक वस्तु को निहारकर आह्लादित नहीं होता तो घिनौने रूप को देखकर घृणा भी नहीं करता। वह तो सोचता है कि आत्मा रूपातीत है। सुरूपता और कुरूपता तो पुद्गल परमाणुओं का परिणमन है, जो कभी शुभ होता है तो कभी अशुभ होता है। मैं पुद्गल तत्त्व से पृथक् हूँ। इस प्रकार वह चिन्तन कर समभाव में रहता है। यह स्थापना सामायिक है। सामायिक व्रतधारी साधक पदार्थों की सुन्दरता को देखकर मुग्ध नहीं होता और असुन्दरता को देखकर खिन्न नहीं होता । इसी तरह बहुमूल्य वस्तु को देखकर प्रसन्न नहीं होता औरअल्पमूल्य वाली वस्तु को देखकर खिन्न नहीं होता। वह चिन्तन करता है कि पदार्थों की सुन्दरता और असुन्दरता मानव की कल्पनामात्र है। एक ही वस्तु एक व्यक्ति को सुन्दर प्रतीत होती है तो दूसरे को वह सुन्दर प्रतीत नहीं होती। हीरे-पन्ने, माणक-मोती आदि जवाहरात में भी मानव ने मूल्य की कल्पना की है, अन्यथा तो वे अन्य पत्थरों की भाँति पत्थर ही हैं। ऐसा विचारकर साधक सभी भौतिक पदार्थों में समभाव रखता है। यह द्रव्य सामायिक है। ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप हो, पौष माह की भयंकर सनसनाती सर्दी हो, श्रावण, भाद्रपद की हजार हजार धारा के रूप में वर्षा हो अथवा रिमझिम रिमझिम बूंद गिर रही हो, चाहे अनुकूल समय हो, चाहे प्रतिकूल समय हो, सामायिक व्रतधारी साधक समभाव में विचरण करता है। शीत उष्ण आदि स्पर्श पुद्गल, पुद्गल को ही प्रभावित करते है। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ, आत्मा पर स्पर्श का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे इन वैभाविक स्थितियों से दूर रहकर आत्मभाव में स्थित रहना है यह काल सामायिक है।

सामायिक साधक के लिए चाहे रमणीय स्थान हो, चाहे अरमणीय, चाहे सुन्दर सुगन्धित उपवन हो, चाहे बंजर भूमि हो, चाहे विराट नगर की उच्च अट्टालिका हो, या निर्जन वन की कंटीली भूमि हो, कोई फर्क नहीं पडता। वह सर्वत्र समभाव में रहता है। उसका चिन्तन चलता है कि मेरा निवास-स्थान न जंगल है, न नगर, मेरा तो निवासस्थान आत्मा ही है, फिर व्यर्थ ही क्षेत्र के व्यामोह में पड़कर क्यों कर्मबन्धन करूँ? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव में स्थित रहता है तो मुझे भी आत्मभाव में स्थिर रहना है, यह क्षेत्र सामायिक है।

भाव सामायिकधारी का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता है। वह सदा सर्वदा आत्मभाव में विचरण करता है। उसका चिन्तन चलता है-'मैं' अजर और अमर हूँ, चैतन्य-स्वरूप हूँ, जीवन-मरण, मान-अपमान, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ ये सभी कर्मोदयजन्य विकार हैं। मेरा इनके साथ वस्तुत: कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार विचार करके शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मतत्त्व को प्राप्त करना ही भाव सामायिक है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार में कहा है-पर द्रव्यों से निवृत्त होकर जब साधक की ज्ञानचेतना आत्मस्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ भावापन्न आत्मा सम कहलाता है। उस सम में गमन करना भाव सामायिक है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने भाव सामायिक पर विस्तार से चिन्तन किया है। उन्होंने गुणनिष्पन्न भाव सामायिक को एक विराट् नगर की उपमा दी है। जैसे एक विराट् नगर जन, धन, धान्य आदि से समृद्ध होता है, विविध वनों और उपवनों से अलंकृत होता है, वैसे ही भाव सामायिक करने वाले साधक का जीवन सद्गुणों से समलंकृत होता है। उसके जीवन में विविध सद्गुणों की जगमगाहट होती है, शान्ति का साम्राज्य होता है।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने सामायिक आवश्यक को आद्यमंगल माना है। जितने भी विश्व में द्रव्यमंगल हैं, वे सभी द्रव्यमंगल अमंगल के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं, पर सामायिक ऐसा भावमंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता। समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है। सामायिक ऐसा पारसमणि है, जिसके संस्पर्श से अनन्तकाल की मिथ्यात्व आदि की कालिमा से आत्मा मुक्त हो जाता है।

सामायिक के पात्र भेद से दो भेद होते हैं–1. गृहस्थ की सामायिक और 2. श्रमण की सामायिक। गृहस्थ की सामायिक परम्परानुसार एक मुहूर्त यानी 48 मिनट की होती है, अधिक समय के लिए भी वह अपनी स्थिति के अनुसार सामायिक व्रत कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद बताए हैं–1. सम्यक्त्व सामायिक, 2. श्रुत सामायिक और 3. चारित्र सामायिक। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत ये दोनों आवश्यक हैं। बिना सम्यक्त्व के श्रुत निर्मल नहीं होता और न चारित्र ही निर्मल होता है। सर्वप्रथम दृढ़निष्ठा होने से विश्वास की शुद्धि होती है। सम्यक्त्व में अन्धविश्वास नहीं होता वहाँ भेद-विज्ञान होता है। श्रुत से विचारों की शुद्धि होती है। जब विश्वास और विचार शुद्ध होता है, तब चारित्र शुद्ध होता है।

सामायिक एक आध्यात्मिक साधना है, इसीलिए इसमें जाति-पाँति का प्रश्न नहीं उठता। हरिकेशी मुनि जाति से अन्त्यज थे, पर सामायिक की साधना से वे देवों द्वारा भी अर्चनीय बन गये। अर्जुन मालाकार, जो एक दिन क्रूर हत्यारा था, सामायिक साधना के प्रभाव से उसने मुक्ति का वरण कर लिया।

सामाइय पइन्ना सुत्तं

(सामायिक-प्रतिज्ञा-सूत्र)

मूल– **करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि, करंतंपि अण्णं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।**

संस्कृत छाया– करोमि भदन्त! सामायिकं, सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि यावज्जीवया, त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि ।।

अन्वयार्थ–करेमि भंते ! सामाइयं = हे भगवन् ! मैं सामायिक ग्रहण करता हूँ, **सव्वं सावज्जं जोगं** = सभी सावद्य (पापकारी) योग (व्यापारों) का, **पच्चक्खामि** = त्याग करता हूँ, **जावज्जीवाए** = जीवन पर्यन्त, **तिविहं तिविहेणं** = तीन करण, तीन योग से, **मणेणं वायाए काएणं** = मन से, वचन से और काया से, **न करेमि** = (पापकर्म) मैं स्वयं नहीं करूँगा, **न कारवेमि =** दूसरों से नहीं करवाऊँगा, **करंतंपि अण्णं** = अन्य करने वाले को, **न समणुजाणामि** = अच्छा नहीं समझूँगा, **तस्स भंते !** = हे भगवन् ! उन पूर्वकृत पापों का, **पडिक्कमामि** = प्रतिक्रमण करता हूँ, **निंदामि** = आत्म साक्षी से निंदा करता हूँ, **गरिहामि** = गुरु साक्षी से गर्हा (निंदा) करता हूँ, **अप्पाणं वोसिरामि** = पाप युक्त आत्मा को छोड़ता हूँ, अर्थात् आत्मा को पाप से अलग करता हूँ।

भावार्थ–भगवन्! मैं सामायिक का व्रत ग्रहण करता हूँ। अत: सावद्य–पपाप कर्म वाले व्यापारों का त्याग करता हूँ।

जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया–इन तीनों योगों से पाप कर्म न मैं स्वयं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूँगा। भंते पूर्वकृत पापों से निवृत्त होता हूँ, अपने मन से पापों को बुरा मान मानता हूँ, आपकी साक्षी से उनकी गर्हा–निंदा करता हूँ, अतीत में कृत पापों का पूर्णरूप से परित्याग करता हूँ।

विवेचन–'भंते' शब्द 'भदि कल्याणे सुखे च' धातु से बनता है। 'भंते' शब्द का संस्कृत रूप 'भदंत' होता है जिसका अर्थ कल्याणकारी होता है। संसारजन्य दु:खों से बचाने वाले गुरुदेव ही होते हैं। भंते के भवांत और भयांत ये दो संस्कृत रूप भी बनते हैं। जिनका क्रमश: अर्थ है संसार का अन्त करने वाला और भय का अन्त करने वाला। गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भव और भय का अन्त हो जाता है।

सावज्जं–शब्द के दो रूप बनते हैं। जैसे कि–**1. सावद्य–**पाप सहित अर्थात् जो कार्य पाप क्रिया के बन्ध कराने वाले हों, आत्मा का पतन कराने वाले हों, उन सबका सामायिक में त्याग होता है। **2. सावर्ज्य–**अर्थात् छोड़ने योग्य, पाप कार्य तथा कषाय छोड़ने योग्य हैं, अत: सामायिक में उसका त्याग किया जाता है।

निंदामि–आत्म साक्षी से पापों की निन्दा करना अर्थात् बुरा समझना। **गरिहामि–**गुरु साक्षी से पापों की निन्दा करना अर्थात् बुरा समझना। **अप्पाणं वोसिरामि–**अपनी पापकारी आत्मा (कषाय आत्मा और

योग आत्मा) को वोसिराता (त्यागता) हूँ। पाप कर्म से दूषित हुए पूर्व जीवन को त्यागना ही आत्मा को त्यागना है।

जैन दर्शन ने साधक को निन्दा के साथ ही गर्हा की एक अन्य अनुपम भेंट प्रदान की है। आत्म-शोधन के लिए गर्हा बहुत महत्त्वपूर्ण है, जहाँ निन्दा में साधक स्वयं एकान्त में बैठकर अपने पापों की निन्दा करता है, दूसरों के सम्मुख अपने पापों को प्रकट नहीं करता, वहाँ गर्हा में साधक (वह) गुरु के चरणों में आकर उनकी साक्षी से भी अपने पापों की आलोचना करता है।

इच्छामि ठामि

मूल- **इच्छामि ठामि काउस्सग्गं[1] जो मे देवसिओ[2] अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असमण-पाउग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ते, सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हं महव्वयाणं, छण्हं जीवनिकायाणं, सत्तण्हं पिण्डेसणाणं, अट्ठण्हं पवयणमाऊणं, नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं, दसविहे समणधम्मे, समणाणं जोगाणं, जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।**

संस्कृत छाया- इच्छामि तिष्ठामि कायोत्सर्गं यो मया दैवसिको अतिचार: कृत: कायिको वाचिको मानसिको उत्सूत्र उन्मार्गो अकल्पोऽकरणीयो दुर्ध्यातो दुर्विचिन्तितोऽना-चारेऽनेष्टव्योऽश्रमणप्रायोग्यो ज्ञाने तथा दर्शने चारित्रे श्रुते सामायिके, तिसृणां गुप्तीनां, चतुर्णां कषायाणां, पञ्चानां महाव्रतानां, षण्णां जीवनिकायानां, सप्तानां पिण्डैषणानामष्टानां प्रवचनमातृणां, नवानां ब्रह्मचर्यगुप्तीनां, दशविधे श्रमणधर्मे श्रमणानां योगानां यत्खण्डितं यद्विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।।

अन्वयार्थ-इच्छामि पडिक्कमिउं = मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, **जो मे देवसिओ** = जो मैंने दिवस सम्बन्धी, **अइयारो कओ** = अतिचार (दोष) सेवन किये हैं। (चाहे वे), **काइओ, वाइओ,**

---

1. कायोत्सर्ग के पहले बोलने पर 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' कायोत्सर्ग में 'इच्छामि आलोउं' तथा अन्य स्थानों पर 'इच्छमि पडिक्कमिउं' बोलना चाहिए।
2. रात्रिक में राइओ, पाक्षिक में पक्खिओ, चातुर्मासिक में चाउम्मासिओ और सांवत्सरिक में संवच्छरिओ कहना चाहिये।
कायोत्सर्ग में सभी पाठों में 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं' के स्थान पर 'तस्स आलोउं' बोलना चाहिये।

माणसिओ = काया, वचन व मन सम्बन्धी, **उस्सुत्तो** = सूत्र सिद्धान्त के विपरीत उत्सूत्र की प्ररूपणा की हो, **उम्मग्गो** = जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग से विपरीत उन्मार्ग का कथन किया व आचरण किया हो, **अकप्पो, अकरणिज्जो** = अकल्पनीय (नहीं कल्पे वैसा), नहीं करने योग्य कार्य किये हों, (ये कायिक वाचिक अतिचार हैं, इसी प्रकार।), **दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ** = मन से कर्मबंध हेतु रूप दुष्ट ध्यान व किसी प्रकार का खराब चिंतन किया हो, **अणायारो, अणिच्छियव्वो** = अनाचार सेवन (व्रत भंग) किया व नहीं चाहने योग्य की वांछा की हो, **असमणपाउग्गो** = साधु धर्म के विरूद्ध आचरण किया हो, **नाणे तह दंसणे** = ज्ञान तथा दर्शन एवं, **चरित्ते, सुए** = चारित्र, सूत्र सिद्धान्त, **सामाइए** = सामायिक में, **तिण्हं गुत्तीणं** = तीन गुप्ति के गोपनत्व का, **चउण्हं कसायाणं** = चार कषाय = सेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा का, **पंचण्हं महव्वयाणं** = पाँच महाव्रतों का, **छण्हं जीवनिकायाणं** = जीवों की छः काय का, **सत्तण्हं पिण्डेसणाणं** = सात प्रकार की पिण्डेषणा का, **अट्ठण्हं** = आठ, **पवयणमाऊणं** = प्रवचन माता का, **नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं** = नव ब्रह्मचर्य की गुप्ति (वाड़) का, **दसविहे** = दस प्रकार के, **समणधम्मे** = साधुधर्म का, **समणाणं** = श्रमण, **जोगाणं** = योग्य कर्त्तव्यों का, **जं खंडियं** = जो सर्व रूप से खण्डन हुआ हो, **जं विराहियं** = जो देश रूप से विराधना हुई हो तो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं** = वे मेरे दुष्कृत कर्म रूप पाप मिथ्या हो।

भावार्थ–हे भदन्त! मैं चित्त को स्थिरता के साथ, एक स्थान पर स्थिर रहकर, ध्यान-मौन के सिवाय अन्य सभी व्यापारों का परित्याग रूप कायोत्सर्ग करता हूँ। (परंतु इसके पहले शिष्य अपने दोषों की अलोचना करता है-) ज्ञान में, दर्शन में, चारित्र में तथा विशेष रूप से श्रुतधर्म में, सम्यक्त्व रूप तथा चारित्र रूप सामायिक में 'जो मे देवसिओ' अर्थात् मेरे द्वारा प्रमादवश दिवस संबंधी (तथा रात्रि संबंधी) संयम मर्यादा का उल्लंघन रूप जो अतिचार किया गया हो, चाहे वह कायिक, मानसिक, वाचिक अथवा मानसिक अतिचार हो, उस अतिचार का पाप मेरे लिये निष्फल हो।

वह अतिचार सूत्र के विरुद्ध है, मार्ग अर्थात् परंपरा से विरुद्ध है, अकल्प्य-आचार से विरुद्ध है, नहीं करने योग्य है, दुर्ध्यान-आर्त्तध्यान रूप है, दुर्विचिंतिंत-रौद्रध्यान रूप है, नहीं आचरने योग्य है, नहीं चाहने योग्य है, संक्षेप में साधुवृत्ति के सर्वथा विपरीत है-साधु को नहीं करने योग्य है।

योग-निरोधात्मक तीन गुप्ति, चार कषायों की निवृत्ति, पाँच महाव्रत, छह पृथिवीकाय, जलकाय आदि जीवनिकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा-(1. असंसृष्टा, 2. संसृष्टा, 3. उद्धृता, 4. अल्पलेपा, 5. अवगृहीता, 6. प्रगृहीता, 7. उज्झितधर्मिका), आठ प्रवचन माता (पाँच समिति, तीन गुप्ति), नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म (श्रमण संबंधी कर्त्तव्य) यदि खंडित हुये हों, अथवा विराधित हुये हों, तो वह सब पाप मेरे लिये निष्फल हो।

विवेचन–उस्सुत्तो (उत्सूत्र) **'सूचनात्सूत्रम्'** जो सूचना करता है उसे सूत्र कहते हैं अर्थात् मूल आगम को सूत्र कहते हैं। उससे विपरीत को उत्सूत्र कहते हैं। उम्मग्गो (उन्मार्ग) वीतराग प्ररूपित दयामय धर्म को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। उससे विपरीत अठारह पाप युक्त मार्ग को उन्मार्ग कहते हैं। मार्ग का अर्थ पूर्व परम्परा अर्थात् पूर्व कालीन त्यागी पुरुषों से चला आया पाप रहित कर्त्तव्य प्रवाह मार्ग कहलाता है। उससे विपरीत उन्मार्ग कहलाता है। आचार्य हरिभद्र ने उन्मार्ग का अर्थ ऐसा भी किया है। क्षायोपशमिक भाव (मार्ग) से औदयिक भाव में संक्रमण भी उन्मार्ग कहलाता है।

अकप्पो–चरण सत्तरी और करण सत्तरी रूप साधु आचार के विरुद्ध आचरण किया हो।

नाणे तह दंसणे चरित्ते–सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र सुए–श्रुत का अर्थ श्रुतज्ञान है। वीतराग तीर्थङ्कर देव के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम साहित्य को श्रुत कहा जाता है। श्रुत यह अन्य ज्ञानों का उपलक्षण है अत: वे भी ग्राह्य है। श्रुत का अतिचार है–विपरीत श्रद्धा और विपरीत प्ररूपण।

सामाइए–सामायिक का अर्थ समभाव है। यह दो प्रकार से माना जाता है। सम्यक्त्व और चारित्र। चारित्र–पाँच महाव्रत–पाँच समिति तीन गुप्ति आदि है और सम्यक्त्व जिन प्ररूपित सत्य मार्ग पर श्रद्धा है। इसके दो भेद हैं–निसर्गज और अधिगमज। अत: सामायिक में दर्शन और चारित्र दोनों का समावेश समझना चाहिए। 'नाणे तह–दंसणे चरित्ते' कहने के बाद फिर 'सुए सामाइए' कहने से पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। ये तीनों भेद (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) श्रुतधर्म और सामायिक धर्म में ही समाविष्ट हो जाते हैं। अत: इन तीनों शब्दों को ही दूसरे प्रकार से विशिष्टता बताने के लिए श्रुत और सामायिक में अवतरित कर दिया गया है।

दुज्झाओ–यहाँ दुर्ध्यान का अर्थ आर्त्तध्यान रूप है।

दुव्विचिंतिओ–अशुभ ध्यान की विशिष्ट अवस्था दुश्चिंतन रूप है अर्थात् रौद्रध्यान रूप है।

असमणपाउग्गो–साधु वृत्ति से सर्वथा विपरीत है।

जं खंडियं–व्रतों का आंशिक टूट जाना।

जं विराहियं–व्रतों का सर्वथा टूट जाना।

समणाणं जोगाणं–श्रमण सम्बन्धी योग–कर्त्तव्यों को श्रमण योग कहते हैं। श्रमण धर्म में श्रमण का क्या कर्त्तव्य है–उसमें सम्यक् आचरण, श्रद्धान और प्ररूपणा।

प्रतिक्रमण का सार पाठ 'इच्छामि ठामि' है।

इसे सार पाठ कहने का कारण इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति के लिए तीन गुप्ति, चार कषाय–निरोध, पाँच महाव्रत आदि में लगे हुए अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं दिया गया है।

काउस्सग्ग पइन्ना सुत्तं

(कायोत्सर्ग-प्रतिज्ञा/आत्मशुद्धि-सूत्र)

मूल- **तस्स उत्तरी-करणेणं, पायच्छित्त-करणेणं, विसोहि-करणेणं, विसल्ली-करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए, ठामि काउस्सग्गं। अन्नत्थ ऊससिएणं, नीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए, सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं, एवमाइएहिं आगारेहिं, अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगंवताणं नमोक्कारेणं, न पारेमि ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि।।**

संस्कृत छाया- तस्योत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशुद्धि (विरोधी) करणेन विशल्यीकरणेन पापानां कर्मणां निर्घातनार्थे तिष्ठामि कायोत्सर्गम्, अन्यत्रोच्छ्वसितेन नि:श्वसितेन कासितेन क्षुतेन जृम्भितेन उद्‌गारितेन वातनिसर्गेण भ्रमल्या पित्तमूर्च्छया सूक्ष्मै: अंग संचारै: सूक्ष्मै:, श्लेष्म संचारै सूक्ष्मै: दृष्टिसंचारै:, एवमादिकैरागारैरभग्नोऽविराधितो भवतु मे कायोत्सर्गो यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत्कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेनाऽऽत्मानं व्युत्सृजामि ।।

शब्दार्थ-तस्स = उस (दूषित आत्मा) को, **उत्तरीकरणेणं** = उत्कृष्ट (शुद्ध) बनाने के लिए, **पायच्छित्तकरणेणं** = प्रायश्चित्त करने के लिए, **विसोहि-करणेणं** = विशेष शुद्धि करने के लिए, **विसल्लीकरणेणं** = शल्य रहित करने के लिए, **पावाणं कम्माणं** = पाप कर्मों का, **निग्घायणट्ठाए** = नाश करने के लिए, **ठामि काउस्सग्गं** = कायोत्सर्ग करता हूँ अर्थात् शरीर से ममता हटाता हूँ = काया के व्यापारों का त्याग करता हूँ, **अन्नत्थ** = इन निम्नोक्त क्रियाओं को छोड़कर, **ऊससिएणं** = (ऊँचा) श्वॉस लेने से, **नीससिएणं =** (नीचा) श्वॉस छोड़ने से, **खासिएणं** = खाँसी आने से, **छीएणं** = छींक आने से, **जंभाइएणं** = उबासी (जम्हाई) आने से, **उड्डुएणं** = डकार आने से, **वायनिसग्गेणं** = अधोवायु निकलने से, **भमलीए** = चक्कर आने से, **पित्त-मुच्छाए** = पित्त के कारण मूर्छित होने से, **सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं** = सूक्ष्म रूप से अंग हिलने से, **सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं** = सूक्ष्म रूप से कफ का संचार होने से, **सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं** = सूक्ष्म रूप से दृष्टि का संचार होने से अर्थात् नेत्र फड़कने से, **एवमाइएहिं आगारेहिं** = इस प्रकार इत्यादि आगारों से, **अभग्गो अविराहिओ** = अभग्न (अखण्ड) अविराधित, **हुज्ज मे काउस्सग्गो**

= मेरा कायोत्सर्ग हो, **जाव अरिहंताणं भगवंताणं** = जब तक अरिहंत भगवान को, **नमोक्कारेणं न पारेमि** = नमस्कार करके (इस कायोत्सर्ग को) नहीं पालूँ, **ताव कायं** = तब तक शरीर को, **ठाणेणं** = स्थिर रखकर, **मोणेणं** = (वचन से) मौन धरकर, **झाणेणं** = मन को एकाग्र करने के साथ ही, **अप्पाणं वोसिरामि** = अपनी आत्मा को पाप कर्मों से अलग करता हूँ अर्थात् पापात्मा को छोड़ता हूँ।

भावार्थ–आत्मा की विशेष उत्कृष्टता, निर्मलता या श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, शल्यरहित होने के लिए, पाप कर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

कायोत्सर्ग में काय व्यापारों का परित्याग करता हूँ, निश्चल होता हूँ। परंतु जो शारीरिक क्रियायें अशक्य परिहोने के कारण स्वभावत: हरकत में आ जाती हैं उनको छोड़कर। वे क्रियायें इस प्रकार हैं–ऊँचा श्वास, नीचा श्वास, खाँसी, छींक, उबासी, डकार, अपान वायु का निकलना, चक्कर आना, पित्तविकार–जन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कप का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों की हरकत से अर्थात् गोचर से, इत्यादि अगारों से मेरा कायोत्सर्ग भग्न न हो एवं विराधना रहित हो।

जब तक अरिहंत भगवानों को नमस्कार न कर लूँ, तब तक एक स्थान पर स्थिर रह, मौन रहकर, धर्मध्यान में चित्त को स्थिर करके अपने शरीर को पाप व्यापारों से अलग करता हूँ।

विवेचन–यह कायोत्सर्ग के पहले बोला जाने वाला पाठ है। इसके द्वारा ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा में बाकी रही हुई सूक्ष्म मलिनता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त का पाँचवाँ भेद है। कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं–काय और उत्सर्ग। अत: कायोत्सर्ग का अर्थ हुआ काया–शरीर की (उपलक्षण से मन और वचन का) चञ्चल क्रियाओं का उत्सर्ग–त्याग। इस प्रायश्चित्त (कायोत्सर्ग) के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि (आत्म शुद्धि/हृदय शुद्धि) हो जाती है, क्योंकि आत्मा की अशुद्धि का कारण पापमल है, भ्रान्त आचरण है। प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का परिमार्जन और दोष का गमन हो जाता है।

प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ पंचाशक ग्रन्थ में इस प्रकार किया गया है–'प्रायो बाहुल्येन चित्तं, जीवं शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति' अर्थात् प्राय: बहुत, चित्त–मन अर्थात् जीव को शोधन करने वाला। जिसके द्वारा हृदय की अधिक से अधिक शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त कहलाता है। ठाणांग सूत्र के तीसरे ठाणे की टीका में इस प्रकार है–'पापच्छेदकत्वात् प्रायश्चित्तं प्राकृते पायच्छित्तमिति' अर्थात् पाप का छेदन करने वाला। 'प्राय: पापं विनिर्दिष्टं, चित्तं तस्य च शोधनम्' अर्थात् पाप का शोधन करना। विशेषावश्यक भाष्य में इन सभी अर्थों का समावेश हो जाता है–

'पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं तु भण्णई तम्हा।
पाएण वा वि चित्तं, सोहइ तेण पायच्छित्तं ।।1508।।'

सूत्र के अग्रभाग 'तस्स उत्तरी…………ठामि काउस्सग्गं' में कायोत्सर्ग के उद्देश्य बताये गये हैं- (1) आत्मा को उत्कृष्ट बनाना। (2) प्रायश्चित्त करना। (3) विशेष शुद्धि करना। (4) आत्मा को शल्य रहित बनाना। (5) पाप कर्मों का नाश करना।

'अन्नत्थ………दिट्ठिसंचालेहिं' में इस कायोत्सर्ग में लगने वाले दोषों के लिए कुछ आगार रखे गये हैं। यद्यपि कायोत्सर्ग का अर्थ ही शरीर की ओर से ध्यान हटाकर, इसे पूर्णतया स्थिर कर, आत्मिक प्रवृत्तियों में लगाना है तथा शरीर के कुछ व्यापार ऐसे हैं जिन्हें कि दृढ़ से दृढ़ साधक भी बन्द नहीं कर सकता। इन क्रियाओं से भी ध्यान में विक्षेप होता है। अत: इस विक्षेप के लिए व्रत व प्रतिज्ञा धारण करते समय इसमें कुछ आगार (छूटें) रखना आवश्यक है। एतदर्थ इन आगारों का उल्लेख किया गया है। ये सभी शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से सम्बन्धित हैं जो कि रोकी नहीं जा सकती। 'अन्नत्थ' अन्यत्र अन्य में, पर में, शरीर में ये क्रियाएँ घटित होती है, आत्मा में नहीं। शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान सम्यग्दर्शन है और यह इस पाठ की विशिष्टता है।

अभग्गो-अविराहिओ-'भग्न: सर्वथा विनष्ट: न भग्नोऽभग्न: विराधितो देश भग्न: न विराधितोऽविराधित:' अर्थात् सर्वथा नष्ट हो जाना भग्न कहलाता है, और कुछ अंश का टूट जाना विराधित कहलाता है। जो सर्वथा भग्न न हो वह अभग्न और देश से भी खण्डित न हो वह अविराधित कहलाता है।

एवमाइएहिं आगारेहिं-एवं अर्थात् इसी तरह के 'आदि' और भी आगार हैं। आदि शब्द से यहाँ टीकाकार ने चार आगारों को ग्रहण किया है-1. अग्नि का उपद्रव-अग्नि के उपद्रव से स्थान बदलना पड़े। 2. बिल्ली-चूहे आदि का उपद्रव या किसी पंचेन्द्रिय जीव के छेदन-भेदन होने के कारण अन्य स्थान में जाना। 3. यकायक डाकू अथवा राजा आदि का महाभय। 4. सिंह, सर्प आदि क्रूर प्राणियों का उपद्रव या दीवार आदि गिर पड़ने की शंका से दूसरे स्थान पर जाना। कायोत्सर्ग करने के समय ये आगार इसलिए रखे जाते हैं कि सब मनुष्यों की शक्ति एक सरीखी नहीं होती है। जो कम शक्ति वाले और डरपोक होते हैं, वे ऐसे अवसर पर घबरा जाते हैं इसलिए ऐसे साधकों की अपेक्षा आगार रखे हैं।

'जाव अरिहंताणं……………वोसिरामि' पाठ में साधक कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा स्वीकार करता है।

नाणाइयारे

(आगमे तिविहे का पाठ)

मूल- **आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे, इस तरह तीन प्रकार के आगम रूप ज्ञान के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं,**

अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठु-पडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झायं, सज्झाइए न सज्झायं, भणता, गुणता, विचारता, ज्ञान और ज्ञानवंत पुरुषों की अविनय आशातना की हो तो (इन अतिचारों में मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो) तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

संस्कृत छाया– आगमस्त्रिविध-प्रज्ञप्तस्तद्यथा-सुत्रागम: अर्थागम: तदुभयागम:। (तत्र) यद् व्याविद्धं, व्यत्याम्रेडितं, हीनाक्षरं, अल्पाक्षरं, पदहीनं, योगहीनं, घोषहीनं, सुष्ठुदत्तं, दुष्ठुप्रतीष्टम्, अकाले कृत: स्वाध्याय:, काले न कृत: स्वाध्याय:, अस्वाध्याये स्वाध्यायितं, स्वाध्याये न स्वाध्यायितं, तस्स मिथ्या मयि दुष्कृतम्।।

अन्वयार्थ–आगमे तिविहे = आगम तीन प्रकार का, **पण्णत्ते** = कहा गया है, **तं जहा** = वह इस प्रकार है जैसे, **सुत्तागमे** = सूत्र (मूल पाठ) रूप आगम, **अत्थागमे** = अर्थ रूप आगम, **तदुभयागमे** = उभय (मूल-अर्थ युक्त) रूप आगम, **जं** = (आगम के विषय में जो अतिचार लगे हो) वे इस प्रकार हैं, **वाइद्धं** = इन आगमों में कुछ भी क्रम छोड़ कर अर्थात् पद अक्षर को आगे पीछे करके पढ़ा हो, **वच्चामेलियं** = एक सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाकर पढ़ा गया हो। (अविराम की जगह विराम लेकर अथवा स्व कल्पना से सूत्र भाष्य रचकर सूत्र में मिलाकर पढ़ा हो), **हीणक्खरं, अच्चक्खरं** = अक्षर घटा (कम) करके, बढ़ा करके बोला हो, **पयहीणं, विणयहीणं** = पद को कम करके, विनयरहित (अनादर भाव से) पढ़ा हो, **जोगहीणं** = मन, वचन व काया के योग रहित पढ़ा हो, **घोसहीणं** = उदात्त आदि के उचित घोष बिना पढ़ा हो, **सुट्ठुदिण्णं** = शिष्य की उचित शक्ति से अधिक ज्ञान दिया हो, **दुट्ठुपडिच्छियं** = दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, **अकाले कओ सज्झाओ** = अकाल में (असमय) स्वाध्याय किया हो, **काले न कओ सज्झाओ** = काल में स्वाध्याय न किया हो, **असज्झाइए सज्झायं** = अस्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय किया हो, **सज्झाइए न सज्झायं** = स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो।

भावार्थ–आगम तीन प्रकार का है-1. सुत्तागम, 2. अत्थागम, 3. तदुभयागम।

जिसमें अक्षर थोड़े पर अर्थ सर्वव्यापक, सारगर्भित, संदेहरहित, निर्दोष तथा विस्तृत हो उसे विद्वान् लोक 'सूत्र कहते हैं। सूत्र रूप आगम 'सूत्रागम' कहलाता है तथा जो मुमुक्षुओं से प्रार्थित हो उसे 'अर्थागम' कहते हैं। केवल सूत्रागम से प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये सूत्र और अर्थरूप 'तदुभयागम' कहा है।

इस आगम का पाठ करने में जो अतिचार-दोष लगा हो, उसका फल मिथ्या हो। वे अतिचार इस प्रकार हैं-(1) सूत्र के अक्षर उलट-पलट पढ़े हो। (2) एक ही शास्त्र में अलग-अलग स्थानों पर आये हुए

समान अर्थ वाले पाठों को एक स्थान पर लाकर पढ़ा हो अथवा अस्थान में विराम लिया हो या अपनी बुद्धि से सूत्र बनाकर सूत्र में डालकर पढ़े हों। (3) हीन अक्षर युक्त अर्थात् कोई अक्षर कम करके पढ़ा हो। (4) अधिक अक्षर युक्त पढ़ा हो। (5) पदहीन पढ़ा हो।

(6) विनयरहित पढ़ा हो। (7) योगहीन (मन की एकाग्रता से रहित) पढ़ा हो। अथवा जिस शास्त्र के अध्ययन के लिए जो आयंबिल आदि करने रूप योगोद्वहन-तपश्चरण विहित है, उसे न करके पढ़ा हो। (8) उदात्त आदि स्वरों से रहित पढ़ा हो। अथवा पात्र-अपात्र का विवेक किये बिना पढ़ाया हो। (9) 'सुट्ठुदिण्णं' शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति हो उससे अधिक पढ़ाया हो। (10) आगम को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो। (11) जिन सूत्रों के पठन का जो काल शास्त्र में कहा है, उससे भिन्न दूसरे काल में उन सूत्रों का स्वाध्याय किया हो। (12) स्वाध्याय के शास्त्रोक्त काल में स्वाध्याय न किया हो। (13) अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो। (14) स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न किया हो, उससे उत्पन्न हुआ मेरा सर्व पाप निष्फल हो।

विवेचन-जिससे षड्द्रव्य, नवतत्त्वों और हेय, ज्ञेय, उपादेय का सम्यग्ज्ञान हो, मोक्षमार्ग में चलने की प्रेरणा मिले, उसे आगम (सिद्धांत) कहते हैं। अथवा जो तीर्थङ्कर भगवान के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शंका रहित और अलौकिक होने से भव्य जीवों को चकित कर देने वाले ज्ञान को देने वाला हो या जो अरिहन्त भगवान के मुख से निकलकर गणधर देव को प्राप्त हुआ और भव्य जीवों ने सम्यक् भाव से जिसको माना, उसे 'आगम' कहते हैं। आगम के तीन भेद हैं-

(1) सुत्तागमे (सूत्रागम)-तीर्थङ्करों ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किये, उन्हें गणधरों ने अपने कानों से सुनकर जिन आचारांगादि आगमों की रचना की, उस शब्द रूप मूल आगम को सुत्तागमे (सूत्रागम) कहते हैं।

(2) अत्थागमे (अर्थागम)-तीर्थङ्करों ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किये, उस भाव रूप-अर्थ आगम को 'अर्थागम' कहते हैं यानी तीर्थङ्कर भगवान द्वारा प्रतिपादित उपदेश 'अर्थागम' कहलाता है।

(3) तदुभयागमे (तदुभयागम)-वह आगम जिसमें सूत्र, मूल और अर्थ दोनों हो, तदुभयागम कहलाता है।

सूत्र, अर्थ या तदुभय रूप आगमों को विधि पूर्वक न पढ़ना अर्थात् उसके पढ़ने में किसी प्रकार का दोष लगाना ज्ञान का अतिचार दोष है। वह चौदह प्रकार का है-

(1) वाइद्धं-व्याविद्ध अर्थात् सूत्र के अक्षर, मात्रा, व्यंजन, अनुस्वार, पद, आलापक आदि को उलट-पुलट कर पढ़ना। जिस प्रकार माला के रत्नों को उलट-पुलट जोड़ने से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार शास्त्र के अक्षरों या पदों को उलट फेर कर पढ़ने से शास्त्र की सुन्दरता नहीं रहती है, अर्थ का

बोध भी नहीं होता इसलिये पद या अक्षरों को उलट-पलट कर पढ़ने से व्याविद्ध नामक अतिचार लगता है। जैसे-'नमो अरिहंताणं इत्यादि की जगह अरिहंताणं नमो इत्यादि पढ़ा गया हो।

(2) वच्चामेलियं-व्यत्याम्रेडित अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिलाकर पढ़ना जैसे भिन्न-भिन्न प्रकार के अनाज जो आपस में मेल न खाते हो उन्हें इकट्ठे करने से भोजन बिगड़ जाता है उसी प्रकार शास्त्र के भिन्न-भिन्न पदों को एक साथ पढ़ने से अर्थ बिगड़ जाता है। अथवा अपनी बुद्धि से सूत्र के समान सूत्र बनाकर आचारांग आदि सूत्रों में डालकर पढ़ने से भी यह अतिचार लगता है।

(3) हीणक्खरं-हीनाक्षर अर्थात् इस तरह पढ़ना जिससे की कोई अक्षर छूट जाय। जैसे-'णमो आयरियाणं' के स्थान पर 'य' अक्षर कम करके 'णमो आयरियाणं' पढ़ना।

(4) अच्चक्खरं-अधिकाक्षर अर्थात् पाठ के बीच में कोई अक्षर अपनी तरफ से मिला देना। जैसे-'णमो उवज्झायाणं' में 'रि' मिलाकर 'णमो उवज्झायारियाणं' पढ़ना।

(5) पयहीणं-अक्षरों के समूह को पद कहते हैं। जिसका कोई न कोई अर्थ अवश्य है, वह पद कहलाता है। किसी पद को छोड़कर पढ़ना पयहीणं अतिचार है। जैसे-णमो लोए सव्व साहूणं में 'लोए' पद कम करके 'णमो सव्व साहूणं' पढ़ना।

(6) विणयहीणं-ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति ज्ञान लेने से पहले, ज्ञान लेते समय तथा ज्ञान लेने के बाद में विनय (वंदनादि) नहीं करके अथवा सम्यक् विनय नहीं करके पढ़ना 'विणयहीणं' अतिचार है।

(7) जोगहीणं-जोगहीन अर्थात् सूत्र पढ़ते समय मन, वचन, काया को जिस प्रकार स्थिर रखना चाहिये उस प्रकार से न रखना। योगों को चंचल रखना अशुभ व्यापार में लगाना और ऐसे आसन से बैठना जिससे शास्त्र की आशातना हो। आचार्य हरिभद्र आदि कुछ प्राचीन आचार्य योग का अर्थ उपधान तप भी करते हैं। सूत्र को पढ़ते हुए किया जाने वाला एक विशेष तपश्चरण उपधान कहलाता है। उसे योग कहते हैं। अत: योगोद्वहन के बिना सूत्र पढ़ना भी योग हीनता है।

(8) घोसहीणं-घोषहीन अर्थात् उदात्त, अनुदात्त, स्वरित सानुनासिक और निरनुनासिक आदि घोषों से रहित पाठ करना। उदात्त-ऊँचे स्वर से पाठ करना। अनुदात्त-नीचे स्वर से पाठ करना। स्वरित-मध्यम स्वर से उच्चारण करना। सानुनासिक-नासिका और मुख दोनों से उच्चारण करना। निरनुनासिक-बिना नासिका के केवल मुख से पाठ उच्चारण करना। किसी भी स्वर या व्यंजन को घोष के अनुसार न पढ़ना घोषहीन दोष है।

(9) सुट्ठुदिण्णं-शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढ़ाना। यहाँ 'सुट्ठु' शब्द का अर्थ है शक्ति या योग्यता से अधिक। सुट्ठुऽदिण्णं पाठ भी हो सकता है जिसका अर्थ अच्छे भाव से न दिया हो, किया जाता है। -आवश्यक सूत्र, आचार्य श्री घासीलालजी म.सा.

(10) दुट्ठुपडिच्छियं–आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना। हरिभद्रीयावश्यक में 'सुट्ठुदिण्णं दुट्ठुपडिच्छियं' इन दोनों पदों को एक साथ रखा है और उसका अर्थ किया है–'सुट्ठुदत्तं गुरुणा दुष्ठु प्रतीच्छितं कलुषितान्तरात्मना' अर्थात् गुरु के द्वारा अच्छे भावों से दिया गया आगम ज्ञान बुरे भावों से ग्रहण करना ऐसा करने से अतिचारों की संख्या चौदह के बजाय तेरह ही रह जाती है।

मलधारी श्री हेमचन्द्र सूरि द्वारा विरचित आगमोदय समिति द्वारा विक्रम संवत् 1976 में प्रकाशित हरिभद्रीयावश्यक टिप्पणी पृष्ठ 108 में आगे लिखे अनुसार खुलासा किया है–

शङ्का–ये 14 पद तभी पूरे हो सकते हैं जब 'सुट्ठुदिण्णं दुट्ठुपडिच्छियं' ये दो पद अलग-अलग आशातना (अतिचार) गिने जाए, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि सुष्ठुदत्त का अर्थ है ज्ञान को भली प्रकार देना और यह आशातना नहीं है ?

समाधान–यह शंका तभी हो सकती है जब 'सुष्ठु' शब्द का अर्थ शोभना रूप से या भली प्रकार किया जाय किन्तु यहाँ इसका अर्थ 'भली प्रकार' नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है अतिरेक अर्थात् अधिक है अर्थात् जिसका क्षयोपशम मंद हो–ज्ञान ग्रहण करने की योग्यता कम हो, ऐसे अयोग्य पात्र को अधिक पढ़ाना ज्ञान की आशातना (अतिचार) है।

(11-12) अकाले कओ सज्झाओ-काले न कओ सज्झाओ–जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो उस समय उसे पढ़ना। सूत्र दो प्रकार के हैं कालिक और उत्कालिक, जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रात:काल सायंकाल आदि निश्चित समय का विधान है वे कालिक कहे जाते हैं। वर्तमान में उपलब्ध 32 सूत्रों में 23 कालिक है। (11 अंग, 7 उपांग, 1 मूल सूत्र और 4 छेद सूत्र कुल 23 कालिक सूत्र) 1 से 11 आचारांग आदि 11 अंग, 12वाँ जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, 13वाँ चन्द्र प्रज्ञप्ति, 14वाँ निरयावलिका, 15वाँ कल्पातवसंसिका, 16वाँ पुष्पिका, 17वाँ पुष्पचूलिका, 18वाँ वृष्णिदशा, 19वाँ उत्तराध्ययन सूत्र, 20वाँ दशाश्रुतस्कंध, 21वाँ वृहत्कल्पसूत्र, 22वाँ व्यवहार, 23वाँ निशीथ सूत्र। जिसके लिए समय की कोई मर्यादा नहीं है वे उत्कालिक कहे जाते हैं। अनुयोग-उत्कालिक 32 सूत्रों में 9 उत्कालिक हैं–5 उपांग, 3 मूल, 1 आवश्यक = 9 (1 औपपातिक, 2. राजप्रश्नीय, 3. जीवाभिगम, 4. प्रज्ञापना, 5. सूर्यप्रज्ञप्ति, 6. दशवैकालिक, 7. नंदी, 8. अनुयोग द्वार, 9. आवश्यक) कालिक सूत्रों को उनके लिए निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना अतिचार है।

(13-14) असज्झाइए सज्झायं, सज्झाइए न सज्झायं–अपने या पर के (व्रण रुधिरादि) अस्वाध्याय में या चन्द्रग्रहणादि, 4 सन्ध्या, 4 पूर्णिमा, 4 प्रतिपदा, यूपक आदि अकाल में अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने को, अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना कहते हैं। अस्वाध्याय का कोई कारण न होते हुए भी स्वाध्याय न करना स्वाध्याय में स्वाध्याय न करना अतिचार है।

❑❑❑

द्वितीय अध्ययन

चतुर्विंशतिस्तव

चतुर्विंशतिस्तव के फल के लिए उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29वें में गौतम स्वामी ने प्रभु से पृच्छा की है-**चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

हे भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

प्रभु फरमाते हैं-**चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।**

अर्थात् हे गौतम्! चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है।

समभाव में स्थित आत्मा ही वीतराग प्रभु के गुणों को जान सकती है उनकी प्रशंसा कर सकती है अर्थात् जब सामायिक की प्राप्ति हो जाती है तब ही भावपूर्वक तीर्थङ्करों की स्तुति की जा सकती है, अतएव सामायिक अध्ययन के बाद दूसरा चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन रखा गया है।

प्रथम अध्ययन में सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक का निरूपण करके सूत्रकार अब चतुर्विंशतिस्तव रूप इस द्वितीय अध्ययन में समस्त सावद्य योगों की निवृत्ति के उपदेशक होने से समकित की विशुद्धि तथा जन्मान्तर में भी बोधिलाभ और सम्पूर्ण कर्मों के नाश के कारण होने से परम उपकारी तीर्थङ्कर भगवन्तों का लोगस्स के पाठ से गुणकीर्तन करते हैं।

सुगुरुओं को यथाविधि वंदन करने से विनय की प्राप्ति होती है। अहंकार का नाश होता है। वंदनीय में रहे हुए गुणों के प्रति आदरभाव होता है। तीर्थङ्कर भगवन्तों की आज्ञा का पालन होता है। वंदना करने का मूल उद्देश्य ही नम्रता प्राप्त करना है। नम्रता अर्थात् विनय ही जिनशासन का मूल है।

उक्कित्तणं सुत्तं

(उत्कीर्त्तन-सूत्र)

मूल- **लोगस्स उज्जोयगरे, धम्म-तित्थयरे जिणे।**
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली ॥1॥
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥2॥

सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयल-सिज्जंस-वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ।।3 ।।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ।।4 ।।
एवं मए अभित्थुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ।।5 ।।
कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्ग-बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।।6 ।।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवर-गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।7 ।।

संस्कृत छाया- लोकस्योद्द्योतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनान्।
अर्हतः कीर्त्तयिष्यामि, चतुर्विंशतिमपि केवलिनः ।।1 ।।
ऋषभमजितं च वन्दे, सम्भवमभिनन्दनं च सुमतिं च।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे ।।2 ।।
सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतल-श्रेयांस-वासुपूज्यांश्च।
विमलमनन्तं च जिनं, धर्मं शांतिं च वन्दे ।।3।।
कुन्थुमरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च।
वन्देऽरिष्टनेमिं पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च ।।4 ।।
एवं मयाऽभिष्टुता, विधूतरजोमलाः प्रहीणजरामरणाः।
चतुर्विंशतिरपि जिनवरा, - स्तीर्थङ्करा भो प्रसीदन्तु ।।5 ।।
कीर्तित-वन्दित-महिता, य एते लोकस्योत्तमाः सिद्धाः।
आरोग्यबोधिलाभं, समाधिवरमुत्तमं ददतु ।।6 ।।
चन्द्रेभ्यो निर्मलतरा, आदित्येभ्योऽधिकं प्रकाशकराः।
सागरवरगम्भीराः, सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु ।।7 ।।

अन्वयार्थ-लोगस्स उज्जोयगरे = लोक में प्रकाश (उद्योत) करने वाले, **धम्म-तित्थयरे** = धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, **जिणे** = राग-द्वेष के विजेता जिनेश्वर, **अरिहंते कित्तइस्सं** = (ऐसे) अरिहंतों का कीर्त्तन (स्तुति), **चउवीसंपि केवली** = सभी चौबीसों तीर्थङ्करों की, **उसभमजियं च वंदे** =

ऋषभ देव जी व अजितनाथ जी को वन्दना करता हूँ, **संभवमभिणंदणं च** = सम्भवनाथ जी और अभिनन्दन जी को, **सुमइं च** = और सुमति नाथ जी को, **पउमप्पहं सुपासं जिणं च** = पद्म प्रभजी और सुपार्श्वनाथ जी जिनेश्वर को, **चंदप्पहं वंदे** = चन्द्र प्रभजी को वन्दना करता हूँ, **सुविहिं च पुप्फदंतं** = और सुविधि नाथ जी अपर नाम पुष्पदंत जी है को, **सीयल-सिज्जंस** = शीतलनाथ जी को, श्रेयांस नाथ जी को, **वासुपुज्जं च** = और वासुपूज्य को, **विमलमणंतं च जिणं** = विमलनाथ जी और अनन्त नाथ जी जिनेश्वर को, **धम्मं संतिं च वंदामि** = धर्मनाथ जी और शान्तिनाथ जी को वन्दना करता हूँ, **कुंथुं अरं च मल्लिं वंदे** = कुंथुनाथ जी, अरनाथ जी और मल्लिनाथ जी को वन्दना करता हूँ, **मुणिसुव्वयं नमिजिणं च** = मुनिसुव्रत स्वामी जी और नमिनाथ जी जिनेश्वर को, **वंदामि रिट्ठनेमिं** = अरिष्ठनेमि जी को वन्दना करता हूँ, **पासं तह वद्धमाणं च** = पार्श्वनाथ जी और वर्धमान महावीर स्वामी जी को (वन्दना करता हूँ), **एवं मए** = इस प्रकार मेरे द्वारा, **अभित्थुआ** = स्तुति किये गये, **विहूयरयमला** = कर्म रूपी रज मैल से रहित, **पहीणजरमरणा** = बुढ़ापा और मृत्यु से रहित, **चउवीसंपि** = चौबीसों ही, **जिणवरा** = जिनवर, **तित्थयरा मे पसीयंतु** = तीर्थङ्कर देव मुझ पर प्रसन्न होवें, **कित्तिय वंदिय महिया** = वचन योग से कीर्तित, काय योग से वंदित, मनोयोग से पूजित, **जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा** = जो ये लोक में उत्तम सिद्ध हैं, **आरुग्ग-बोहिलाभं** = वे मुझे आरोग्यता व बोधि लाभ, **समाहिवरमुत्तमं दिंतु** = एवं श्रेष्ठ उत्तम समाधि देवें, **चंदेसु निम्मलयरा** = जो चन्द्रमाओं से भी अधिक निर्मल हैं, **आइच्चेसु अहियं पयासयरा** = सूर्यों से अधिक प्रकाश करने वाले, **सागरवरगंभीरा** = श्रेष्ठ महासागर के समान गम्भीर, **सिद्धा सिद्धिं मम** = सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि, **दिसंतु** = प्रदान करें।

भावार्थ-अखिल विश्व में धर्म या सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले, धर्म-तीर्थ की स्थापना करने वाले, राग-द्वेष को जीतने वाले, अंतरंग शत्रुओं को नष्ट करने वाले केवलज्ञानी 24 तीर्थङ्करों का मैं कीर्तन करूँगा अर्थात् स्तुति करूँगा या करता हूँ।।1।।

श्री ऋषभदेव को और अजितनाथ को वंदन करता हूँ। संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व और राग-द्वेष के विजेता चन्द्रप्रभ जिन को नमस्कार करता हूँ।।2।।

श्री पुष्पदंत (सुविधिनाथ), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमलनाथ, राग-द्वेष के विजेता अनंत, धर्मनाथ तथा श्री शांतिनाथ भगवान को नमस्कार करता हूँ।।3।।

श्री कुंथुनााथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत एवं नमिनाथ जिन को वंदन करता हूँ। इसी प्रकार भगवान अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और वर्धमान स्वामी को भी नमस्कार करता हूँ।।4।।

जिनकी मैंने नाम निर्देशपूर्वक स्तुति की है, जो कर्म रूप रज एवं मल से रहित हैं, जो जरामरण दोनों से सर्वथा मुक्त हैं, वे आंतरिक शत्रुओं पर विजय पाने वाले धर्मप्रवर्तक 24 तीर्थङ्कर मुझ पर प्रसन्न हों।।5।।

जिनकी इन्द्रादि देवों तथा मनुष्यों ने स्तुति की है, वंदना की है, भाव से पूजा की है और जो सम्पूर्ण लोक में सबसे उत्तम हैं, वे तीर्थङ्कर भगवान मुझे आरोग्यय अर्थात् आत्म-स्वास्थ्य या सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शांति, बोधि-सम्ययक् दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ तथा श्रेष्ठ समाधि प्रदान करें।।6।।

जो चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयं भूरमण जैसे महासमुद्र के समान गंभीर हैं, वे सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि प्रदान करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो।।7।।

विवेचन–आलोचना व कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा को अशुद्ध से शुद्ध, विषम से सम एवं प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर करके साधक प्रभु स्तुति के लिए उपयुक्त आधारशिला तैयार करता है। इस आधारभित्ति के रखे जाने के पश्चात् ही उसका ध्यान प्रभु भक्ति की ओर जाता है और वह शुद्ध-बुद्ध परमात्मा का स्मरण, चिन्तन व कीर्तन करता है। इस सूत्र के द्वारा भक्त भगवान के प्रति अपने भक्ति-भाव का प्रदर्शन करता है। यह भक्ति-साहित्य की एक अमर एवं अलौकिक रचना है।

लोगस्स में वर्तमान चौबीसी के तीर्थङ्करों की स्तुति की गयी है। ये चौबीस ही तीर्थङ्कर हमारे परम आराध्य हैं। ये हमारी श्रद्धा के केन्द्र हैं। अत: उनकी स्तुति करने से हमें भी श्रद्धेय के समान बनने की प्रेरणा मिलती है। अत: ये हमारे जीवन को उच्च बनाने में आलंबन भूत हैं। 'अपि' शब्द से ऐरावत क्षेत्र की चौबीसी व वर्तमान में महाविदेह के तीर्थङ्करों का भी ग्रहण हो जाता है। –आवश्यक मलयगिरीवृत्ति।।

धम्मतित्थयरे (धर्म तीर्थङ्कर) इसमें दो शब्द हैं धर्म और तीर्थ। **धर्म** शब्द का अर्थ इस प्रकार किया जाता है–

दुर्गतौ पतत: जीवान्, यस्माद् धारयते तत:।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्मृत:।।

अर्थात्–दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को दुर्गति से बचाकर सद्गति में पहुँचावे, उसे धर्म कहते हैं। **तीर्थ** शब्द का अर्थ इस प्रकार है–**'तीर्यतेऽनेन इति तीर्थम्'** अर्थात् जिसके द्वारा संसार सागर को तिरा जाय। एक धर्म ही संसार समुद्र से तिराने वाला और सद्गति में पहुँचाने वाला है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म को धारण करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका होते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

जिणे–**'राग-द्वेष-कषायेन्द्रिय-परिषहोपसर्गाष्ट-प्रकार-कर्म जेतृत्वाज्जिना:'** अर्थात् राग, द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परिषह, उपसर्ग अष्टविध कर्म को जीतने वाले जिन कहलाते हैं।

कित्तिय-वचन से स्तुति करना। वंदिय-काया से नमस्कार करना। महिया-मन से भावपूजा करना। पूजा दो प्रकार की है। द्रव्यपूजा और भावपूजा।

वचो विग्रह संकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते।

तथा मानससंकोचो, भावपूजा पुरातनैः ।।1।। (अमितगति श्रावकाचार)

अर्थात् शरीर और वचन को बाह्य विषयों से रोककर प्रभु वन्दना में नियुक्त करना **द्रव्य पूजा** है। तथा मन, वचन, काया को बाह्य भोगासक्ति से हटाकर प्रभु के चरणों में अर्पण करना **भाव पूजा** है।

भावपूजा भावपुष्पों से की जाती है। भाव पुष्प ये हैं-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता।

गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ।। (आचार्य हरिभद्र 'अष्टक प्रकरण)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, गुरु भक्ति, तप एवं ज्ञान रूपी प्रत्येक पुष्प जीवन कोा महका देने वाले है। ये हृदय के भावपुष्प है।

आरुग्ग-द्रव्य आरोग्य-ज्वरादि रोगों से रहित होना और भाव आरोग्य का अर्थ कर्म रोगों से रहित होकर आत्म स्वरूपस्थ होना-सिद्ध होना।

समाहिवरमुत्तमं-सर्वोत्कृष्ट समाधि को। समाधि का सामान्य अर्थ है चित्त की एकाग्रता यह समाधि मनुष्य का अभ्युदय करती है, अंतरात्मा को पवित्र बनाती है एवं सुख-दुःख तथा हर्ष, शोक आदि के प्रसंगों में शांत तथा स्थिर रखती है। सर्वोत्कृष्ट समाधि दशा पर पहुँचने पर आत्मा का पतन नहीं होता।

चंदेसु निम्मलयरा-चन्द्रमा में तो दाग है लेकिन अरिहंत प्रभु बेदाग हैं। अरिहंत प्रभु अपने निर्मल ज्ञान से सभी में निर्मल आत्मिक शान्ति प्रदान करते हैं। उनकी वाणी विषय कषाय रूपी संताप का हरण कर एकान्त शान्ति-शीतलता प्रदान करती है।

आइच्चेसु अहियं पयासयरा-सूर्य तो नियमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है, लेकिन तीर्थङ्कर प्रभु अपने दिव्य ज्ञान से तीन लोक को प्रकाशित करते हैं।

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु-यह लाक्षणिक भाषा है इसका अर्थ होता है-सिद्ध प्रभु के आलम्बन से मुझे सिद्धि प्राप्त हो। सिद्धि-अनन्तर सिद्धि-निरतिचार व्रत पालन रूप-उद्देश्य पूर्ति। परम्पर सिद्धि-मोक्ष रूपी उद्देश्य पूर्ति।

❑❑❑

तृतीय अध्ययन

वंदना

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन 29 में गौतमस्वामी भगवान महावीर से पूछते हैं कि–

वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

हे भगवन्! वंदना करने से आत्मा को क्या लाभ होता है? उत्तर में भगवान महावीर स्वामी फरमाते हैं कि–''**वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ।**''

अर्थात्– वंदना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है। सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है। सभी उसकी आज्ञा स्वीकार करते हैं और वह दाक्षिण्य भाव-कुशलता एवं सर्वप्रियता को प्राप्त करता है।

दूसरे अध्ययन में सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक व्रत के उपदेशक तीर्थङ्करों का गुणोत्कीर्तन किया गया है। तीर्थङ्करों से उपदिष्ट वह सामायिक व्रत गुरु महाराज की कृपा से प्राप्त हो सकता है इस कारण गुरुवंदना ही प्रतिक्रमण करने का शिष्टाचार होने से गुरुवंदना करना आवश्यक है। अतएव अब वंदनाध्ययन नामक तीसरा अध्ययन प्रारंभ करते हैं–इच्छामि खमासमणो।

जो व्यक्ति अपने इष्ट देव–तीर्थङ्कर भगवन्तों की स्तुति करता है, गुण–स्मरण करता है, वही तीर्थङ्कर भगवान के बताए हुए मार्ग पर चलने वाले, जिनवाणी का उपदेश देने वाले गुरुओं को यथाविधि भक्तिभाव पूर्वक वंदन–नमस्कार कर सकता है अतएव चतुर्विंशतिस्तव के बाद वंदना अध्ययन को स्थान दिया गया है।

इच्छामि खमासमणो

मूल– **इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिउग्गहं, निसीहि, अहो कायं काय–संफासं खमणिज्जो भे!**

किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेणं भे! दिवसो वइक्कंतो[1] जत्ता भे जवणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो, देवसियं[2] वइक्कमं आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए[3] आसायणाए तित्तिसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए, मणदुक्कडाए, वय-दुक्कडाए, कायदुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए, सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्व धम्माइक्कमणाए, आसायणाए, जो मे देवसिओ[4] अइयारो कओ तस्स खमासमणो, पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

संस्कृत छाया– इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या, अनुजानीत मे मितावग्रहम्। निषिध्य अध:कायं कायसंस्पर्शम्। क्षमणीयो भवद्भि: क्लम:। अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्त:?, यात्रा भवताम्? यापनीयं च भवताम्? क्षमयामि क्षमाश्रमण! दैवसिकं व्यतिक्रमम्। आवश्यक्या प्रतिक्रमामि क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्याभूतया मनोदुष्कृतया वचोदुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया दैवसिकोऽतिचार: कृतस्तस्य क्षमाश्रमण! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।

अन्वयार्थ–इच्छामि = चाहता हूँ, **खमासमणो** = हे क्षमाश्रमण!, **वंदिउं** = वन्दना करना, **जावणिज्जाए** = शक्ति के अनुसार, **निसीहियाए** = शरीर को पाप क्रिया से हटा करके, **अणुजाणह मे** = आप मुझे आज्ञा दीजिए, **मिउग्गहं =** मितावग्रह (परिमित अर्थात् चारों ओर साढ़े तीन हाथ भूमि) में प्रवेश करने की आज्ञा पाकर शिष्य बोले कि हे गुरुदेव! मैं, **निसीहि** = समस्त सावद्य व्यापारों को मन, वचन, काया से रोक कर, **अहो कायं** = आपकी अधोकाया (चरणों) को, **काय-संफासं** = मेरी काया (हाथ और मस्तक) से स्पर्श करता हूँ (छूता हूँ), **खमणिज्जो भे किलामो** = इससे आपको मेरे द्वारा अगर कष्ट पहुँचा हो तो उस कष्ट प्रदाता को अर्थात् मुझे क्षमा करें, **अप्पकिलंताणं** = हे गुरु महाराज! अल्प ग्लान अवस्था में रहकर, **बहुसुभेणं** = बहुत शुभ क्रियाओं से सुख शान्ति पूर्वक, **भे! दिवसो वइक्कंतो ?** = आपका दिवस बीता है

1.	2.	3.	4.	
दिवसो वइक्कंतो	देवसियं	देवसियाए	देवसिओ	दैवसिक प्रतिक्रमण
राइ वइक्कंता	राइयं	राइयाए	राइओ	रात्रिक प्रतिक्रमण
पक्खो वइक्कंतो	पक्खियं	पक्खियाए	पक्खिओ	पाक्षिक प्रतिक्रमण
चाउम्मासो वइक्कंतो	चाउम्मासियं	चाउम्मासियाए	चाउम्मासिओ	चातुर्मासिक प्रतिक्रमण
संवच्छरो वइक्कंतो	संवच्छरियं	संवच्छरियाए	संवच्छरिओ	सांवत्सरिक प्रतिक्रमण

न?, **जत्ता भे ?** = आपकी संयम रूप यात्रा निराबाध है न ?, **जवणिज्जं च भे** = आपका शरीर, इन्द्रिय और मन की पीड़ा (बाधा) से रहित है न ?, **खामेमि खमासमणो** = हे क्षमाश्रमण! क्षमा चाहता हूँ, **देवसियं वइक्कमं** = जो दिवस भर में अतिचार (अपराध) हो गये हैं उसके लिए, **आवस्सियाए पडिक्कमामि** = आपकी आज्ञा रूप आवश्यक क्रियाओं के आराधन में दोषों से निवृत्ति (बचने का प्रयत्न) रूप प्रतिक्रमण करता हूँ, **खमासमणाणं** = आप क्षमावान श्रमणों की, **देवसियाए** = दिवस सम्बन्धी आशातना की हो, **आसायणाए तित्तिसन्नयराए** = तेतीस आशातनाओं में से कोई भी आशातना का सेवन किया हो, **जं किंचि मिच्छाए =** जिस किसी भी मिथ्या भाव से किया हो, **मणदुक्कडाए** = (चाहे वह) मन के अशुभ परिणाम से, **वयदुक्कडाए** = दुर्वचन से, **कायदुक्कडाए** = शरीर की दुष्ट चेष्टा से, **कोहाए माणाए मायाए लोहाए** = क्रोध, मान, माया, लोभ से, **सव्वकालियाए** = सर्वकाल (भूत, वर्तमान, भविष्य) में, **सव्व मिच्छोवयाराए** = सर्वथा मिथ्योपचार से पूर्ण, **सव्व धम्माइक्कमणाए** = सकल धर्मों का उल्लंघन करने वाली, **आसायणाए** = आशातनाओं का सेवन किया या हुआ, **जो मे देवसिओ** = (अर्थात्) जो मैंने दिवस सम्बन्धी, **अइयारो कओ** = अतिचार (अपराध) किया, **तस्स खमासमणो** = उसका हे क्षमाश्रमण!, **पडिक्कमामि** = प्रतिक्रमण करता हूँ, **निंदामि** = आत्म साक्षी से निन्दा करता हूँ, **गरिहामि** = आपकी (गुरु की) साक्षी से गर्हा करता हूँ, **अप्पाणं वोसिरामि** = दूषित आत्मा को त्यागता हूँ।

भावार्थ–हे क्षमावान् श्रमण! मैं अपने शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर यथाशक्ति वंदना करना चाहता हूँ। इसलिये मुझको परिमित भूमि (अवग्रह) में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। पाप क्रिया को रोककर मैं आपके चरणों का मस्तक से स्पर्श करता हूँ। मेरे द्वारा छूने से आपको बाधा हुई हो तो उसे क्षमा कीजिये। आपने अग्लान अवस्था में रहकर बहुत शुभ क्रियाओं से दिवस बिताया है। आपकी संयम यात्रा तो निर्बाध है और आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियों की पीड़ा से तो रहित है?

हे क्षमावान् श्रमण! मैं आपको दिवस संबंधी अपराध के लिए खमाता हूँ और आवश्यक क्रिया करने में जो विपरीत अनुष्ठान हुआ है उससे निवृत्त होता हूँ। आप क्षमाश्रमण की दिवस में की हुई तेतीस में से किसी भी आशातना द्वारा मैंने जो दिवस संबंधी अतिचार सेवन किया हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ तथा किसी भी मिथ्या भाव से की हुई, दुष्ट मन से, वचन से और काया से की हुई, क्रोध, मान, माया और लोभ से की हुई, भूतकालादि सर्वकाल संबंधी सर्व मिथ्योपचार से की गई, धर्म का उल्लंघन करने वाली आशातना के द्वारा जो मैंने दिवस संबंधी अतिचार सेवन किया हो, तो हे क्षमाश्रमण! उससे मैं निवृत्त होता हूँ, आपकी मैं निंदा करता हूँ और विशेष निंदा करता हूँ, गुरु के समक्ष निंदा करता हूँ और आत्मो को (अपने आपको) पाप संबंधी व्यापारों से निवृत्त करता हूँ।

विवेचन–खमासमणो देने की विधि–इच्छामि खमासमणो का पाठ प्रारम्भ कर जब निसीहि शब्द आवे तब दोनों घुटने खड़े कर उत्कटुक आसन से बैठे, घुटनों के बीच में दोनों हाथ जोड़े हुए ''निसीहि'' के

पश्चात् 'अहो'-'कायं'-'काय'-ये तीन आवर्तन मस्तक नमाकर इस प्रकार दें-कमलमुद्रा में अञ्जलिबद्ध (हाथ जोड़कर) दोनों हाथों से गुरुचरणों को स्पर्श करने के भाव से मंद स्वर से 'अ' अक्षर कहना, तत्पश्चात् अञ्जलिबद्ध हाथों को मस्तक पर लगाते हुए उच्च स्वर से 'हो' अक्षर कहना, यह पहला आवर्तन है। इसी प्रकार 'का.......यं' और 'का.......य' के शेष दो आवर्तन भी दिये जाते हैं।

'वइक्कंतो' के पश्चात् 'ज त्ता भे', 'ज व णि', 'ज्जं च भे'-ये तीन आवर्तन इस प्रकार दें-कमल-मुद्रा से अञ्जलि बाँधे हुए दोनों हाथों से गुरुचरणों को स्पर्श करने के भाव से मन्दस्वर में 'ज' अक्षर कहना चाहिए। पुन: हृदय के पास अञ्जलि लाते हुए मध्यम स्वर से 'त्ता' अक्षर कहना तथा फिर अपने मस्तक को छूते हुए उच्च स्वर से 'भे' अक्षर कहना चाहिए। यह प्रथम आवर्तन है। इसी पद्धति से 'ज.......व.......णि' और 'ज्जं.......च.......भे' ये शेष दो आवर्तन भी करने चाहिए। प्रथम खमासमणो के पाठ में उपर्युक्त छह तथा इसी प्रकार दूसरे खमासमणो के पाठ में भी छह, कुल बारह आवर्तन होते हैं।

फिर 'वइक्कमं' तक बैठे-बैठे बोले। फिर खड़े होकर ''आवस्सियाए पडिक्कमामि'' तथा शेष सम्पूर्ण पाठ बोलें। इसी प्रकार दूसरी बार भी 'खमासमणो' देवें किन्तु इसमें 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' नहीं बोलें व 'वइक्कमं' शब्द बोलने के बाद खड़े न होवें, सम्पूर्ण पाठ बैठे-बैठे ही बोलें।

हृदय की स्वतन्त्र भावना है, बलात् नहीं। यह इच्छामि शब्द का अर्थ है; अथवा मेरी वन्दना करने की इच्छा है, आप उचित समझें तो आज्ञा दीजिये-**'एत्थ वंदित्तुमित्यावेदनेन अप्पछंदा परिहारिता'** अर्थात् यहाँ पर इस प्रकार के निवेदन के द्वारा आत्मछंद अर्थात् स्वयं की स्वच्छंदता का परिहार किया गया है।

खमासमणो-'श्रमण:, शमन:, समना:, समण:' इन चारों का प्राकृत में 'समणो' ऐसा रूप बनता है अत: संस्कृत छाया के अनुसार इन चारों का अलग-अलग अर्थ कहते हैं-बारह प्रकार की तपस्या में श्रम (परिश्रम) करने वाले, अथवा इन्द्रिय नोइन्द्रिय (मन) का दमन करने वाले को **'श्रमण'** कहते हैं। कषाय-नोकषाय रूप अग्नि को शांत करने वाले, या संसार रूप अटवी में फैली हुई कामभोग रूप अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाओं के भयङ्कर ताप से आत्मा को अलग करने वाले को **'शमन'** कहते हैं। शत्रु-मित्र में एक-सा मन रखने वाले, अथवा विशुद्ध मन वाले को **'समना'** कहते हैं। अच्छी तरह प्रवचन का उपदेश देने वाले, अथवा संयम के बल से कषाय को जीतकर रहने वाले को **'समण'** कहते हैं। परंतु यहाँ पर प्रसिद्धि के कारण **'श्रमण'** शब्द को लेकर ही व्याख्या करते हैं-क्षमा है प्रधान जिनमें उनको 'क्षमाश्रमण' कहते हैं। अत: इस शब्द के द्वारा शिष्य अपराधों के प्रति क्षमा दान प्राप्त करने की भावना व्यक्त करता है।

यापनीय-संस्कृत में 'या प्रापणे' धातु है, प्रापण का अर्थ है-'एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना इस धातु से 'यापनीय' शब्द बना है। जिसका अर्थ यहाँ पर यह है कि स्वस्थ मन और पाँचों इन्द्रियों सहित धर्म कार्य करने में समर्थ शरीर।

निसीहियाए–(मूल शब्द 'निसीहिया' इसका संस्कृत रूप नैषेधिकी होता है) आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं–**'निषेधनं–निषेध: निषेधेन निर्वृता नैषेधिकी प्राकृतशैल्या छंदसत्वाद् नैषेधिकेत्युच्यते।** ·······'नैषेधिक्या प्राणातिपातादि निवृत्तया तन्वा शरीरेणेत्यर्थ:।' अर्थात् प्राणातिपातादि से निवृत्त (बने) हुए शरीर को नैषेधिकी कहते हैं। आचार्य जिनदास नैषेधिकी के शरीर, वसति स्थान और स्थण्डिल भूमि–इस तरह 3 अर्थ करते हैं। मूलत: नैषेधिकी शब्द आलय–स्थान का वाचक है। शरीर भी जीव का आलय है। अत: वह भी नैषेधिकी कहलाता है। निषेध का अर्थ त्याग है। मानव शरीर त्याग के लिए ही है। अत: वह नैषेधिकी कहलाता है। अथवा जीव हिंसादि पापाचरणों का निषेध–निवृत्ति करना ही जिसका प्रयोजन है वह शरीर नैषेधिकी कहलाता है। यापनीय नैषेधिकी का विशेषण है। जिसका अर्थ है–शारीरिक शक्ति। अत: 'जावणिज्जाए' का अर्थ होता है कि मैं अपनी शक्ति से त्याग प्रधान नैषेधिकी शरीर से वन्दन करना चाहता हूँ।

मिउग्गहं–मितावग्रह का अर्थ आचार्य हरिभद्रसूरि इस प्रकार करते हैं–**'चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्मप्रमाणं क्षेत्र अवग्रह:, तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते'** अर्थात् आचार्य (गुरुदेव) के चारों दिशा में आत्म–प्रमाण अर्थात् शरीर प्रमाण साढ़े 3 हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है, इस अवग्रह में गुरु की आज्ञा बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। इसी बात को प्रवचन सारोद्धार के वन्दन द्वार में आचार्य नेमिचन्द्रसूरि स्पष्ट करते हैं–

आयप्पमाणमित्तो चउद्दिसि होई उग्गहो गुरुणो।
अणणुज्जायस्स सया, न कप्पए तत्थ पविसेउं।।126।।

अहोकायं–(अध: काय) शरीर का सबसे नीचे का भाग अध: काय है, अत: वे चरण ही हैं।

कायसंफासं–(काय संस्पर्श) काया से अच्छी तरह स्पर्श करना।

आचार्य जिनदास अर्थ करते हैं–**अप्पणो काएण हत्थेहिं फुसिस्सामि।'**

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार–**'कायेन निजदेहेन संस्पर्श:।'**

पूरे शरीर से स्पर्श अर्थात् मस्तक के द्वारा स्पर्श करता हूँ। क्योंकि मस्तक शरीर का मुख्य अंग है। यहाँ शरीर से स्पर्श करने का तात्पर्य सारा शरीर समर्पित करता हूँ और उपलक्षण से वचन और मन का भी अर्पण समझ लेना चाहिए।

अप्पकिलंताणं–यहाँ अप्प (अल्प) शब्द स्तोकवाची न समझकर अभाववाचक समझना चाहिए। अत: अर्थ होगा–ग्लानि रहित–बाधा रहित।

जत्ता–तप, नियम, संयम, ध्यान स्वाध्यायादि योग की साधना में यतना–प्रवृत्ति है वही यात्रा है।

जवणिज्जं (यापनीय)–शरीर इन्द्रिय और नोइन्द्रिय की पीड़ा से रहित है, अर्थात् दोनों वश में हैं? भगवती सूत्र–(सोमिल पृच्छा) में नोइन्द्रिय से तात्पर्य कषायोपशान्ति से है अर्थात् इन्द्रिय (विषय) और कषाय शरीर को बाधा तो नहीं देते हैं।

आवस्सियाए–अवश्य करने योग्य। चरणसत्तरी, करणसत्तरी रूप श्रमण के योग आवश्यक कहे जाते हैं। आवश्यक करते समय प्रमादवश जो रत्नत्रय की विराधना हो जाती है, वह आवश्यिकी कहलाती है। अत: 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' का अभिप्राय यह है कि मेरे से आवश्यक योग की साधना करते समय जो भूल हो गयी हो, उस आवश्यिकी भूल का प्रतिक्रमण करता हूँ।

किन्हीं के मत से–जैसे आवश्यक कार्य के लिए अपने स्थान से बाहर जाने पर 'आवस्सही-आवस्सही' कहा जाता है। उसी प्रकार यहाँ खमासमणो में 33 आशातनाओं का पहले चिन्तन करने के लिए गुरु के अवग्रह से बाहर निकलना होता है, अर्थात् आवश्यक कार्य करने के लिए 'पडिक्कमामि' अर्थात् अपने स्थान से पीछे हटता हूँ, आपके अवग्रह से बाहर निकलता हूँ।

कोहाए–(क्रोधा) क्रोधवती आशातना–क्रोध के निमित्त से होने वाली आशातना **'क्रोधा'** अर्थात् क्रोधवती कहलाती है।

सव्वकालियाए–आचार्य जिनदास सर्व अतीत काल ग्रहण करते हैं। **'सव्वकाले भवा सव्वकालिगी–पक्खिया, चाउम्मासिया, संवच्छरिया इहं भवे अण्णेसु वा अतीतेसु भवग्गहणेसु सव्वमतीतद्धाकाले।'**

आचार्य हरिभद्र त्रिकाल ग्रहण करते हैं–

'अधुनेहमान्यभवर्गताऽतीतानागत काल संग्रहार्थमाह।
सर्वकालेन अतीतादिना निर्वृता सार्वकालिकी तया।।'

भविष्य में गुरुदेव की आज्ञा के लिए किसी प्रकार की अवहेलना का भाव रखना, संकल्प करना अनागत आशातना है।

❑❑❑

चतुर्थ अध्ययन

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं जिसमें प्रमादवश स्खलना न हो सके। चाहे लघुशंका से निवृत्त होते समय, चाहे शौचनिवृत्ति करते समय, चाहे प्रतिलेखना करते समय, चाहे भिक्षा के लिए इधर-उधर जाते समय साधक को उन स्खलनाओं के प्रति सतत् जागरूक रहना चाहिये। उन स्खलनाओं के सम्बन्ध में किंचित् मात्र भी उपेक्षा न रखकर उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। क्योंकि प्रतिक्रमण जीवन को माँजने की एक अपूर्व क्रिया है।

साधक प्रतिक्रमण में अपने जीवन का गहराई से निरीक्षण करता है, उसके मन में, वचन में, काया में एकरूपता होती है। साधक साधना करते समय कभी क्रोध, मान, माया, लोभ से साधनाच्युत हो जाता है, उससे भूल हो जाती है तो वह प्रतिक्रमण के समय अपने जीवन को गहराई से अवलोकन कर एक-एक दोष का परिष्कार करता है। यदि मन में छिपे हुए दोष को लज्जा के कारण प्रकट नहीं कर सका, उन दोषों को भी सद्गुरु के समक्ष या भगवान की साक्षी से प्रकट कर देता है। जैसे कुशल चिकित्सक परीक्षण करता है और शरीर में रही हुई व्याधि को एक्स-रे आदि के द्वारा बता देता है, वैसे ही प्रतिक्रमण के साधक प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन करते हुए उन दोषों को **व्यक्त** कर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण साधक-जीवन की एक अपूर्व क्रिया है। यह वह डायरी है जिसमें साधक अपने दोषों की सूची लिख कर एक-एक दोष से मुक्त होने का उपक्रम करता है। वही कुशल व्यापारी कहलाता है, जो प्रतिदिन सायंकाल देखता है कि आज के दिन मैंने कितना लाभ प्राप्त किया है। जिस व्यापारी को अपनी आमदनी का ज्ञान नहीं है, वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता। साधक को देखना चाहिये कि आज के दिन ऐसा कौन-सा कर्त्तव्य था जो मुझे करना चाहिये था, किंतु प्रमाद के कारण मैं उसे नहीं कर सका? मुझे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं होना चाहिये था। इस प्रकार वह अपनी भूलों का स्मरण करता है। भूलों का स्मरण करने से उसे अपनी सही स्थिति का परिज्ञान हो जाता है। जब तक भूलों का स्मरण नहीं होगा, भूल को भूल नहीं समझा जायेगा, तब तक उनका परिष्कार हो नहीं सकता। साधक अनेक बार अपनी भूलों को भूल न मानकर उन्हें सही मानता है पर वस्तुत: वह उसकी भूलें ही होती हैं। कितने ही व्यक्ति भूल को भूल समझते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते, पर जब साधक अन्तर्निरीक्षण करता है तो उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता

है। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध विचारक फ्रेंकलिन ने अपने जीवन को डायरी के माध्यम से सुधारा था। उसके जीवन में अनेक दुर्गुण थे। वह अपने दुर्गुणों को डायरी में लिखा करता था और फिर गहराई से उनका चिन्तन करता था कि इस सप्ताह में मैंने कितनी भूलें की हैं। अगले सप्ताह में इन भूलों की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा। इस प्रकार डायरी के द्वारा उसने जीवन में दुर्गुणों को धीरे-धीरे निकाल दिया था और एक महान सद्‌गुणी चिन्तक बन गया था।

प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने में पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं। पापाचरण शल्य के सदृश है। यदि उसे बाहर नहीं निकाला गया, मन में ही छिपा कर रखा गया तो उसका विष अन्दर ही अन्दर बढ़ता चला जायेगा और वह विष साधक के जीवन को बरबाद कर देगा।

मानव की एक बड़ी कमजोरी यह है कि वह अपने सद्‌गुणों को तो सदा स्मरण रखता है किन्तु दुर्गुणों को भूल जाता है। साथ ही वह अन्य व्यक्तियों को अपने सद्‌गुणों की सूची प्रस्तुत करता है और दूसरों के दुर्गुणों की गाथाएँ गाता हुआ नहीं अघाता। जबकि साधक को दूसरों के सद्‌गुण और अपने दुर्गुण देखने चाहिये। प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्दों में निन्दा और गर्हा शब्द प्रयुक्त हुये हैं। दूसरों की निन्दा से कर्म-बन्धन होता है और स्वनिन्दा से कर्मों की निर्जरा होती है। जब साधक अपने जीवन का निरीक्षण करता है तो उसे अपने जीवन में हजारों दुर्गुण दिखाई देते हैं। उन दुर्गुणों को वह धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करता है। साधक के जीवन की यह विशेषता है कि वह गुणग्राही होता है। उसकी दृष्टि हंस-दृष्टि होती है। वह हंस की तरह सद्‌गुणों के पथ को ग्रहण करता है, मुक्ताओं को चुगता है। वह काक की तरह विष्ठा पर मुँह नहीं रखता।

प्रतिक्रमण के लाभ

प्रतिक्रमण ऐसी औषधि है जिसका प्रतिदिन सेवन करने से विद्यमान रोग शांत हो जाते हैं, रोग नहीं होने पर उस औषधि के प्रभाव से वर्ण, रूप, यौवन और लावण्य आदि में वृद्धि होती है और भविष्य में रोग नहीं होते। इसी प्रकार यदि दोष लगे हो तो प्रतिक्रमण द्वारा उनकी शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा हो तो प्रतिक्रमण चारित्र की विशेष शुद्धि करता है।

व्रत में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत् जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है।

प्रतिक्रमण का लाभ बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 29वें में गौतमस्वामी ने प्रभु से पृच्छा की है कि-**पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

अर्थात् हे भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

प्रभु फरमाते हैं–''**पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।**''

अर्थात् प्रतिक्रमण करने वाला व्रतों में बने हुए छिद्रों को बंद करता है फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोक कर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक अपनी इन्द्रियों को उन्मार्ग से हटा कर सन्मार्ग (संयम मार्ग) में विचरण करता है यानी आत्मा संयम के साथ एकमेक हो जाती है। इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती है और मन आत्मा में रम जाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण–जो वापस लौटने की प्रक्रिया से चालू हुआ था, वह धीरे–धीरे आत्म–स्वरूप की स्थिति में पहुँच जाता है। यही है प्रतिक्रमण का पूर्ण फल। यही है प्रतिक्रमण की उपलब्धि।

चत्तारि-मंगलं का पाठ

मूल– **चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलि–पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो। चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलि–पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि। अरिहन्तों का शरणा, सिद्धों का शरणा, साधुओं का शरणा, केवली प्ररूपित दया धर्म का शरणा।**

चार शरणा दु:ख हरणा, और न शरणा कोय।
जो भव्य प्राणी आदरे, तो अक्षय अमर पद होय।।

संस्कृत छाया– चत्वारो मंगलम्–अर्हन्तो मंगलं, सिद्धा मंगलं, साधवो मंगलं, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मंगलम्। चत्वारो लोकोत्तमा:–अर्हन्तो लोकोत्तमा:, सिद्धा लोकोत्तमा:, साधवो लोकोत्तमा:, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तम:। चतुर: शरणं प्रपद्ये अर्हत: शरणं प्रपद्ये, सिद्धान् शरणं प्रपद्ये, साधून् शरणं प्रपद्ये, केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये।।

अन्वयार्थ–चत्तारि मंगलं = चार मंगल हैं, **अरिहंता मंगलं** = अरिहन्त मंगल हैं, **सिद्धा मंगलं** = सिद्ध मंगल हैं, **साहू मंगलं** = साधु मंगल हैं, **केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं** = केवली प्ररूपित दया धर्म

मंगल है, **चत्तारि लोगुत्तमा** = चार लोक में उत्तम हैं, **अरिहंता लोगुत्तमा** = अरिहन्त लोक में उत्तम हैं, **सिद्धा लोगुत्तमा** = सिद्ध लोक में उत्तम हैं, **साहू लोगुत्तमा** = साधु लोक में उत्तम हैं, **केवलि-पण्णत्तो धम्मो** = केवली प्ररूपित धर्म, **लोगुत्तमो** = लोक में उत्तम है, **चत्तारि सरणं पवज्जामि** = चार शरणों को ग्रहण करता हूँ, **अरिहंते सरणं पवज्जामि** = अरिहंत भगवान की शरण ग्रहण करता हूँ, **सिद्धे सरणं पवज्जामि** = सिद्ध भगवान की शरण ग्रहण करता हूँ, **साहू सरणं पवज्जामि** = साधुओं की शरण ग्रहण करता हूँ, **केवलि-पण्णत्तं धम्मं** = केवली प्ररूपित दया धर्म की, **सरणं पवज्जामि** = शरण ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ–संसार में चार मंगल हैं-(1) अरिहंत भगवान मंगल हैं। (2) सिद्ध भगवान मंगल हैं। (3) साधु-महाराज मंगल हैं। (4) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म मंगल है।

संसार में चार उत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं-(1) अरिहंत भगवान लोक में उत्तम हैं। (2) सिद्ध भगवान लोक में उत्तम हैं। (3) साधु-महाराज लोक में उत्तम हैं। (4) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म लोक में उत्तम हैं।

मैं चार की शरण स्वीकार करता हूँ-(1) अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ (2) सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ, (3) साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ, (4) सर्वज्ञप्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

विवेचन–प्रस्तुत मंगल चतुष्टयी में प्रथम के दो मंगल आदर्श रूप हैं। हमारे जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्रमश: अरिहन्त और सिद्ध भगवान हैं। अरिहन्त पद में जीवन को सर्वथा राग-द्वेष से रहित बनाया जाता है और सिद्ध पद में जीवन की पूर्णता को, सिद्धता को प्राप्त कर लिया जाता है। अरिहन्त, सिद्ध का स्मरण करते ही हमें अपने गन्तव्य लक्ष्य का ध्यान आ जाता है।

साधु मंगल–हमारे जीवन का अनुभवी साथी एवं मार्ग-प्रदर्शक है। आध्यात्मिक क्षेत्र में आज सीधा प्रकाश इन्हीं से मिलता है। हमारे सामने जबकि अरिहन्त सिद्ध पूर्ण सिद्धता के आदर्श मंगल हैं, तब साधु साधकता के आदर्श मंगल हैं। साधु पद में आचार्य, उपाध्याय और मुनि तीनों का ग्रहण होता है।

धर्म मंगल–सबसे अन्त में है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह गौण मंगल है। यदि वास्तविकता को देखा जाय तो पूर्वोक्त तीनों मंगलों का निर्माण धर्म के द्वारा ही होता है। बिना धर्म के साधु क्या, और बिना साधना किए अरिहन्त और सिद्ध की सिद्धता क्या ? सूत्रकार ने अन्त में धर्म का उल्लेख करके इसी सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है कि धर्म ही सब मंगलों का मूल है।

अनन्त काल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले ये ही चार उत्तम हैं। आत्मजागृति के क्षेत्र में हम इनकी दूसरी उपमा नहीं पाते। आकाश की उपमा देने के लिए क्या कोई दूसरा आकाश है ? समुद्र की उपमा बताने के लिए क्या कोई दूसरा जलाशय है ? अखिल त्रिलोकी में उत्तमता की शोध करते हुए हमारे पूर्व महर्षियों को ये चार ही उत्तम मंगल मिले।

संसार के जितने भी पदार्थ हैं, मनुष्य को शरण नहीं दे सकते। न धन, न राज्य, न ऐश्वर्य, न सेना, न परिजन, न मित्र, न शरीर, न बुद्धि, न और कुछ। जीवन के अन्तिम क्षणों का दृश्य हमारे सामने है। उस समय कौन शरण देता है ? अनादिकाल से मोह-माया में व्याकुल जीवात्मा का यदि उद्धार हो सकता है, कल्याण हो सकता है, तो पूर्व सूत्रोक्त चार उत्तमों की शरण में आने पर ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, शरण नहीं है।

इरियावहियं सुत्तं

(आलोचना/ईर्यापथिक-सूत्र)

मूल- **इच्छाकारेणं संदिसह भगवं! इरियावहियं पडिक्कमामि इच्छं! इच्छामि पडिक्कमिउं। इरियावहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे, बीयक्कमणे, हरियक्कमणे, ओसा, उत्तिंग, पणग, दग, मट्टी, मक्कडा संताणा संकमणे, जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचिंदिया अभिहया, वत्तिया, लेसिया, संघाइया, संघट्टिया, परियाविया, किलामिया, उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**

संस्कृत छाया- इच्छाकार: संदिशत भगवन् ईर्यापथिकं प्रतिक्रामामि इच्छां इच्छामि प्रतिक्रमितु-मैर्यापथिक्या:(क्यां) विराधनाया: (यां), गमनागमने प्राणातिक्रमणे, बीजाक्रमणे, हरिताक्रमणे, अवश्यायोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कट-सन्तानसंक्रमणे ये मया जीवा विराधिता:-एकेन्द्रिया:, द्वीन्द्रिया:, त्रीन्द्रिया:, चतुरिन्द्रिया:, पञ्चेन्द्रिया:, अभिहता:, वर्त्तिता:, श्लेषिता:, संघातिता:, संघट्टिता:, परितापिता:, क्लमिता:, अपद्राविता:, स्थानात्स्थानं संक्रामिता:, जीविताद्व्य-परोपितास्तस्य मिथ्या मयि दुष्कृतम्।।

अन्वयार्थ-इच्छाकारेणं संदिसह भगवं! = हे भगवन्! इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिए, **इरियावहियं पडिक्कमामि** = मार्ग में आने = जाने सम्बन्धी क्रिया का प्रतिक्रमण करूँ, **इच्छं** = (आज्ञा मिलने पर साधक बोलता है कि) आपकी आज्ञा स्वीकार है, **इच्छामि** = चाहता हूँ, **पडिक्कमिउं** = निवृत्त होना (प्रतिक्रमण करना), **इरियावहियाए** = ईर्या (आने-जाने का) पथ सम्बन्धी, **विराहणाए** = विराधना से, **गमणागमणे** = जाने व आने में, **पाणक्कमणे** = प्राणी के दबने से, **बीयक्कमणे** = बीज के दबने से, **हरियक्कमणे** = हरी (वनस्पति) के दबने से, **ओसा** = ओस का पानी, **उत्तिंग** = कीड़ियों के बिल, **पणग**

= पाँच प्रकार की काई (पाँच रंग की काई), **दग** = सचित्त पानी, **मट्टी** = सचित्त मिट्टी, **मक्कडा संताणा** = मकड़ी के जाले को, **संकमणे** = कुचल जाने से, **जे मे जीवा विराहिया** = जो मेरे द्वारा जीवों की विराधना हुई अथवा जो मैंने जीवों की विराधना की, **एगिंदिया** = (उन) एक इन्द्रिय वाले, **बेइंदिया** = दो इन्द्रियों वाले, **तेइंदिया** = तीन इन्द्रियों वाले, **चउरिंदिया** = चार इन्द्रियों वाले, **पंचिंदिया** = पाँच इन्द्रियों वाले जीवों को, **अभिहया** = सामने आते हुए को ठेस पहुँचाई हो, **वत्तिया** = धूल आदि से ढँके हों, **लेसिया** = भूमि आदि पर रगड़े-मसले हों, **संघाइया** = इकट्ठे किये हों, **संघट्टिया** = पीड़ा पहुँचे जैसे गाढ़े छुए हों, **परियाविया** = परिताप (कष्ट) पहुँचाया हो, **किलामिया** = खेद उपजाया हो, **उद्दविया** = हैरान किया हो, **ठाणाओ ठाणं संकामिया** = एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखे हों, **जीवियाओ ववरोविया** = जीवन (प्राणों) से रहित किया हो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं** = वह मेरा पाप मिथ्या हो (निष्फल हो)।

भावार्थ–मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। मार्ग में चलते हुये अथवा संयमधर्म पालन करते हुये लापरवाही अथवा असावधानी के कारण किसी भी जीव की किसी प्रकार की विराधना अर्थात् हिंसा हुई हो तो मैं उस पाप से निवृत्त होना चाहता हूँ।

स्वाध्याय आदि के लिए उपाश्रय से बाहर जाने में और फिर लौटकर उपाश्रय आने में अथवा मार्ग में कहीं गमनागमन करते हुये प्राणियों को पैरों के नीचे या किसी अन्य प्रकार से कुचला हो, सचित्त जौ, गेहूँ या किसी भी तरह के बीजों को कुचला हो, घास, अंकुर आदि हरित वनस्पति को मसला हो, दबाया हो तो मेरा वह सब अतिचारजन्य पाप मिथ्या हो–निष्फल हो तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तक किसी भी जीव की विराधना–हिंसा की हो, सामने आते हुये को रोका हो, धुल आदि से ढँका हो, जमीन पर या आपस में मसला हो, एकत्रित करके ऊपर नीचे ढेर किया हो, असावधानी से क्लेशजनक रीति से हुआ हो, जीवन से रहित किया हो, ताो मेरा वह सब पाप मिथ्या हो–निष्फल हो।

विवेचन–आचार्य नमि ने प्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति में **ऐर्यापथिकी** शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है–**'ईरणं–ईर्यागमनमित्यर्थः, तत् प्रधानः पन्था ईर्यापथस्तत्र भवा विराधना ऐर्यापथिकी।'** अर्थात् ईर्या का अर्थ गमन है। गमन युक्त जो पथ–मार्ग है वह ईर्यापथ कहलाता है। ईर्यापथ में होने वाली क्रिया (विराधना) ऐर्यापथिकी होती है।

आचार्य श्री हेमचन्द्र एक और भी अर्थ करते हैं–**'ईर्यापथः साध्वाचारः तत्र भवा ऐर्यापथिकी'** अर्थात् ईर्यापथ का अर्थ श्रेष्ठ आचार और उसमें गमनागमनादि के कारण असावधानी से जो दूषण रूप क्रिया हो जाती है उसे ऐर्यापथिकी कहते हैं।

ऐर्यापथिकी सूत्र जहाँ एक ओर विनय–भावना का स्वतः स्फूर्त्त रूप प्रकट करता है, वहाँ दूसरी ओर जैन धर्म की विवेक प्रधान सूक्ष्म–भाव–स्पंदित दयालुता की पवित्र भावना से ओत–प्रोत भगवती अहिंसा का

मूर्त्त रूप भी प्रस्तुत करता है। इसमें गमनागमन के समय सूक्ष्म जीव से लेकर बादर जीवों की सूक्ष्मतम हिंसाजन्य पापों के लिए प्रायश्चित्त कर अपनी आत्मा को स्वच्छ निर्मल बनाने का पवित्र सन्देश है।

'इच्छाकारेणं संदिसह भगवं, इरियावहियं पडिक्कमामि' वाक्यांश में साधक भगवान से या गुरु महाराज से गमनागमन में लगे हुए पापों की विशुद्धि हेतु आज्ञा लेने का उपक्रम करता है। विनय और नम्रता का कितना उदात्त भाव है कि यदि आपकी इच्छा हो तो मार्ग में चलने की क्रिया रूप पाप से निवृत्त होने के लिए प्रायश्चित्त करूँ ? अपने पापों की आलोचना करने हेतु भी गुरुजन की स्वीकृति। 'इच्छं इच्छामि, पडिक्कमिउं, इरियावहियाए' वाक्यांश में भगवान की आज्ञा शिरोधार्य कर इस इच्छा को पुन: दोहराया गया है।

'पाणक्कमणे········मक्कडा संताणा संकमणे' वाक्यांश में सूक्ष्म जीवों का उल्लेख है जैसे बीज, वनस्पति, ओस, कीड़ी, काई, जल, मिट्टी और मकड़ी के जाले आदि।

फिर 'जे मे जीवा विराहिया' में जीवों के प्रति हुई विराधना, उन्हें दी गयी पीड़ा की ओर संकेत है। सम्पूर्ण जीवों को एक साथ लेने की दृष्टि से पाँच जातियों में बाँटा है।

जीवों की हिंसा-विराधना किस प्रकार ? 'अभिहया······ववरोविया' सूत्रांश में जीव हिंसा के दस प्रकार वर्णन किये गये हैं। इतनी सूक्ष्म हिंसा के लिए भी हार्दिक अनुताप। अहिंसा की कितनी बारीकी। अहिंसा के सम्बन्ध में इतना सूक्ष्म व विश्लेषणात्मक विवेचन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से जीव व उनकी विराधना के भिन्न-भिन्न प्रकारों का उल्लेख कर हृदय से प्रायश्चित्त करते हुए यह कामना अभिव्यक्त की गयी है कि 'तस्स मिच्छामि दुक्कडं' अर्थात् उसका दुष्कृत-पाप मेरे लिये निष्फल सिद्ध होवे। गंदे वस्त्र के साबुन द्वारा स्वच्छ हो जाने की तरह ही, पश्चात्ताप व आत्म निरीक्षण से आत्मदेव भी निर्मल, पाप विमुक्त तथा स्वच्छ-विशुद्ध बन जाता है।

पढमं समणसुत्तं
शय्या सूत्र
(निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ)

मूल- **इच्छामि पडिक्कमिउं, पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संथारा उव्वट्टणाए, परियट्टणाए, आउट्टणपसारणाए, छप्पई-संघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छिइए, जंभाइए, आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सोवण-वत्तियाए, इत्थी[1] विप्परियासियाए, दिट्ठी**

1. साध्वी इत्थी के स्थान पर पुरिस बोले।

विप्परियासियाए, मणविप्परियासियाए, पाणभोअण-विप्परिया-सियाए, जो मे देवसिओ, अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

संस्कृत छाया- इच्छामि प्रतिक्रमितुं प्रकामशय्यया निकामशय्यया संस्तारकोद्वर्त्तनया परिवर्त्तनया आकुञ्चनया प्रसारणया षट्पदीसंघट्टनया कूजिते कर्करायिते क्षुते जृम्भिते आमर्शे सरजस्कामर्शे आकुलाकुलया स्वप्नप्रत्यया स्त्रीवैपर्यासिक्या दृष्टिवैपर्यासिक्या मनोवैपर्यासिक्या पानभोजनवैपर्यासिक्या यो मया दैवसिकोऽतिचार: कृतस्तस्य मिथ्या मयि दृष्कृतम् ।।

अन्वयार्थ-इच्छामि = मैं चाहता हूँ, **पडिक्कमिउं** = प्रतिक्रमण करना, **पगामसिज्जाए** = अधिक सोने या बिना कारण सोने से, **निगामसिज्जाए** = अमर्यादित सोने से, कोमल या मोटी शय्या पर सोने से, **संथारा उव्वट्टणाए** = आसन पर वाम भाग से दक्षिण बाजू बिना पूँजे पसवाड़ा बदला (फेरा) हो, **परियट्टणाए** = बिना पूँजे दूसरा बाजू बदला हो, **आउट्टणपसारणाए** = बिना पूँजे अविधि से अंग के संकोचने व फैलाने से, **छप्पई-संघट्टणाए** = जूँ आदि के संघट्टन करने से, **कूइए** = खुले मुँह खाँसने से या कुचेष्टा करने से, **कक्कराइए** = प्रतिकूल शय्या या स्थान पाकर बड़बड़ाया हो, **छिइए** = अविधि से छींका हो, **जंभाइए** = अयतना से उबासी ली हो, **आमोसे** = बिना पूँजे रात में किसी चीज का स्पर्श किया हो, **ससरक्खामोसे** = सचित्त रज से भरे वस्त्र आदि का अविधि से स्पर्श किया हो, **आउलमाउलाए** = सावद्य विचारों में चित्त आकुल व्याकुल हुआ हो, **सोवण-वत्तियाए** = स्वप्न के कारण कोई दोष लगा हो, **इत्थी विप्परियासियाए** = स्त्री के सम्बन्ध में अयोग्य विचार किया हो, **दिट्ठी विप्परियासियाए** = स्त्री आदि को विकार की दृष्टि से देखा हो, **मणविप्परियासियाए** = मन से कुविचार किया हो, **पाणभोअणविप्प-रियासियाए** = अयोग्य आहार लिया हो, या निद्रा में रात को आहार-पानी का सेवन किया हो, **जो मे** = जो मैंने, **देवसिओ** = दिवस सम्बन्धी, **अइयारो** = अतिचार, **कओ** = किया हो तो, **तस्स** = वह या उसका, **मिच्छा** = मिथ्या निष्फल हो, **मि** = मेरा, **दुक्कडं** = पाप या दुष्कृत।

भावार्थ-मैं शयन संबंधी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ। शयनकाल में यदि देर तक सोता होऊँ या बार-बार बहुत काल तक सोता रहा होऊँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो, या बार-बार करवट बदली हो, हाथ और पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों तथा पसारे हों, षट्पदी-जूँ आदि क्षुद्र जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो, बिना यतना के अथवा जोर से खाँसा हो, यह शय्या बड़ी कठोर है, आदि शय्या के दोष कहे हों, अयतना से छींक एवं जंभाई ली हो, बिना पूँजे शरीर को खुजलाया हो अथवा किसी भी वस्तु का स्पर्श किया हो, सचित्त रजयुक्त वस्तु का स्पर्श किया हो-(ये सब शयनकालीन जागते समय के अतिचार हैं।)

अब सोते समय स्वप्न अवस्था संबंधी अतिचार कहे जाते हैं–स्वप्न में युद्ध, विवाहादि के अवलोकन से आकुलता–व्याकुलता रही हो, स्वप्न में मन भ्रान्त हुआ हो, स्वप्न में स्त्री के साथ कुशील सेवन किया हो, स्त्री आदि को अनुराग की दृष्टि से देखा हो, मन में विकार आया हो, स्वप्न दशा में रात्रि में आहार–पानी का सेवन किया हो या सेवन करने की इच्छा की हो, इस प्रकार मेरे द्वारा शयन संबंधी जो भी अतिचार किया हो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड़' अर्थात् वह सब मेरा पाप निष्फल हो।

विवेचन–जैन आचार–शास्त्र बहुत ही सूक्ष्मताओं में उतरने वाला है। साधक जीवन की सूक्ष्म से सूक्ष्म चेष्टाओं, भावनाओं एवं विकल्पों पर सावधानी तथा नियन्त्रण रखना, यह महान् उद्देश्य, इन सूक्ष्म चर्चाओं के पीछे रहा है। प्रस्तुत सूत्र शयन सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिए है। सोते समय जो भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भूल हुई हो, संयम की सीमा से बाहर अतिक्रमण हुआ हो, किसी भी तरह का विपर्यास हुआ हो, उन सबके लिए पश्चात्ताप करने का, 'मिच्छा मि दुक्कडं' देने का विधान प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

आज की जनता, जब कि प्रत्यक्ष जागृत अवस्था में किए गए पापों का भी उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार नहीं है, तब जैनमुनि स्वप्न अवस्था की भूलों का उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लिए हुए है। शयन तो एक प्रकार की क्षणिक मृतदशा मानी जाती है। वहाँ का मन मनुष्य के अपने वश में नहीं होता। प्रस्तुत सूत्र के प्रारम्भ में सोते समय के कुछ प्रारम्भिक दोष बतलाए हैं। बार–बार करवटें बदलते रहना, बार–बार हाथ–पैर आदि को सिकोड़ते और फैलाते रहना–मन की व्याक्षिप्त एवं अशान्त दशा की सूचना है।

प्रकाम शय्या– 'शय्या' शब्द शयन वाचक है और 'प्रकाम' अत्यन्त का सूचक है; अत: प्रकाम शय्या का अर्थ होता है–अत्यन्त सोना, मर्यादा से अधिक सोना, चिरकाल तक सोना। अथवा प्रमाण से बाहर बड़ी एवं गद्देदार कोमल गुदगुदी शय्या। यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए वर्जित है।

निकाम शय्या–प्रकाम शय्या का ही बार–बार सेवन करना, अथवा बार–बार अधिक काल तक सोते रहना, निकाम शय्या है।

उद्वर्तना और परिवर्तना–उद्वर्तना का अर्थ है एक बार करवट बदलना, और परिवर्तना का अर्थ है बार–बार करवट बदलना।

कर्करायित– 'कर्करायित' शब्द का अर्थ 'कुड़कुड़ाना' है। शय्या यदि विषम हो, कठोर हो तो साधु को शान्ति के साथ सब कष्ट सहन करना चाहिए। साधु का जीवन ही तितिक्षामय है।

सोवण–वत्तियाए–स्वप्न प्रत्यया–अर्थात् स्वप्न के प्रत्यय–निमित्त से होने वाली संयम विरुद्ध मानसिक क्रिया।

सूत्रों में दिवाशयन अर्थात् दिन में सोने का निषेध किया गया है। जब दिन में सोना ही नहीं है; तब साधु को इस सम्बन्ध में दैवसिक अतिचार कैसे लग सकता है ? जैन धर्म स्याद्वादमय धर्म है। यहाँ एकान्त निषेध अथवा एकान्त विधान, किसी सिद्धान्त का नहीं है। उत्सर्ग और अपवाद का चक्र बराबर चलता रहता है। अस्तु, दिवाशयन का निषेध औत्सर्गिक है और कारणवश उसका विधान आपवादिक है। विहार यात्रा की थकावट से तथा अन्य किसी कारण से अपवाद के रूप में यदि कभी दिन में सोना पड़े तो अल्प ही सोना चाहिए। यह नहीं कि अपवाद का आश्रय लेकर सर्वथा ही संयम-सीमा का अतिक्रमण कर दिया जाय! इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर सूत्रकार ने प्रस्तुत शयनातिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र का दैवसिक प्रतिक्रमण में भी विधान किया है।

बिइयं समणसुत्तं
गोचरचर्या सूत्र
(भिक्षा दोष निवृत्ति का पाठ)

मूल- **पडिक्कमामि, गोयरचरियाए, भिक्खायरियाए उग्घाड-कवाड उग्घाडणाए, साणा वच्छादारा संघट्टणाए, मंडी पाहुडियाए, बलिपाहुडियाए, ठवणा पाहुडियाए, संकिए, सहसागारिए, अणेसणाए, पाणेसणाए पाण-भोयणाए, बीय-भोयणाए, हरिय-भोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दगसंसट्ठहडाए, रयसं-सट्ठहडाए, परिसाडणियाए, पारिठावणियाए, ओहासणभिक्खाए, जं उग्गमेणं, उप्पायणेसणाए, अपरिसुद्धं, पडिगहियं, परिभुत्तं वा, जं न परिठवियं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**

संस्कृत छाया- प्रतिक्रामामि गोचरचर्यायां भिक्षाचर्यायामुद्धाटकपाटोद्धाटनया श्ववत्सदारक-संघट्टनया मण्डीप्राभृतिकया बलिप्राभृतिकया स्थापनाप्राभृतिकया शङ्किते सहसाकारिकेऽनेषणया पानैषणया प्राणभोजनया बीजभोजनया हरितभोजनया पश्चात्कर्मिकया पुर:कर्मिकयाऽदृष्टाहृतया उदकसंसृष्टाऽऽहृतया रज:संसृष्टाहृतया पारिशाटनिक्या (पारिशातनिक्या) परिष्ठापनिक्या ओहासनभिक्षया यद् उद्गमेन उत्पादनैषणयाऽपरिशुद्धं प्रतिगृहीतं परिभुक्तं वा यन्न परिष्ठापितं तस्य मिथ्या मयि दुष्कृतम्।।

अन्वयार्थ-पडिक्कमामि = मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, **गोयरचरियाए** = जैसे गाय ऊपर से थोड़ा = थोड़ा चरती है, ऐसे जिसमें गृहस्थ के यहाँ से थोड़ा-थोड़ा निरवद्य आहार ग्रहण किया जाय वैसी, गोचरी करने में, **भिक्खायरियाए** = भिक्षाचरी (गोचरी) में, **उग्घाडकवाड** = बिना आगल दिये हुए या थोड़े ढँके हुए किवाड़ को, **उग्घाडणाए** = अविधि से उघाड़ा हो (खोलने में), **साणा वच्छादारा** = कुत्ते, बछड़े या बच्चों का जो रास्ते में बैठे हों, **संघट्टणाए** = संघट्टा किया हो तथा लाँघा हो, **मंडी पाहुडियाए** = मंडी प्रभृति का ग्रहण किया हो (साधु के आने पर दूसरे भाजन में पहले उतारकर गृहस्थ चावल आदि दे, उसको मंडी प्रभृतिका कहते हैं।), **बलिपाहुडियाए =** दिशाओं में या अग्नि-पूजा के लिए बलि फैंक कर जो दिया जाय उसे बलि प्रभृतिका कहते हैं, उसका ग्रहण किया हो, **ठवणा पाहुडियाए** = भिक्षाचरी के लिए स्थापना करके रखी हुई भिक्षा में से दिया हुआ आहार लिया हो, **संकिए** = आधाकर्मी आदि दोष की शंका वाला आहार ग्रहण किया हो, **सहसागारिए** = सहसा किसी अकल्पनीय आहार आदि का ग्रहण किया गया हो, **अणेसणाए** = बिना एषणा किये आहार लिया हो, **पाणेसणाए =** बिना एषणा किए पीने योग्य पदार्थ लिया हो, **पाण-भोयणाए** = रस चलित अर्थात् सड़ जाने से जो जीव युक्त है, ऐसा भोजन लिया हो, **बीय-भोयणाए** = सचित्त बीज वाली भिक्षा ली हो, **हरिय-भोयणाए** = दूब आदि सचित्त हरी युक्त भिक्षा ली हो, **पच्छाकम्मियाए** = आहार लेने के बाद जहाँ सचित्त पानी आदि का आरम्भ किया जाय, वैसी भिक्षा ली हो, **पुराकम्मियाए** = आहार लेने के पहले जहाँ सचित्त का आरम्भ हो, वैसी भिक्षा ली हो, **अदिट्ठहडाए** = अदृष्ट अर्थात् दृष्टि से बाहर से लाई हुई भिक्षा ली हो, **दगसंसट्ठहडाए** = सचित्त पानी से, गीले हाथ वगैरह में लाई हुई भिक्षा ली हो, **रयसंसट्ठहडाए** = सचित्त रज से भरे हुए हाथ वगैरह में लाई हुई भिक्षा ली हो, **परिसाडणियाए** = बिन्दु आदि नीचे गिरते हुए जो भिक्षा दी जाए, उसे ली हो, **पारिठावणियाए** = परठने योग्य पदार्थ वाली भिक्षा ली हो, **ओहासणभिक्खाए** = बिना सबल कारण के विशिष्ट द्रव्य की याचना करके भिक्षा ली हो, अथवा उच्च स्वर से माँग कर भिक्षा ली हो। (पूर्वोक्त दोष पुन: समुच्चय रूप से), **जं उग्गमेणं** = जो आधाकर्मी आदि 16 उद्गम के दोष से, **उप्पायणेसणाए** = धात्री आदि सोलह उत्पादन के दोष व शंकितादि दश एषणा के दोषों से, **अपडिसुद्धं** = सदोष आहार ग्रहण किया हो तथा, **पडिगहियं परिभुत्तं वा** = अथवा अज्ञातपन से ग्रहण करके भोगा हो, **जं** = जो उस आहार को, **न परिठवियं** = जानने पर नहीं परठा हो, इस तरह से, **जो मे** = जो मैंने, **देवसिओ** = दिवस सम्बन्धी, **अइयारो** = अतिचार, **कओ** = किया हो, **तस्स** = उसका वह, **मिच्छा मि दुक्कडं** = मेरा पाप मिथ्या निष्फल हो।

भावार्थ-गोचरचर्या रूप भिक्षाचर्या में, यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

अर्ध खुले किवाड़ों को खोलना, कुत्ते, बछड़े और बच्चों का संघट्टा-स्पर्श करना, मंडीप्राभृतिक अग्रपिंड लेना, बलिप्राभृतिक-बलि के लिए तैयार किया हुआ भोजन लेना, स्थापनाप्राभृतिक-भिक्षुओं को

देने के उद्देश्य से अलग रखा हुआ भोजन लेना, आधाकर्म आदि की शंका वाला आहार लेना, सहसाकार-बिना सोचे-विचारे शीघ्रता से आहार लेना, बिना एषणा-छान-बीन किए लेना, पान-भोजन-पानी आदि पीने योग्य वस्तु की एषणा में किसी प्रकार की त्रुटि करना, जिसमें कोई प्राणी हो, ऐसा भोजन लेना, बीज भोजन-बीजों वाला भोजन लेना, हरित-भोजन-सचित्त वनस्पत्ति वाला भोजन, पश्चात् कर्म-साधु को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने आदि के कारण लगने वाला दोष, पुर:कर्म-साधु को आहार देने के पहले सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने आदि के कारण लगने वाला दोष, अदृष्टाहृत-बिना देखा लाया भोजन लेना, उदकसंसृष्टाहृत-सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका-देते समय मार्ग में गिरता-बिखरता हुआ दिया जाने वाला आहार लेना, पारिष्ठापनिका-आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुये किसी भोजन को डालकर दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना, अथवा बिना कारण 'परठने-योग्य' कालातीत अयोग्य वस्तु ग्रहण करना। बिना कारण माँगकर विशिष्ट वस्तु लेना, उद्गम-आधाकर्म आदि 16 उद्गम दोषों से युक्त भोजन लेना, उत्पादन-धात्री आदि 16 साधु की तरफ से लगने वाले उत्पादन दोषों सहित आहार लेना। एषणा-ग्रहणैषणा संबंधी शंकित आदि 10 दोषों से सहित आहार लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध-साधुमर्यादा के विपरीत आहार-पानी ग्रहण किया हो, ग्रहण किया हुआ भोजन लिया हो, किंतु दूषित जानकर भी परठा न हो, तो मेरा समस्त पाप मिथ्या हो।

विवेचन-गोयरचर्या शब्द का अर्थ आचार्य हरिभद्रसूरि इस प्रकार करते हैं-**गोश्चरणं गोचर:, चरणं चर्या गोचर इव चर्या गोचरचर्या** अर्थात् गाय आदि पशुओं का चरना (थोड़ा-थोड़ा ऊपर से खाना) गोचर कहलाता है। गति (भ्रमण) करना चर्या कहलाती है। जिस प्रकार गाय चरती है उसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा आहार लेने के लिए भ्रमण करना गोयरचर्या कहलाती है। गाय तो अदत्त भी ग्रहण करती है लेकिन साधक तो दिया हुआ ही ग्रहण करता है। अत: आगे भिक्खायरियाए-भिक्षा रूप चर्या विशेषण आया है। अत: दोनों शब्दों का शामिल अर्थ होता है-गोयरचर्या रूप भिक्षाचर्या में।

आचार्य तिलक तो इस प्रकार अर्थ करते हैं कि-'**आद्यश्चर्या शब्दो भ्रमणार्थ:, द्वितीय पुन: भक्षणार्थ:**' यहाँ पर चर्या शब्द दो बार आया है। इनमें से पहले आए हुए 'चर्या' शब्द का अर्थ है-गोचरी के लिए जाना, दूसरे चर्या शब्द का अर्थ है लाये हुए आहार को उपभोग में लेना अर्थात् जिस प्रकार गाय चरने के लिए भ्रमण करती है, उसी प्रकार भ्रमण कर लायी हुई भिक्षा को उपयोग में लेना।

आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार की भिक्षाओं का उल्लेख किया है-'**सर्व सम्पत्करीचैका पौरुषघ्नी तथापरा वृत्तिभिक्षा च तत्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधा स्मृता।**' 1. संयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज सिद्ध आहार लेते हैं, यह सर्व संपत्करी भिक्षा है। 2. श्रम करने में समर्थ व्यक्ति माँगकर खाते हैं, यह पौरुषघ्नी भिक्षा है। 3. अनाथ और अपंग व्यक्ति माँग कर खाते हैं, वह दीनवृत्ति भिक्षा है।

मंडी पाहुडियाए– मंडी पाहुडिया साहूम्मि आगए अग्गकूर मंडीय।
अण्णम्मि भायणम्मि काउं तो देइ साहुस्स।।1।।
तत्थ पवत्तण दोसो न कप्पए तारिसाण सुविहियाणं।।

मण्डी–ढक्कन को तथा उपलक्षण से अन्य पात्र को कहते हैं। उसमें तैयार किये हुए भोजन के कुछ अंश को पुण्यार्थ निकालकर जो रख दिया जाता है वह अग्रपिण्ड कहलाता है। यहाँ आधेय में आधार का उपचार है। अत: अग्रपिण्ड ही मण्डी कहलाता है। यह मण्डी की भिक्षा पुण्यार्थ होने से साधुओं के लिए निषिद्ध है। इस अग्रपिण्ड को भिक्षा में ग्रहण करना 'मंडी प्राभृतिका' कहलाता है। अथवा साधु के आने पर पहले अग्र भोजन दूसरे पात्र में निकाल ले और फिर शेष में से दे तो वह भी मंडी प्राभृतिका दोष है, क्योंकि इसमें प्रवृत्ति दोष लगता है, अत: निषिद्ध है।

बलिपाहुडियाए–बलिपाहुडियाए भण्णइ, चउद्दिसिं काउं अच्चणियं।।2।।
अग्गिम्मि व छिविउण, सित्थे तो देइ साहुणो भिक्खं।।

बलिपिंड (देवता के पूजार्थ रखी वस्तु) को लेना निषिद्ध है। अथवा साधुओं के आने पर अग्नि में और चारों दिशाओं में बलि फेंक कर जो आहार दिया जाता है वह बलिपिण्ड है। अत: आरम्भ में निमित्त होने से ग्रहण करना निषिद्ध है।

पारिट्ठावणियाए–साधु को बहराने के बाद पात्र में रहे हुए शेष भोजन को जहाँ दाता द्वारा फेंक देने की प्रथा हो, वहाँ अयतना की सम्भावना होते हुए भी आहार लेना। आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन को डालकर (फेंक कर) दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना।

उज्झित आहार–जिसमें खाना कम और फेंकना अधिक पड़े ऐसा आहार लेना। पूर्व आहार को परठने के भाव से नया आहार ग्रहण करना।

तइयं समणसुत्तं
काल प्रतिलेखना सूत्र

(चाउक्काल सज्झायस्स का पाठ)

मूल– **पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए, अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**

संस्कृत छाया– प्रतिक्रामामि चतुष्कालं स्वाध्यायस्याऽकरणतया, उभयकालं भाण्डोपकरणस्याऽ-प्रतिलेखनया दुष्प्रतिलेखनया अप्रमार्जनया दुष्प्रमार्जनया, अतिक्रमे व्यतिक्रमेऽति-चारेऽनाचारे यो मया दैवसिकोऽतिचार: कृतस्तस्य मिथ्या मयि दुष्कृतम् ।।

अन्वयार्थ–पडिक्कमामि = मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, **चाउक्कालं** = दिन–रात के प्रथम व अन्तिम प्रहर रूप चारों काल में, **सज्झायस्स** = स्वाध्याय, **अकरणयाए** = नहीं करने से, **उभओकालं** = दोनों काल में (दिन के पहले और अन्तिम प्रहर में), **भंडोवगरणस्स** = भंड–पात्र और उपकरण की, **अप्पडिलेहणाए** = प्रतिलेखना नहीं की हो, **दुप्पडिलेहणाए** = अविधि से प्रतिलेखना की हो, **अप्पमज्जणाए** = भण्डोपकरण का प्रमार्जन नहीं किया हो, **दुप्पमज्जणाए** = बुरी तरह से पूँजा हो, **अइक्कमे** = सदोष (आधाकर्मादि) ग्रहण करने का विचार किया हो, **वइक्कमे** = सदोष वस्तु लेने की तैयारी की हो, **अइयारे** = सदोष वस्तु ग्रहण की हो, **अणायारे** = सदोष वस्तु ग्रहण करके उसको भोगा हो, **जो मे** = इस प्रकार जो मैंने, **देवसिओ** = दिन सम्बन्धी, **अइयारो कओ** = अतिचार (दोष) सेवन किया हो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं** = उसका मेरा पाप निष्फल हो।

भावार्थ–स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना संबंधी प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अंतिम प्रहर रूप चारों कालों में स्वाध्याय न किया हो, प्रात: तथा संध्या दोनों काल में वस्त्र–पात्र आदि भाण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो अथवा सम्यक्–प्रकार से प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो, अथवा विधिपूर्वक प्रमार्जना न की हो, इन कारणों से अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार लगा हो तो वे सब मेरे पाप मिथ्या–निष्फल हों।

विवेचन–स्वाध्याय–(1) **'अध्ययनं अध्याय: शोभनोऽध्याय: स्वाध्याय'** अर्थात् आत्म-कल्याणकारी पठन–पाठन रूप श्रेष्ठ अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

(2) अभयदेव सूरि ने स्थानाङ्ग सूत्र की टीका में लिखा है–**'सुष्ठु आ–मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय:'** अर्थात् भली–भाँति मर्यादा के साथ अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय है।

(3) **'स्वमध्ययनम् स्वाध्याय:'** अर्थात् किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं ही अध्ययन करना स्वाध्याय है।

(4) **'स्वस्यात्मनोऽध्ययनम्'** स्वयं का अध्ययन करना स्वाध्याय है।

प्रस्तुत सूत्र में स्वाध्याय का मुख्य अर्थ आगमों को मूल रूप से सीखना, सिखाना और परस्पर पुनरावर्तन करना (सुनना) है। स्वाध्याय के 5 भेद हैं–वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकक्षा। इन सबका समावेश स्वाध्याय शब्द में होता है।

अतिक्रम–प्रतिज्ञा को भंग करने का संकल्प।

व्यतिक्रम–व्रत भंग करने के लिए साधन जुटा लेना।

अतिचार–व्रत भंग के लिए उद्यत होना तथा एक देश से व्रत खण्डित कर देना।

अनाचार–सर्वथा या अधिकांश रूप में व्रत भंग कर देना।

अहिंसादि महाव्रत रूप मूलगुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार के कारण मलिनता आती है अर्थात् चारित्र का मूल रूप दूषित होता है, परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता। अत: उसकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा करने का विधान है। परन्तु मूलगुणों में जानते अजानते अनाचार का दोष लग जाय तो अन्य प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है। कुछ विशेष प्रसंगों पर नये सिरे से व्रत ग्रहण किया जाता है। उत्तरगुणों में अतिक्रमादि चारों ही दोषों से चारित्र में मलिनता आती है। परन्तु पूर्णत: चारित्र भंग नहीं होता है। स्वाध्याय और प्रतिलेखन उत्तर गुण हैं, अत: प्रस्तुत काल में प्रतिलेखन सूत्र के द्वारा चारों दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

प्रतिलेखना-

(अ) **अप्रमाद प्रतिलेखना**[1]**–**

(1) अणच्चावियं–प्रतिलेखना करते समय शरीर और वस्त्र आदि को इधर–उधर नचाना नहीं चाहिए।

(2) अवलियं–प्रतिलेखना करते समय वस्त्र कहीं से मुड़ा हुआ न होना चाहिए।

(3) अणानुबंधिं–वस्त्र को अयतना से जोर से नहीं झड़काना चाहिए।

(4) अमोसलिं–प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को ऊपर नीचे या तिरछा दीवार से न लगाना चाहिए।

(5) छप्पुरिमा नव खोडा–प्रतिलेखना में छ पुरिम और नव खोड़ करने चाहिए। वस्त्र के दोनों हिस्सों को तीन बार खंखेरना, ये छ पुरिम एवं वस्त्र को तीन–तीन बार पूँज कर शोधन करना नव खोड़ है।

(6) पाणीपाणि–विसोहणं–वस्त्रादि पर कोई जीव दिखाई देने पर उसका यतना पूर्वक रक्षण करना चाहिए।

(ब) प्रतिलेखना की विधि-

(1) उड्ढं–उकड़ू आसन से बैठकर वस्त्र को भूमि से ऊपर रखते हुये प्रतिलेखना करनी चाहिए।

(2) थिरं–वस्त्र को दृढ़ता से पकड़ना चाहिए।

(3) अतुरियं–प्रतिलेखना जल्दी–जल्दी नहीं करनी चाहिए।

---

1. उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 26, ठाणांग ठाणा–6

(4) **पडिलेहे**–वस्त्र को दोनों तरफ से अच्छी तरह से देखना चाहिए।

(5) **पप्फोडे**–देखने के पश्चात् वस्त्र को धीरे–धीरे यतनापूर्वक झड़काना चाहिए।

(6) **पमज्जिज्जा**–झड़काने के बाद वस्त्रादि को तीन बार यतना पूर्वक पूँजना चाहिए।

(स) प्रमाद-प्रतिलेखना 6 प्रकार की-

(1) **आरभटा**–विपरीत रीति या शीघ्रता से प्रतिलेखना या एक वस्त्र को अधूरा छोड़कर दूसरे की प्रतिलेखना करना।

(2) **सम्मर्दा**–मुड़े हुये कोने सहित सल न निकले हुये वस्त्र की प्रतिलेखना करना सम्मर्दा प्रतिलेखना है। अथवा उपकरणों के ऊपर बैठकर प्रतिलेखना करना।

(3) **मोसली**–वस्त्र को ऊपर, नीचे और तिरछे दीवारादि पर लगाकर प्रतिलेखना करना।

(4) **पप्फोडणा**–वस्त्र को जोर–जोर से झटकाना प्रस्फोटना प्रतिलेखना है।

(5) **विक्षिप्ता**–प्रतिलेखना किये हुये वस्त्रों को बिना प्रतिलेखन किये वस्त्रों में मिला देना या वस्त्रादि को इधर–उधर फैंकना।

(6) **वेदिका**–प्रतिलेखन करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पसवाड़ों पर हाथ रखना या दोनों घुटनों या एक घुटने को भुजाओं के बीच रखना वेदिका प्रतिलेखना है।

(द) प्रतिलेखना करता हुआ साधु यदि-

(1) आपस में कथा वार्त्ता करता है।

(2) देश कथा आदि करता है।

(3) दूसरों को पच्चक्खाण कराता है।

(4) दूसरों को वाचना देता है।

(5) स्वयं वाचना लेता है तो यह प्रतिलेखना में प्रमाद करने के दोष का भागी होता हुआ छः ही काय के जीवों का विराधक होता है।

चउत्थं समणसुत्तं

मूल– **पडिक्कमामि एगविहे असंजमे, पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं–रागबंधणेणं, दोसबंधणेणं। पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं–मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं। पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं–मणगुत्तीए,**

वयगुत्तीए, कायगुत्तीए। पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं–मायासल्लेणं, नियाणसल्लेणं, मिच्छादंसणसल्लेणं। पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं–इड्डीगारवेणं, रसगारवेणं सायागारवेणं। पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं–नाणविराहणाए, दंसणविराहणाए, चरित्तविराहणाए। पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं–कोहकसाएणं, माणकसाएणं, मायाकसाएणं, लोहकसाएणं।

पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं–आहारसण्णाए, भयसण्णाए, मेहुण–सण्णाए, परिग्गहसण्णाए। पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं इत्थीकहाए, भत्तकहाए, देसकहाए, रायकहाए। पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं–अट्टेणं झाणेणं, रूद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं। पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं–काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, परितावणियाए, पाणाइवाय–किरियाए। पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं–सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं, रसेणं, फासेणं।

पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं–सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं–इरिया समिईए, भासा समिईए, एसणा समिईए, आयाण–भंडमत्त–निक्खेवणा समिईए, उच्चार–पासवण–खेल–जल्ल–सिंघाण–पारिट्ठावणिया समिईए। पडिक्कमामि छहिं जीव–निकाएहिं–पुढवीकाएणं, आउकाएणं, तेउकाएणं, वाउकाएणं, वणस्सइकाएणं, तसकाएणं। पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं किण्हलेसाए, नीललेसाए, काउलेसाए, तेउलेसाए, पम्हलेसाए, सुक्कलेसाए। पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, आजीविकाभए, अजसोकित्तिभए, मरणभए। अट्ठहिं मयठाणेहिं। नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं। दसविहे समणधम्मे। एक्कारसहिं

उवासगपडिमाहिं। बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं। तेरसहिं किरिया-ठाणेहिं। चउद्दसहिं भूयगामेहिं। पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं। सोलसहिं गाहासोलसएहिं। सत्तरसविहे असंजमे। अट्ठारसविहे अबंभे। एगूण वीसाए णायज्झयणेहिं। वीसाए असमाहिठाणेहिं। इगवीसाए सबलेहिं। बावीसाए परीसहेहिं। तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं। चउवीसाए देवेहिं। पणवीसाए भावणाहिं। छब्बीसाए दसाकप्पव-वहाराणं उद्देसणकालेहिं। सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं। अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं। एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं। तीसाए महामोह-णीयठाणेहिं। एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं। बत्तीसाए जोगसंगहेहिं। तेत्तीसाए आसायणाए-

1. अरिहंताणं आसायणाए
2. सिद्धाणं आसायणाए
3. आयरियाणं आसायणाए
4. उवज्झायाणं असायणाए
5. साहूणं आसायणाए
6. साहुणीणं आसायणाए
7. सावयाणं आसायणाए
8. सावियाणं आसायणाए
9. देवाणं आसायणाए
10. देवीणं आसायणाए
11. इहलोगस्स आसायणाए
12. परलोगस्स आसायणाए
13. केवलि-पण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए
14. सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए
15. सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए
16. कालस्स आसायणाए
17. सुयस्स आसायणाए
18. सुयदेवयाए आसायणाए
19. वायणायरियस्स आसायणाए
20. वाइद्धं
21. वच्चामेलिअं
22. हीणक्खरं
23. अच्चक्खरं
24. पयहीणं
25. विणयहीणं
26. जोगहीणं
27. घोसहीणं
28. सुट्ठुदिण्णं

29. दुट्ठुपडिच्छिअं

30. अकाले कओ सज्झाओ

31. काले न कओ सज्झाओ

32. असज्झाइए सज्झायं

33. सज्झाइए न सज्झायं

इन तेतीस बोलों में जानने योग्य को जाने नहीं हों, आदरने योग्य को आदरे नहीं हों, तथा छोड़ने योग्य को छोड़े नहीं हों तो, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

संस्कृत छाया– प्रतिक्रामामि एकविधेऽसंयमे। प्रतिक्रामामि द्वाभ्यां बन्धनाभ्यां–रागबंधनेन द्वेषबन्धनेन। प्रतिक्रामामि त्रिभिर्दण्डैः– मनोदण्डेन वचोदण्डेन कायदण्डेन। प्रतिक्रामामि तिसृभिर्गुप्तिभिः–मनोगुप्त्या वचोगुप्त्या कायगुप्त्या। प्रतिक्रामामि त्रिभिः शल्यैः– मायाशल्येन निदानशल्येन मिथ्यादर्शनशल्येन। प्रतिक्रामामि त्रिभि–र्गौरवैः–ऋद्धिगौरवेण रसगौरवेण शातगौरवेण। प्रतिक्रामामि तिसृभिर्विराधनाभिः–ज्ञानविराधनया दर्शनविराधनया चारित्रविराधनया।।

प्रतिक्रामामि चतुर्भिः कषायैः–क्रोधकषायेण, मानकषायेण, मायाकषायेण, लोभकषायेण। प्रतिक्रामामि चतसृभिः संज्ञाभिः–आहारसंज्ञया, भयसंज्ञया, मैथुनसंज्ञया, परिग्रहसंज्ञया। प्रतिक्रामामि चतसृभिर्विकथाभिः–स्त्रीकथया, भक्त–कथया, देशकथया, राजकथया। प्रतिक्रामामि चतुर्भिर्ध्यानैः आर्त्तेन ध्यानेन, रौद्रेण ध्यानेन, धर्मेण ध्यानेन, शुक्लेन ध्यानेन।।

प्रतिक्रामामि पञ्चभिः क्रियाभिः–कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, पारितापनिक्या, प्राणातिपातक्रियया। प्रतिक्रामामि पञ्चभिः कामगुणैः–शब्देन, रूपेण, गन्धेन, रसेन, स्पर्शेन। प्रतिक्रामामि पञ्चभिर्महाव्रतैः– प्राणातिपाता–द्विरमणेन, मृषावादाद्विरमणेन, अदत्तादानाद्विरमणेन, मैथुनाद्विरमणेन, परिग्रहा–द्विरमणेन। प्रतिक्रामामि पञ्चभिः समितिभिः–ईर्यासमित्या, भाषासमित्या, एषणासमित्या, भाण्डमात्रादाननिक्षेपणासमित्या, उच्चारणप्रस्रवणखेलजल्ल–सिंघाणपरिष्ठापनिकासमित्या। प्रतिक्रामामि षड्भिर्जीवनिकायैः–पृथ्वीकायेन, अप्कायेन, तेजस्कायेन, वायुकायेन, वनस्पतिकायेन, त्रसकायेन। प्रतिक्रामामि षड्भिर्लेश्याभिः–कृष्णलेश्यया, नीललेश्यया, कापोतलेश्यया, तेजोलेश्यया, पद्मलेश्यया, शुक्ललेश्यया।।

प्रतिक्रामामि सप्तभिर्भयस्थानैः। अष्टभिर्मदस्थानैः। नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिः। दशविधे श्रमणधर्म्मे।।

एकादशभिरुपासकप्रतिमाभिः।।

द्वादशभिर्भिक्षुप्रतिमाभिः।।

त्रयोदशभिः क्रियास्थानैः।।

चतुर्दशभिर्भूतग्रामैः। पञ्चदशभिः परमाधार्मिकैः। षोडशभिर्गाथाषोडशकैः। सप्तदशविधेऽसंयमे। अष्टादशविधेऽब्रह्मणि। एकोनविंशत्या ज्ञाताध्ययनैः। विंशत्याऽसमाधिस्थानैः।।

एकाविंशत्या शबलैः।।

द्वाविंशत्या परिषहैः।।

त्रयोविंशत्या सूत्रकृताध्ययनैः। चतुर्विंशत्या देवैः। पञ्चविंशत्या भावनाभिः। षड्विंशत्या दशाकल्पव्यवहाराणामुद्देशनकालैः। सप्तविंशत्याऽनगारगुणैः।।

अष्टविंशत्याऽऽचारप्रकल्पैः। एकोनत्रिंशता पापश्रुतप्रसङ्गैः।।

त्रिंशता मोहनीयस्थानैः।।

एकत्रिंशता सिद्धादिगुणैः। द्वात्रिंशता योगसंग्रहैः।।

त्रयस्त्रिंशताऽऽशातनाभिः।।

अर्हतामाशातनया, सिद्धानामाशातनया, आचार्याणामाशातनया, उपाध्याया-नामाशातनया, साधूनामाशातनया, साध्वीनामाशातनया, श्रावकाणामाशातनया, श्राविकाणामाशातनया, देवानामाशातनया, देवीनामाशातनया, इहलोकस्याऽऽ-शातनया, परलोकस्याऽऽशातनया, केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्याऽऽशातनया, सदेवमनुजाऽसुरस्य लोकस्याऽऽशातनया, सर्वप्राणभूतजीवसत्वानामाशातनया, कालस्याशातनया, श्रुतस्याशातनया, श्रुतदेवताया आशातनया, वाचनाचार्यस्या-ऽऽशातनया, व्याविद्धं, व्यत्याम्रेडितं, हीनाक्षरम्, अत्यक्षरं, पदहीनं, विनयहीनं, योगहीनं, घोषहीनं, सुष्ठु दत्तं, दुष्ठु प्रतीच्छितम्, अकाले कृतः स्वाध्यायः, काले न कृतः स्वाध्यायः, अस्वाध्याये स्वाध्यायितं, स्वाध्याये न स्वाध्यायितं, तस्य मिथ्या मयि दुष्कृतम्।।

अन्वयार्थ–पडिक्कमामि = मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, **एगविहे असंजमे** = एक प्रकार के असंयम से, **दोहिं बंधणेहिं** = दोनों प्रकार के बन्धनों से, **रागबंधणेणं दोसबंधणेणं** = राग बन्धनों से और द्वेष बन्धनों से, **तिहिं दंडेहिं** = तीन प्रकार के दण्डों से, **मणदंडेणं** = मन दण्ड से, **वयदंडेणं** = वचन दण्ड से, **कायदंडेणं** = काया दण्ड से, **तिहिं गुत्तीहिं** = तीन प्रकार की गुप्तियों से, **मणगुत्तीए** = मनोगुप्ति से, **वयगुत्तीए** = वचन गुप्ति से, **कायगुत्तीए** = काया गुप्ति से, **तिहिं सल्लेहिं** = तीन प्रकार के शल्यों से, **मायासल्लेणं** = माया के शल्य से, **नियाणसल्लेणं** = निदान करने रूप शल्य से तथा, **मिच्छा-दंसणसल्लेणं** = मिथ्या दर्शन रूप शल्य से, **पडिक्कमामि** = प्रतिक्रमण करता हूँ, **तिहिं गारवेहिं** = तीन प्रकार के गौरवों से, **इड्ढीगारवेणं** = ऋद्धि के गौरव से, **रसगारवेणं** = उत्तम भोजन प्राप्ति के गौरव से और, **सायागारवेणं** = साता (शरीर सुख) के गौरव से, **तिहिं विराहणाहिं** = तीन प्रकार की विराधनाओं से, **नाणविराहणाए** = ज्ञान और ज्ञानी की अविनय आशातना करने रूप ज्ञान की विराधना से, **दंसणविराहणाए** = दर्शन की विराधना से, **चरित्त–विराहणाए** = चारित्र की विराधना से, **चउहिं कसाएहिं** = चार प्रकार के कषायों से, **कोहकसाएणं** = क्रोध कषाय से, **माणकसाएणं** = मान कषाय से, **मायाकसाएणं** = माया कषाय से, **लोहकसाएणं** = लोभ कषाय से।

चउहिं सण्णाहिं = चार प्रकार की संज्ञाओं से, **आहारसण्णाए** = आहार की संज्ञा से, **भयसण्णाए** = भय की संज्ञा से, **मेहुणसण्णाए** = मैथुन संज्ञा से, **परिग्गहसण्णाए** = परिग्रह की संज्ञा से, **चउहिं विकहाहिं** = चार प्रकार की विकथाओं से, **इत्थीकहाए** = स्त्री की कथा से, **भत्तकहाए** = भत्त (आहार-पानी) की कथा से, **देसकहाए** = देश की कथा से, **रायकहाए** = राज्य की कथा से, **चउहिं झाणेहिं** = चार प्रकार के ध्यान में से (शुभ ध्यान नहीं ध्याया हो, अशुभ का ध्यान ध्याया हो तो), **अट्टेणं झाणेणं** = आर्त्त ध्यान से, **रूद्देणं झाणेणं** = रौद्र ध्यान से, **धम्मेणं झाणेणं** = धर्म ध्यान (की विराधना) से, **सुक्केणं झाणेणं** = और शुक्ल ध्यान (की विराधना) से, **पंचहिं किरियाहिं** = पाँच प्रकार की क्रियाओं से, **काइयाए** = काया की प्रवृत्ति से लगने वाली क्रिया से, **अहिगरणियाए** = हिंसाकारी शस्त्र आदि के बनाने व रखने से होने वाली अधिकरण सम्बन्धी क्रिया से, **पाउसियाए** = द्वेष करने से होने वाली क्रिया से, **परितावणियाए** = दूसरों को पीड़ा देने से होने वाली क्रिया से, **पाणाइवायकिरियाए** = प्राणों का घात करने से होने वाली क्रिया से, **पंचहिं कामगुणेहिं** = पाँच प्रकार के इन्द्रियों के विषयों से, **सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं** = शब्द से, रूप से, गंध से, **रसेणं, फासेणं** = रस से और स्पर्श से।

पंचहिं महव्वएहिं = पाँचों महाव्रतों के दोषों से, **सव्वाओ** = सब प्रकार के, **पाणाइवायाओ वेरमणं** = प्राणातिपात अर्थात् जीव-हिंसा के त्याग से। **मुसावायाओ वेरमणं** = मृषावाद अर्थात् झूठ बोलने के त्याग से, **अदिण्णादाणाओ वेरमणं** = अदत्तादान अर्थात् चोरी के त्याग से, **मेहुणाओ वेरमणं**

= मैथुन के त्याग से, **परिग्गहाओ वेरमणं** = परिग्रह-त्याग से, **पंचहिं समिईहिं** = पाँच प्रकार की समितियों की विराधना से, **इरिया समिईए** = ईर्या समिति की विराधना से, **भासा समिईए** = भाषा समिति की विराधना से, **एसणा समिईए** = एषणा समिति की विराधना से, **आयाण-भंडमत्त-निक्खेवणा समिईए** = आदान भंड मात्र निक्षेपणा समिति की विराधना से, **उच्चार-पासवण** = उच्चार प्रस्रवण अर्थात् मल-मूत्र, **खेल-जल्ल-सिंघाण** = श्लेष्म, शरीर का मल और नाक का सिंघाण (आदि), **परिट्ठावणिया समिईए** = परठने में हुई अविधि रूप समिति से।

छहिं जीवनिकाएहिं = छ: काय की विराधना से, **पुढवीकाएणं** = पृथ्वीकाय की विराधना से, **आउकाएणं** = अप्काय की विराधना से, **तेउकाएणं** = तैजस् (अग्नि) काय की विराधना से, **वाउकाएणं** = वायुकाय की विराधना से, **वणस्सइकाएणं** = वनस्पति काय की विराधना से और, **तसकाएणं** = त्रसकायिक जीवों की विराधना से, **छहिं लेसाहिं** = छ: प्रकार की लेश्याओं में हुए दोषों से, **किण्ह लेसाए, नील लेसाए** = कृष्ण लेश्या से, नील लेश्या से, **काउ लेसाए, तेउ लेसाए** = कापोत लेश्या से, तेजो लेश्या से, **पम्ह लेसाए, सुक्क लेसाए** = पद्म लेश्या से और शुक्ल लेश्या से, **सत्तहिं भयट्ठाणेहिं** = सात प्रकार के भयस्थानों से, **इहलोगभए =** इस लोक का भय, **परलोगभए =** परलोक का भय, **आदाणभए =** आदान भय, **अकम्हाभए =** अकस्मात भय, **आजीविकाभए =** आजीविका भय, **अजसोकिमिभए =** अश्लोक भय, **मरणभए =** मरण भय, **अट्ठहिं** = आठ प्रकार के, **मयठाणेहिं** = मद (अहंकार) के स्थानों से, **नवहिं बंभचेर गुत्तीहिं** = नव प्रकार के ब्रह्मचर्य की गुप्तियों की विराधना से, **दसविहे समणधम्मे** = दस प्रकार के श्रमण धर्म का पालन नहीं करने से, **एक्कारसहिं उवासग-पडिमाहिं** = ग्यारह प्रकार की श्रावक की प्रतिमा (अभिग्रह विशेष का पालन नहीं करने से), **बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं** = बारह प्रकार की भिक्षु की प्रतिमा के पालन से लगे दोषों से, **तेरसहिं किरियाठाणेहिं** = तेरह प्रकार के क्रिया स्थानों में से किसी स्थान का सेवन किया हो, **चउदसहिं** = चौदह प्रकार के, **भूयगामेहिं** = जीव समूहों की विराधना से, **पन्नरसहिं** = पन्द्रह प्रकार के, **परमाहम्मिएहिं** = परमाधार्मिक देवों से, **सोलसहिं गाहा सोलसएहिं** = सोलह गाथा षोडशक अर्थात् सूयगडांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के सोलह अध्ययनों से।

सत्तरसविहे असंजमे = सत्तरह प्रकार के असंयम के सेवन से, **अट्ठारसविहे अबंभे** = अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य के सेवन से, **एगूणवीसाए णायज्झयणेहिं** = उन्नीस ज्ञाता धर्म कथाङ्ग के अध्ययनों से, **वीसाए असमाहिठाणेहिं** = बीस प्रकार के असमाधि स्थानों के सेवन से, **इक्कवीसाए सबलेहिं** = इक्कीस प्रकार के सबल यानी भारी दोषों से, **बावीसाए परीसहेहिं =** बाईस प्रकार के परीषह को सहन नहीं करने से, **तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं** = तेईस सूत्रकृताङ्ग सूत्र के अध्ययनों से, **चउवीसाए देवेहिं** = चौबीस प्रकार के देवों की मान्यता नहीं करने से, **पणवीसाए भावणाहिं** = पच्चीस प्रकार की (पाँच महाव्रतों की) भावना में लगे दोषों से, **छब्बीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं** = छब्बीस उद्देशन दशाश्रुत

स्कन्ध, कल्प और व्यवहार के कालों से, **सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं** = साधुजी के सत्ताईस गुणों में लगे दोषों से, **अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं** = अट्ठाइस प्रकार के आचार प्रकल्पों में लगे दोषों से, **एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं** = उनतीस पाप सूत्र के प्रसङ्गों से, **तीसाए महामोहणीय** = तीस प्रकार के महामोहनीय, **ठाणेहिं** = बन्ध के स्थानों के सेवन से, **एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं** = इकतीस सिद्ध भगवान के अतिशय गुणों में शंका करने से, **बत्तीसाए जोगसंगहेहिं** = बत्तीस प्रकार के योग-संग्रह न करने से, **तेत्तीसाए आसायणाए** = तैंतीस प्रकार की आशातना से, प्रतिक्रमण करता हूँ।

अरिहंताणं आसायणाए = अरिहन्त भगवान की आशातना से, **सिद्धाणं आसायणाए** = सिद्ध भगवान की आशातना से, **आयरियाणं आसायणाए** = आचार्यों की आशातना से, **उवज्झायाणं आसायणाए** = उपाध्यायों की आशातना से, **साहूणं आसायणाए** = साधुओं की आशातना से, **साहुणीणं आसायणाए** = साध्वियों की आशातना से, **सावयाणं आसायणाए** = श्रावकों की आशातना से, **सावियाणं आसायणाए** = श्राविकाओं की आशातना से, **देवाणं आसायणाए** = देवताओं का अस्तित्व नहीं मानने रूप आशातना से, **देवीणं आसायणाए** = देवियों की आशातना से, **इहलोगस्स आसायणाए** = इस लोक की (मनुष्य आदि की) आशातना से, **परलोगस्स आसायणाए** = परलोक-देव, नारक वगैरह की मिथ्या प्ररूपणा आदि से की हुई आशातना से, **केवलिपण्णत्तस्स** = केवलि प्ररूपित दयामय अनेकान्त रूप, **धम्मस्स आसायणाए** = धर्म की अश्रद्धा-मिथ्या प्ररूपणा आदि से की हुई आशातना से, **सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स** = देवता, मनुष्य और असुर सहित लोक की, **आसायणाए** = आशातना से, **सव्वपाण-भूय-जीव-सत्ताणं आसायणाए** = सभी बेइन्द्रियादि प्राणी, वनस्पति, पंचेन्द्रिय जीव, पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की आशातना से, **कालस्स आसायणाए** = काल की आशातना से, **सुयस्स आसायणाए** = श्रुत की आशातना से, **सुयदेवयाए आसायणाए** = श्रुत देवता (तीर्थङ्कर तथा गणधर) की आशातना से, **वायणायरियस्स आसायणाए** = वाचनाचार्य की आशातना से।

भावार्थ–अविरति रूप एकविधि असंयम का आचरण करने से जो भी अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

दो प्रकार के बंधनों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् उनसे पीछे हटता हूँ। दो प्रकार के बंधन हैं-1. राग बंधन एवं 2. द्वेष बंधन। तीन प्रकार के दण्डों से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन दंड-1. मनोदंड 2. वचनदंड एवं 3. कायदंड। तीन प्रकार की गुप्तियों से अर्थात् उनका आचरण करते हुये प्रमादवश जो भी गुप्तियों संबंधी विपरीताचरण रूप दोष लगे हों, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गुप्ति-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति।

तीन प्रकार के शल्यों से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन शल्य-मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य।

तीन प्रकार के गौरव-अभिमान से लगने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। तीन गौरव-1. आचार्य आदि पद की प्राप्ति रूप ऋद्धि का अहंकार-ऋद्धिगौरव। 2. मधुर आदि रस की प्राप्ति का अभिमान-रसगौरव तथा 3. सातागौरव-साता का अर्थ है आरोग्य एवं शारीरिक सुख। आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र-पात्र, शयनासन आदि सुख-साधनों के मिलने पर अभिमान करना एवं न मिलने पर उनकी आकांक्षा करना सातागौरव है।

तीन प्रकार की विराधनाओं से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। वे इस प्रकार हैं-1. ज्ञान की तथा ज्ञानी की निंदा करना, ज्ञानार्जन में आलस्य करना, अकाल-स्वाध्याय करना आदि ज्ञानविराधना है। 2. सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्वधारी साधक की विराधना करना दर्शनविराधना है। 3. अहिंसा, सत्य आदि चारित्र का सम्यक् पालन न करना, उसमें दोष लगाना चारित्रविराधना है।

चार कषायों के द्वारा होने वाले अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। चार कषाय-क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकषाय। चार प्रकार की संज्ञाओं के द्वारा जो अतिचार-दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। चार संज्ञाएँ-आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा और परिग्रह संज्ञा। स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा और राजकथा इन चार विकथाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के करने से तथा धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

कायिकी, आधिकारणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पाँच क्रियाओं के करने से जो भी अतिचार लगा हो उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श इन पाँचों कामगुणों के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। सर्वप्राणातिपातविरमण-अहिंसा, सर्वमृषावादविरमण-सत्य, सर्वअदत्तादानविरमण-अस्तेय, सर्वमैथुनविरमण-ब्रह्मचर्य, सर्वपरिग्रहविरमण-अपरिग्रह, इन पाँचों महाव्रतों में कोई भी अतिचार दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-भाण्डमात्र-निक्षेपणा-समिति, उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्म-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिकासमिति, इन पाँचों समितियों का सम्यक् पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छहों जीवनिकायों की हिंसा करने से जो अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या इन छहों लेश्याओं के द्वारा अर्थात् प्रथम तीन अधर्मलेश्याओं का आचरण करने से और अंत की तीन धर्मलेश्याओं का आचरण न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

प्रतिक्रमण करता हूँ-सात भय के स्थानों अर्थात् कारणों से, आठ मद के स्थानों से, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से अर्थात् उनका सम्यक् पालन न करने से, दसविध क्षमा आदि श्रमण धर्म की विराधना से, ग्यारह उपासक प्रतिमा-श्रावक की प्रतिज्ञाओं से अर्थात् उनकी अश्रद्धा तथा विपरीत प्ररूपणा से, बाहर भिक्षु की प्रतिमाओं से-उनका अश्रद्धा अथवा विपरीत प्ररूपणा से, तेरह क्रिया के स्थानों से, चौदह जीवों के समूह से अर्थात् उनकी हिंसा से, पन्द्रह परमाधार्मिकों से अर्थात् उन जैसा भाव रखने या आचरण करने से, सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के गाथा अध्ययन सहित सोलह अध्ययनों से, सतरह प्रकार के असंयम में रहने से, अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से अर्थात् उनकी विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा करने से, बीस असमाधि के स्थानों से, इक्कीस शबलों से, बाईस परीषहों से अर्थात् उनको सहन न करने से, सूत्रकृतांगसूत्र के तेईस अध्ययनों से अर्थात् तद्नुसार आचरण न करने से या विपरीत श्रद्धा-प्ररूपणा करने से, चौबीस देवों से अर्थात् उनकी अवहेलना करने से, पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं (का यथावत् पालन न करने) से, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहार-उक्त सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशन कालों से, सत्ताईस साधु के गुणों से, आचारप्रकल्प-आचारांग तथा निशीथसूत्र के अट्ठाईस अध्ययनों से, उनतीस पापश्रुत के प्रसंगों से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से।

सिद्धों के इकतीस आदि या सर्वोत्कृष्ट गुणों से, बत्तीस योगसंग्रहों से, तेतीस आशातनाओं से, यथा अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, इहलोक, परलोक, केवली प्ररूपित धर्म, देव-मनुष्यों-असुरों सहित समग्र लोक, समस्त प्राण-विकलत्रय, भूत-वनस्पति, जीव-पंचेन्द्रिय, सत्त्व-पृथ्वीकाय आदि चार स्थावर, तथैव काल, श्रुत-शास्त्र, श्रुत-देवता वाचनाचार्य-इन सबकी आशातना से, तथा व्याविद्ध-सूत्र के पाठों को या सूत्र के अक्षरों को आगे-पीछे किया हो, व्यत्याम्रेडितशून्य-चित्त से कई बार पढ़ता ही रहा हो, अन्य सूत्र का पाठ अन्य सूत्र में मिलाया हो, अक्षर छोड़कर पढ़ा हो, अत्यक्षर-अक्षर बढ़ा दिये हों, पदहीन पढ़ा हो, शास्त्र एवं शास्त्राध्यापक का समुचित विनय न किया हो, घोषहीन-उदात्तादि स्वरों से रहित पढ़ा हो, योगहीन-उपधानादि तपोविशेष के बिना अथवा उपयोग के बिना पढ़ा हो, सुष्ठुदत्त-अधिक ग्रहण करने की योग्यता न रखने वाले शिष्य को भी अधिक पाठ दिया हो, दुष्ठुप्रतीच्छित-वाचनाचार्य के द्वारा दिये हुए आगम पाठ को दुष्ट भाव से ग्रहण किया हो, अकाल-स्वाध्याय-कालिक, उत्कालिक सूत्रों को उनके निषिद्ध काल में पढ़ा हो, अस्वाध्याय के समय स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय की स्थिति में स्वाध्याय न किया हो।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के चौदह आशातनाओं से, और सब मिलाकर तेतीस आशातनाओं से जो भी अतिचार हो, तत्संबंधी मेरा दुष्कृत-पाप मिथ्या हो।

विवेचन-असंयम-संयम का विरोधी असंयम है। संयम अर्थात् सावधानी के साथ भली भाँति

इच्छाओं का नियमन और इन्द्रिय निग्रह करना है। 17 प्रकार के संयमों के सामान्य संग्रह नय की अपेक्षा एक संयम पद से ग्रहण कर लिया गया है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाली कषाय परिणति असंयम है। इसमें दृष्टि पौद्गलिक (बहिर्मुखी) हो जाती है। अत: इस सूत्र का अर्थ हुआ-संयम पथ पर चलते हुए प्रमादवश असंयम हो गया हो, अन्तर्हृदय साधना पथ से भटक गया हो वहाँ से हटकर पुन: उसे संयम (आत्म स्वरूप) में केन्द्रित करता हूँ।

बन्धन– 'बध्यतेऽष्टविधेन कर्मणा येन हेतूभूतेन तद् बन्धनम्' अर्थात् जिस हेतु के द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है, वह बन्धन है। बन्धन के 2 भेद-राग और द्वेष। **'रंजनं-रज्यते वाऽनेन जीव इति राग:,' राग एव बंधनम्। द्वेषेणं द्विषत्यनेन इति वा द्वेष:, द्वेष एव बन्धनम्।** जिसके द्वारा जीव कर्मों से रंग जाता है वह मोह की परिणति ही राग है, अत: राग बन्धन रूप है। जिस मोह परिणति के द्वारा शत्रुता, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि किया जाता है वह द्वेष है। वह भी बन्धन रूप है।

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुनाश्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य, कर्मबन्धनो भवत्येवम्।।

जिस मनुष्य ने शरीर पर तेल चुपड़ रखा हो उसके शरीर पर उड़ने वाली धूली चिपक जाती है। वैसे ही राग द्वेष युक्त आत्मा पर कर्मरज का बन्धन हो जाता है।

दण्ड-सूत्र-दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काया को आध्यात्मिक भाषा में दंड कहते हैं। जिसके द्वारा चारित्र रूप ऐश्वर्य का विनाश होने के कारण आत्मा दण्डित होता है। वह दण्ड कहलाता है। लाठी आदि द्रव्य दण्ड है उसके द्वारा शरीर दण्डित होता है। यहाँ दुष्प्रयुक्त मन आदि भाव दण्ड हैं, जिससे आत्मा दण्डित होती है। आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि-**दण्ड्यते-चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा:।**

गुप्ति-सूत्र-गुप्ति का अर्थ रक्षा करना होता है। **'गोपनं गुप्ति:'** अत: मन, वचन और काया की रक्षा अथवा नियन्त्रण गुप्ति है। गुप्ति प्रविचार (प्रवृत्ति रूप) और अप्रविचार (निवृत्ति रूप) उभय रूप होती है। गुप्ति में असत् क्रिया का निषेध मुख्य है और समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। गुप्ति अन्ततोगत्वा प्रवृत्ति रहित भी हो सकती है। परन्तु समिति प्रवृत्ति रहित नहीं हो सकती है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में एक गाथा उद्धृत की है-

समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणंमि भइयव्वो।
कुसल वइमुदीरिंतो, जं वयगुत्तो वि समिओ वि।।

समिति में गुप्ति की नियमा है और गुप्ति में समिति की भजना है। शुभ वचन बोलते हुए समिति और गुप्ति दोनों होती है। शुभ वचन प्रवृत्ति रूप होने से समिति है और अशुभ वचनों से निवृत्त होने से गुप्ति रूप है। गुप्ति एकान्तत: निवृत्ति रूप भी हो सकती है अत: समिति की भजना कही है।

शल्य–सूत्र–'शल्यतेऽनेनेति शल्यम्' जिसके द्वारा अन्तर में पीड़ा सालती (कसकती) रहती हो वह शल्य है। द्रव्य शल्य काँटा, तीर आदि शरीर में घुस जावे और नहीं निकले तब तक वह चैन नहीं लेने देता; उसी प्रकार मायादि शल्य अन्तरात्मा को शान्ति नहीं लेने देते हैं। तीनों ही शल्य तीव्र कर्म बन्ध के हेतु हैं। अत: दु:खोत्पादक होने के कारण शल्य हैं।

गौरव–सूत्र–गौरव का अर्थ गुरुत्व (भारीपन) है। पत्थरादि की गुरुता द्रव्य गौरव है और अभिमान एवं लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव 'भाव गौरव' है। यह तीन प्रकार का है–**ऋद्धि गौरव–** ऊँचा पद, सत्कार, सम्मान, वन्दन, उग्रव्रत, विद्यादि का अभिमान और प्राप्त न होने पर उनकी लालसा करना। **रस गौरव–**स्वादिष्ट रसों की प्राप्ति का गर्व और नहीं मिलने पर लालसा करना। **साता गौरव–** आरोग्य एवं शारीरिक सुख। वस्त्र, पात्र, शयनासन आदि के साधनों के मिलने पर अभिमान और न मिलने पर उनकी लालसा करना।

विराधना–सूत्र–रत्नत्रयी का विधिवत् पालन करना आराधना होती है और उसके विपरीत पालन करना विराधना है।

कषाय–सूत्र–'कष्यते प्राणी विविधदु:खैरस्मिन्निति कष–संसार: तस्य आयो लाभो येभ्यस्तेकषाय: ।' जिसमें प्राणी विविध दु:खों के द्वारा कष्ट पाते हैं वह संसार (कष्) है। **उस संसार का लाभ कषाय है** अथवा **दु:खसस्यं कर्मक्षेत्रं कर्षन्ति (कृषन्ति) फलवत्कुर्वन्ति इति कषाया: ।** जो दु:ख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं अर्थात् फल वाले करते हैं वे कषाय हैं।

संज्ञा–सूत्र–यहाँ संज्ञा का अर्थ कर्मोदय (वेदनीयादि) के प्राबल्य से होने वाली अभिलाषा रुचि से है।

विकथा–सूत्र–'विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा' आध्यात्मिक अर्थात् संयम जीवन को दूषित करने वाली विरुद्ध एवं भ्रष्ट कथा को विकथा कहते हैं।

ध्यान–सूत्र–निर्वात स्थान में स्थिर दीप शिखा के समान निश्चल और अन्य विषयों के संकल्प से रहित केवल एक ही विषय का धारावाही चिन्तन ध्यान कहलाता है। उक्तं च–

अंतोमुहुत्तमित्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि ।
छउमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणंतु ।।

छद्मस्थों के एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त्त मात्र मन का अवस्थान 'ध्यान' कहलाता है। किन्तु जिन भगवान के मन (भाव मन) का अभाव होने के कारण योग निरोध ही ध्यान होता है। चित्त एकाग्रता रूप नहीं।

चार प्रकार के ध्यानों की संक्षिप्त व्याख्या के लिए आचार्य जिनदास महत्तर ने आवश्यक चूर्णि के प्रतिक्रमण अध्ययन में एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है–

हिंसाणुरंजितं रौद्रं, अट्टं कामाणुरंजेयम्।
धम्माणुरंजियं धम्मं, सुक्कं झाणं निरंजणं।।

हिंसा से अनुरञ्जित (रंगा) हुआ ध्यान रौद्र और काम से अनुरञ्जित ध्यान आर्त्त कहलाता है। धर्म से अनुरञ्जित ध्यान धर्मध्यान कहलाता है और शुक्ल ध्यान पूर्ण निरंजन होता है।

क्रिया–सूत्र–कर्म बन्ध कराने वाली चेष्टा (हिंसा प्रधान दुष्ट व्यापार विशेष) क्रिया कहलाती है।

कामगुण–सूत्र–जो पौद्गलिक गुण वासनात्मक भावों को जगाने वाले हैं; उन्हें कामगुण कहते हैं। **'काम्यन्त इति कामा: ते च ते गुणाश्चेति कामगुणा इति।'** अर्थात् पुद्गल जन्य वासनात्मक गुणों की प्राप्ति के लिए कामना करना ही वस्तुत: कामगुण है। आचार्य हरिभद्र ने इस प्रकार अर्थ किया है। **'काम्यन्त इति कामा: शब्दादयस्त एव स्वरूप गुणबंध हेतुत्वाद् गुणा इति।'** अर्थात् संसारी जीवों के द्वारा शब्द रूप आदि की कामना की जाती है। अत: वे काम कहलाते हैं और गुण का अर्थ है–'रस्सी'। शब्दादि काम ही गुणरूप–बन्धन रूप होने से गुण है। अथवा विषय भोग काम के साधनों शब्दादि को कामगुण कहते हैं। कामगुण में गुण शब्द श्रेष्ठता का वाचक न होकर केवल बन्ध हेतु वाचक है।

महाव्रत–सूत्र–महान् पुरुषों के द्वारा आचरित, महान् अर्थ मोक्ष का प्रसाधन और स्वयं भी व्रतों में महान् होने से महाव्रत कहलाते हैं। उक्तं च–**'जाति देशकालसमयाऽनवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्'** अर्थात् जाति आदि की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य महाव्रत कहलाते हैं।

समिति–सूत्र–'सम्–एकीभावेन इति:–प्रवृत्ति: समिति: शोभनेकाग्र परिणामचेष्टेत्यर्थ:।' अर्थ–विवेक युक्त होकर प्रवृत्ति करना समिति है अर्थात् प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त, एकाग्रता पूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है।

जीवनिकाय–निकाय शब्द का अर्थ है राशि। जीवों की राशि को जीवनिकाय कहते हैं। यही 6 काय नाम से भी प्रसिद्ध है। शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाली औदारिक और वैक्रिय पुद्गलों की रचना और वृद्धि को काय कहते हैं। काय के भेद से जीव भी 6 प्रकार के हैं।

लेश्या–सूत्र–'लिश् संश्लेषणे' 'संश्लिष्यते आत्मा तैस्तै: परिणामान्तरैरिति लेश्या:।' अर्थात् आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारा शुभाशुभ कर्म संश्लेष होते हैं वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं।

'कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात्, परिणामो य आत्मन:।
स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्या शब्द: प्रवर्तते।।'

अर्थात् जैसे स्फटिक मणि के पास जिस वर्ण की वस्तु रख दी जाती है, स्फटिक मणि उसी वर्ण वाली प्रतीत होती है। उसी प्रकार कृष्णादि द्रव्यों के संसर्ग से आत्मा में भी उसी तरह का परिणाम होता है। यह परिणाम भाव लेश्या रूप है और कृष्णादि द्रव्य लेश्या है। यह लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य है।

भयस्थान–सूत्र–भय मोहनीय के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेग रूप परिणाम विशेष को भय कहते हैं। भय के द्वारा संयम जीवन दूषित होता है। इसीलिए भय का प्रतिक्रमण किया जाता है।

मदस्थान–'मदो नाम मानोदयादात्मोत्कर्ष परिणामः, स्थानानि तस्यैव पर्याया भेदाः' अर्थात् मान मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के परिणाम विशेष को मद कहते हैं। ये त्याज्य हैं, यदि प्रमाद वश किसी मद का आसेवन कर लिया गया हो तो प्रतिक्रमण से शुद्धि की जाती है।

ब्रह्मचर्यगुप्ति–सूत्र–ब्रह्म का अर्थ है–परमात्मा। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए जो 'चर्या' आचरण किया जाता है, उसका नाम ब्रह्मचर्य है अथवा ब्रह्म का अर्थ है आत्मगुण और चर्य का अर्थ है–रमण करना।

दश श्रमणधर्म–तप संयम रूपी आध्यात्मिक साधना में निरन्तर श्रम करने वाले सर्व विरत साधक को श्रमण कहते हैं। श्रमण के धर्म (कर्त्तव्य) श्रमण धर्म कहलाते हैं।

उपासकप्रतिमा–उपासक का अर्थ श्रावक होता है। प्रतिमा का अर्थ प्रतिज्ञा–अभिग्रह विशेष है। ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का साधु के लिए अतिचार यह है कि इन पर शुद्ध श्रद्धा व प्ररूपणा न करना अथवा विपरीत करना।

भिक्षुप्रतिमा–बारह भिक्षु प्रतिमाओं का यथाशक्ति आचरण न करना, श्रद्धा न करना तथा प्ररूपणा न करना अतिचार है।

क्रियास्थान–क्रिया स्थानों में अतिचार यह है कि इन पर शुद्ध श्रद्धा व प्ररूपणा न करना अथवा विपरीत करना।

चौदह भूतग्राम–जीव समूह। इनकी विराधना करना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना अतिचार है। अशुद्ध और विपरीत श्रद्धा और प्ररूपणा की हो तो उसका भी प्रतिक्रमण किया जाता है।

परमाधार्मिक–पापाचरण और क्रूर परिणामों वाले असुरजाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं वे परमाधार्मिक कहलाते हैं।

असंयम–मन, वचन और काया की सावद्य व्यापार में प्रवृत्ति होना।

ज्ञाताध्ययन–श्री ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के 19 अध्ययनों में प्रतिपादित कथानकों से ग्रहण करने योग्य बातों को ग्रहण न करने रूप अतिचार का प्रतिक्रमण किया जाता है।

असमाधि–स्थान–समाधानं समाधिः चेतराः स्वास्थ्यं, मोक्षमार्गेऽवा–स्थितिरित्त्यर्थः, न समाधिरसमाधिः। जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शांति हो, आत्मा ज्ञान–दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में अवस्थित रहे, उसे समाधि कहते हैं। जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव हों, ज्ञानादि मोक्ष–मार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो उसे असमाधि कहते हैं।

शबलदोष–'शबलं–कर्बुरं चारित्रं यै: क्रिया–विशेषैर्भवति ते शब्बला–स्तद्योगात्साधवोऽपि।' अर्थात् जिन कार्यों (क्रियाओं को करने) से चारित्र कर्बुर (धब्बे युक्त मलक्लिन्न–कर्म मैल से युक्त चित्त कबरा) हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं। उक्त दोषों को सेवन करने वाले साधु भी शबल कहलाते हैं।

परीषह–क्षुधादि किसी भी कारण के द्वारा आपत्ति आने पर संयम में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट साधुओं को सहन करने चाहिए, उन्हें परीषह कहते हैं।

रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष–मार्ग से च्युत न होने के लिए अर्थात् संयम में स्थिर रहने के लिए और कर्मों की निर्जरा के लिए जो स्वेच्छा से सहन किये जाते हैं उन्हें परीषह कहते हैं।

सूत्रकृतांग के अध्ययन–सूत्रकृतांग सूत्र के 23 अध्ययनों में प्रतिपादित विषयों के अग्रहण रूप अतिचार का प्रतिक्रमण किया जाता है।

दशाकल्प व्यवहार के उद्देशक–दशासूत्र (दशाश्रुत स्कन्ध) के 10, कल्पसूत्र (बृहत्कल्प) के 6, व्यवहार सूत्र के 10 उद्देशक के कुल 26 इन 26 उद्देशकों में प्रतिपादित साधु के आचार में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

पापश्रुत प्रसंग–पापश्रुत प्रसंग–पापों के उपार्जन करने वाले शास्त्रों का श्रवण। पापश्रुत के 29 भेद बताए है।

सिद्धातिगुण–यहाँ आदि गुण का अर्थ है–ये गुण सिद्धों में प्रारम्भ से ही होते हैं, यह नहीं कि कालान्तर में होते हैं। क्योंकि सिद्धों की भूमिका क्रमिक विकास की नहीं है। आचार्य श्री शांतिसूरि जी सिद्धाइ गुणे शब्द का अर्थ सिद्धाऽति गुण करके सिद्धों के उत्कृष्ट या असाधारण गुण अर्थ कहते हैं।

तेतीस बोल में सातवें बोल से लगाकर 32वें बोल तक के भेद-प्रभेद-

सातवें बोले सात भय–1. इहलोक भय–इस लोक में मनुष्य आदि का भय, 2. परलोक भय–देवादि का भय, 3. आदान भय–सर्प आदि के ग्रहण करने रूप भय, 4. अकस्मात् भय–अचानक बाढ़ आदि से होने वाला भय, 5. आजीविका भय, 6. अपयश भय, 7. मरण भय।

आठवें बोले आठ मद–1. जाति मद, 2. कुल मद, 3. बल मद, 4. रूप मद, 5. तप मद, 6. लाभ मद, 7. श्रुत मद, 8. ऐश्वर्य मद।

नवें बोले नव बाड़ (गुप्ति–रक्षा) ब्रह्मचर्य की–1. ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री, पशु, नपुंसक सहित स्थान में रहे नहीं, रहे तो चूहे को बिल्ली का दृष्टान्त।

2. ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री सम्बन्धी काम–राग बढ़ाने वाली कथा वार्ता करे नहीं, करे तो रसना को इमली और नींबू का दृष्टान्त।

3. ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री के साथ एक आसन पर बैठे नहीं, बैठे तो घी के घड़े को अग्नि का दृष्टान्त।

4. ब्रह्मचारी पुरुष, स्त्री के अंगोपांग राग दृष्टि से निरखे नहीं, निरखे तो कच्ची आँख और सूर्य का दृष्टान्त।

5. ब्रह्मचारी पुरुष, टाटी, भींत के आन्तरे से स्त्री के विषयकारी शब्द सुने नहीं, सुने तो मयूर और मेघ का दृष्टान्त।

6. ब्रह्मचारी पुरुष, पहले के भोगे हुए काम भोगों को याद करे नहीं, करे तो डोकरी और बटाऊ का दृष्टान्त एवं जिनपाल-जिनरक्षित का दृष्टान्त।

7. ब्रह्मचारी पुरुष, प्रतिदिन सरस तथा बलवर्धक आहार करे नहीं, करे तो सन्निपात रोग में दूध और मिश्री का दृष्टान्त।

8. ब्रह्मचारी पुरुष, रुखा सूखा आहार ठूँस-ठूँसकर करे नहीं, करे तो सेर की हाँडी में सवा सेर का दृष्टान्त।

9. ब्रह्मचारी पुरुष, शरीर की शोभा विभूषा करे नहीं, करे तो रंक के हाथ में रत्न का दृष्टान्त।

दसवें बोले दस यति धर्म-1. खंति-अपराधी पर भी वैर नहीं रखना, क्षमा करना। **2. मुत्ति**-निर्लोभी होना। **3. अज्जवे**-सरलता-निष्कपटता। **4. मद्दवे**-कोमलता-विनम्रता। **5. लाघवे**-द्रव्य से भण्डोपकरण रूप उपधि और भाव से कषाय रूप उपधि थोड़ी होना। **6. सच्चे**-प्रामाणिकता से बोले व शुद्धाचार का पालन करे। **7. संयम**-नाना प्रकार के व्रत नियमों का पालन करे (मन, इन्द्रियों तथा शरीर को काबू में रखना) **8. तवे**-आध्यात्मिक शक्ति बढ़े, मनोबल दृढ़ हो, उस विधि से उपवास आदि तप करें। **9. चियाए (अकिंचन)**-ममत्व का त्याग करें। **10. बंभचेरवासे**-शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करे और मैथुन से सर्वथा निवृत्ति करे।

ग्यारहवें बोले श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ-1. दर्शन प्रतिमा-एक मास की, निरतिचार समकित संवर का पालन करे। **2. व्रत प्रतिमा**-दो मास की, निरतिचार नाना प्रकार के व्रत-नियमों का पालन करे। **3. सामायिक प्रतिमा**-तीन मास की, निरतिचार शुद्ध सामायिक करे। **4. पौषध प्रतिमा**-चार मास की, एक-एक मास में अतिचार रहित छः-छः प्रतिपूर्ण पौषध करे। **5. कायोत्सर्ग प्रतिमा**-पाँच मास की, हमेशा रात्रि में कायोत्सर्ग करे और इन पाँच बोलों का पालन करे-1. स्नान नहीं करे, 2. रात्रि-भोजन त्यागे, 3. धोती की एक लाँग खुली रखें, 4. दिन में ब्रह्मचर्य पाले और 5. रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करे। **6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा**-छः मास की, निरतिचार पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। **7. सचित्त-त्याग प्रतिमा**-जघन्य एक दिन उत्कृष्ट सात मास की, सचित्त वस्तु नहीं भोगे। **8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा**-जघन्य एक दिन

उत्कृष्ट आठ मास की, स्वयं आरम्भ नहीं करे। **9. प्रेष्य-त्याग प्रतिमा**-जघन्य एक दिन उत्कृष्ट नौ मास की, दूसरों से आरम्भ नहीं करावें। **10. उद्दिष्ट-भक्त-त्याग प्रतिमा**-जघन्य एक दिन उत्कृष्ट दस मास की, अपने वास्ते आरम्भ कर कोई वस्तु बनाकर देवे तो नहीं लेवे, कोई कुछ बात एक बार या बार-बार पूछे तो जानते हो तो हाँ कहे, नहीं तो ना कहे । खुर मुण्डन करावे, शिखा रखे। **11. श्रमणभूत प्रतिमा**-जघन्य एक दिन उत्कृष्ट ग्यारह मास की, खुर मुण्डन करे या शक्ति हो तो लोच करे। साधु की तरह रजोहरण, उपकरण, वस्त्र, पात्र आदि रखे। स्व-ज्ञाति की गोचरी करे, साधु की तरह उपदेश देवे और कहे कि मैं प्रतिमाधारी श्रावक हूँ। इन सर्व प्रतिमाओं का काल पाँच वर्ष छह माह का है।

बारहवें बोले भिक्षु की बारह प्रतिमा-भिक्षु प्रतिमा की आराधना के चौदह नियम (19 सूत्रों का संक्षेप)-

1. शरीर पर ममता नहीं रखे, शरीर की शुश्रुषा नहीं करे। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन करे।

2. एक दाति (दत्ति) आहार, एक दाति पानी, प्रासुक तथा एषणिक लेवे। दाति-दत्ति अर्थात् धार, एक साथ धार खण्डित हुए बिना जितना पात्र में पड़े उतने को दाति कहते हैं।

3. प्रतिमाधारी साधु, गोचरी के लिए दिन के तीन विभाग करे और तीन विभागों में से चाहे जिस एक विभाग में गोचरी करे।

4. प्रतिमाघारी साधु, छह प्रकार से गोचरी करे-1. पेटी के आकारे, 2. अर्ध पेटी के आकारे, 3. बैल के मूत्र के आकारे, 4. पतंग उड़े उस तरह 5. शंखावर्तन, 6. जाते हुए करे तो आते हुए नहीं करे और आते हुए करे तो जाते हुए नहीं करे।

5. गाँव के लोगों को मालूम हो जाय कि यह प्रतिमाधारी मुनि है तो वहाँ एक रात्रि ही रहे और ऐसा मालूम नहीं हो तो दो रात्रि रहे। उपरान्त जितनी रात्रि रहे उतना प्रायश्चित्त का भागी बने।

6. प्रतिमाधारी साधु, चार कारण से बोलते हैं-1. याचना करते, 2. मार्ग पूछते, 3. शय्या आदि की आज्ञा प्राप्त करते और 4. प्रश्न का उत्तर देते।

7. प्रतिमाधारी साधु, तीन स्थान में निवास करें-1. बाग-बगीचा, 2. श्मशान छत्री, 3. वृक्ष के नीचे। इनकी याचना करे।

8. प्रतिमाधारी साधु, तीन प्रकार की शय्या ले सकते हैं-1. पृथ्वी, 2. शिला, 3. काष्ठ।

9. प्रतिमाधारी साधु, जिस स्थान में है वहाँ स्त्री आदि आवे तो भय के कारण बाहर निकले नहीं, कोई जबरदस्ती हाथ पकड़ कर निकाले तो ईर्या समिति सहित बाहर हो जावे तथा वहाँ आग लगे तो भी भय से बाहर आवे नहीं, कोई बाहर निकाले तो ईर्या समिति पूर्वक बाहर निकल जावे।

10. प्रतिमाधारी साधु, के पाँव में काँटा लग जाय या आँख में धूल, तृण आदि गिर जावे, तो उसे अपने हाथों से निकाले नहीं।

11. प्रतिमाधारी साधु, सूर्योदय के पहले तथा सूर्यास्त होने पर एक कदम भी नहीं चले (विहार नहीं करे)।

12. प्रतिमाधारी साधु को सचित्त पृथ्वी पर बैठना या सोना कल्पे नहीं तथा सचित रज लगे हुए पैरों से गृहस्थ के यहाँ गोचरी जाना कल्पे नहीं।

13. प्रतिमाधारी साधु, प्रासुक जल से भी हाथ-पाँव और मुँह आदि धोवे नहीं, अशुचि का लेप दूर करने के लिए धोने का निषेध नहीं है।

14. प्रतिमाधारी साधु के मार्ग में हाथी, घोड़ा अथवा सिंह आदि जंगली जानवर सामने आये हो तो भी भय से रास्ता छोड़े नहीं, यदि वह जीव डरता हो तो तुरन्त अलग हट जावे। रास्ते चलते धूप से छाया में और छाया से धूप में आवे नहीं और शीत, उष्ण का परीषह समभाव से सहन करे।

बारह प्रतिमाएँ-(1-7.) पहली से सातवीं प्रतिमा-एक-एक मास की, पहली प्रतिमा-एक दत्ति अन्न और एक दत्ति पानी की, दूसरी प्रतिमा-दो दत्ति अन्न और दो दत्ति पानी की, इस प्रकार एक-एक बढ़ाते हुए सातवीं प्रतिमा सात दत्ति अन्न और सात दत्ति पानी की।

8. आठवीं प्रतिमा-सात अहोरात्रि की-चौविहार एकान्तर तप करे, ग्राम से बाहर जाकर तीन आसन में से एक आसन करे-1. चिता सोवे, 2. करवट सोवे, 3. पलाठी लगाये।

9. नौवीं प्रतिमा-सात अहोरात्रि की-चौविहार एकान्तर तप करे, ग्राम से बाहर जाकर तीन आसन में से एक आसन करे-1. दण्डासन, 2. लकुटासन, 3. उत्कटासन।

10. दसवीं प्रतिमा-सात अहोरात्रि की, चौविहार एकान्तर तप करे, ग्राम से बाहर जाकर तीन आसन में से एक आसन करे-1. वीरासन, 2. गोदुह आसन, 3. अम्बकुब्ज आसन।

11. ग्यारहवीं प्रतिमा-एक अहोरात्रि की-चोविहार बेला करे, ग्राम से बाहर जाकर पैर संकोच कर हाथ फैलाकर कायोत्सर्ग करे।

12. बारहवीं प्रतिमा-एक रात्रि की, चौविहार तेला करे, ग्राम से बाहर जाकर पैर संकोच कर, हाथ पसार कर, अमुक वस्तु पर दृष्टि लगाकर ध्यान करे। देव, मानव, तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग सहन करे। इस प्रतिमा की आराधना से अवधि ज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान इन तीन ज्ञानों में से एक ज्ञान की प्राप्ति होती है और ध्यान में चलायमान हो जावे तो पागल हो जावे, दीर्घकाल का रोग हो जावे, केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जावे।

इन सर्व प्रतिमाओं का काल कुछ कम आठ मास का है।

13. तेरहवें बोले तेरह क्रियास्थान–1. अर्थ दण्ड–स्वयं व परिवारादि के लिए हिंसादि करना। **2. अनर्थ दण्ड**–निरर्थक व बिना प्रयोजन हिंसादि करना। **3. हिंसा दण्ड**–संकल्प पूर्वक किसी प्राणी को मारना। **4. अकस्मात् दण्ड**–बिना उपयोग सहसा जीव का घात हो जाना। **5. दृष्टि विपर्यास दण्ड**–बुद्धि के विभ्रम से मित्र को शत्रु जानकर मार डालना। **6. मृषावाद दण्ड**–असत्य भाषण करना। **7. अदत्तादान दण्ड**– चोरी करना, बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना। **8. अध्यात्म दण्ड**–बाहरी निमित्त के बिना मन में दुष्ट विचार करना। (अध्यात्म का अर्थ यहाँ मन है)। **9. मान दण्ड**–गर्व करना। **10. मित्र दण्ड**–माता-पिता और मित्र वर्ग को अल्प अपराध पर भी अधिक दण्ड देना। **11. माया दण्ड**–कपट करना। **12. लोभ दण्ड**–लोभ करना। **13. ईर्यापथिक दण्ड**–सयोगी वीतरागी को लगने वाली क्रिया।

चौदहवें बोले चौदह भूतों के स्थान–1. सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त, 2. सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, 3. बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त, 4. बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, 5. बेइन्द्रिय अपर्याप्त, 6. बेइन्द्रिय पर्याप्त, 7. तेइन्द्रिय अपर्याप्त, 8. तेइन्द्रिय पर्याप्त, 9. चौरेन्द्रिय अपर्याप्त, 10. चौरेन्द्रिय पर्याप्त, 11. असन्नी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, 12. असन्नी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, 13. सन्नी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त, 14. सन्नी पंचेन्द्रिय पर्याप्त।

पन्द्रहवें बोले पन्द्रह परमाधामी देव–1. अम्ब, 2. अम्बरीष, 3. श्याम, 4. शबल, 5. रौद्र, 6. वैरुद्र (महारौद्र), 7. काल, 8. महाकाल, 9. असिपत्र, 10. धनुष, 11. कुम्भ, 12. बालुका, 13. वैतरणी, 14. खरस्वर, 15. महाघोष।

सोलहवें बोले–सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के सोलह अध्ययन–1. स्व समय-पर समय, 2. वैदारिक (वैतालीय), 3. उपसर्ग परिज्ञा, 4. स्त्री परिज्ञा, 5. नरक विभक्ति, 6. वीर स्तुति, 7. कुशील परिभाषा, 8. वीर्याध्ययन, 9. धर्मध्यान 10. समाधि, 11. मोक्षमार्ग, 12. समवशरण, 13. यथातथ्य, 14. ग्रन्थ, 15. यमतिथि (आदानीय), 16. गाथा।

सतरहवें बोले–सतरह प्रकार का संयम–1. पृथ्वीकाय संयम, 2. अप्काय संयम, 3. तेउकाय संयम, 4. वायुकाय संयम, 5. वनस्पतिकाय संयम, 6. बेइन्द्रिय संयम, 7. तेइन्द्रिय संयम, 8. चउरिन्द्रिय संयम, 9. पंचेन्द्रिय संयम, 10. अजीवकाय संयम, 11. प्रेक्षा संयम (मार्ग स्थण्डिल भूमि आदि देखकर प्रवृत्ति करना), 12. उपेक्षा संयम (उत्प्रेक्षा) (आज्ञानुसार शुभ क्रिया में प्रवृत्ति, अशुभ से निवृत्ति करना), 13. अपहृत्य (परिस्थापनिका) संयम-परठने योग्य वस्त्र, मल-मूत्र, संसक्त आहारादि को विधिपूर्वक परठना, 14. प्रमार्जना-भूमि, वस्त्र, पात्र का विधिपूर्वक प्रतिलेखन करना, 15. मन संयम, 16. वचन संयम, 17. काय संयम।

अठारहवें बोले–ब्रह्मचर्य अठारह प्रकार का–1 से 9 औदारिक शरीर सम्बन्धी कामभोग सेवे नहीं, सेवावे नहीं, सेवते हुए को भला जाणे नहीं मन, वचन और काया से 3 x 3 = 9 हुए। इसी प्रकार वैक्रिय शरीर सम्बन्धी नौ भेद जानना इस तरह कुल 18 हुए।

उन्नीसवें बोले–ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के उन्नीस अध्ययन– 1. मेघकुमार का, 2. धन्ना सार्थवाह और विजय चोर का, 3. मयूरी के अण्डे का, 4. कछुए का, 5. शैलक राजर्षि का, 6. तूम्बे का, 7. धन्ना सार्थवाह और चार बहुओं का, 8. मल्ली भगवती का, 9. जिनपाल और जिनरक्षित का, 10. चन्द्र की कला का, 11. दावानल का (दावद्रव वृक्ष का), 12. जितशत्रु राजा और सुबुद्धि प्रधान का, 13. नन्दन मणिकार का, 14. तेतलीपुत्र प्रधान और सुनार की पुत्री पोटिला का, 15. नन्दी फल का, 16. अमरकंका का, 17. समुद्र अश्व का, 18. सुंसमा दारिका का, 19. पुण्डरीक कण्डरीक का।

बीसवें बोले–बीस असमाधि स्थान–1. उतावल से चले, 2. बिना पूँजे चले, 3. अयोग्य रीति से पूँजे, 4. पाट–पाटला आदि मर्यादा के अधिक रखे, 5. बड़ों व गुरुजनों के सामने बोले, 6. वृद्ध स्थविर मुनि का उपघात करे, 7. साता–रस–विभूषा के निमित्त एकेन्द्रिय जीव हणे (मारे), 8. पल–पल में क्रोध करे 9. हमेशा क्रोध में जलता रहे, 10. दूसरों के अवगुणवाद बोले, 11. निश्चयकारी भाषा बोले, 12. नया क्लेश पैदा करे, 13. दबे हुए क्लेश को वापस जगावे, 14. अकाल में स्वाध्याय करे, 15. सचित्त पृथ्वी आदि से भरे हुए हाथों से गोचरी करे, 16. एक प्रहर रात्रि बीतने के बाद जोर–जोर से बोले, 17. गच्छ में भेद उत्पन्न करे, 18. कलह फैलाकर परस्पर दुःख उपजावे, 19. सूर्योदय से सूर्यास्त तक लाता–खाता रहे, 20. अनैषणिक–अप्रासुक आहार लेवे।

इक्कीसवें बोले इक्कीस सबल दोष–1. हस्तकर्म करे, 2. मैथुन सेवे, 3. रात्रि भोजन करे, 4. आधाकर्मी भोगवे, 5. राजपिण्ड भोगवे, 6. पाँच बोल सेवे–साधु के निमित्त से खरीदकर लाया हुआ, उधार लाया हुआ, सामने लाया हुआ, मालिक की आज्ञा बिना लाया हुआ, जबरदस्ती छीनकर लाया हुआ, 7. बारम्बार पच्चक्खाण करे और तोड़े, 8. छः–छः महीने में गण सम्प्रदाय बदले, 9. एक मास में तीन बार सचित्त जल का स्पर्श करे, नदी उतरे, 10. एक महीने में तीन बार माया (कपटाई) करे, 11. शय्यातर पिण्ड भोगवे, 12. इरादा पूर्वक हिंसा करे, 13. इरादा पूर्वक झूठ बोले, 14. इरादा पूर्वक चोरी करे, 15. इरादा पूर्वक सचित्त पृथ्वी पर शयनासन करे, 16. इरादा पूर्वक सचित्त मिश्र पृथ्वी पर शयनासन करे, 17. इरादा पूर्वक सचित्त शिला तथा जिसमें छोटे–छोटे जीव–जन्तु रहे हुए हों, वैसे काष्ठ आदि पर शयनासन करे, 18. इरादा पूर्वक दस प्रकार की सचित्त वनस्पति भोगवे–मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज, 19. एक वर्ष में दस बार सचित्त जल का स्पर्श करे, नदी उतरे, 20. एक वर्ष में दस बार माया–कपटाई करे, 21 सचित्त जल से हाथ की रेखा तथा बाल आदि भीगे हुए हों उसके हाथ से इरादा पूर्वक आहारादि लेवे और भोगवे।

बाईसवें बोले–बाईस परीषह–1. क्षुधा 2. तृषा, 3. शीत, 4. उष्ण, 5. डाँस–मच्छर, 6. अचेल, 7. अरति, 8. स्त्री, 9. चर्या, 10. निषद्या, 11. शय्या, 12. आक्रोश, 13. वध, 14. याचना, 15. अलाभ, 16. रोग, 17. तृण स्पर्श, 18. जल्ल, 19. सत्कार–पुरस्कार, 20. प्रज्ञा, 21. अज्ञान और 22. दर्शन परीषह।

तेईसवें बोले–सूत्रकृतांग के 23 अध्ययन–प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16 अध्ययन तो सोलहवें बोल की तरह, दूसरे श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन–1. पुण्डरीक कमल, 2. क्रियास्थान, 3. आहार परिज्ञा, 4. प्रत्याख्यान परिज्ञा, 5. अणगार सुत्त, 6. आर्द्रकुमार, 7. उदक पेढाल पुत्र।

चौबीसवें बोले–चौबीस प्रकार के देवता–10 भवनपति, 8 वाण–व्यन्तर, 5 ज्योतिषी और 1 वैमानिक, ये कुल 24 हुए।

पच्चीसवें बोले–पाँच महाव्रत की पच्चीस भावना–पहले महाव्रत की पाँच भावना–1. ईर्या समिति, 2. मन समिति, 3. वचन समिति, 4. एषणा समिति और 5. आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति।

दूसरे महाव्रत की पाँच भावना–1. बिना विचारे बोलना नहीं, 2. क्रोध के वश, 3. लोभ के वश, 4. भय के वश 5. हास्य के वश बोलना नहीं।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावना–1. निर्दोष स्थान माँग कर लेना, 2. तृण आदि माँग कर लेना, 3. स्थानक आदि सुधराना नहीं, 4. रत्नाधिक की आज्ञा से तथा आहार का संविभाग करके आहार करना, 5. उपाश्रय में रहे हुए सम्भोगी साधुओं से आज्ञा लेकर रहना तथा भोजन आदि करना।

चौथे महाव्रत की पाँच भावना–1. स्त्री–पशु–नपुंसक सहित स्थान में नहीं रहना, 2. स्त्री सम्बन्धी काम–राग बढ़ाने वाली कथा–वार्ता नहीं करना 3. स्त्री के अंगोपांग राग दृष्टि से नहीं देखना, 4. पहले के भोगे हुए कामभोगों को याद नहीं करना, 5 प्रतिदिन सरस तथा बलवर्धक आहार नहीं करना।

पाँचवें महाव्रत की पाँच भावना–1 शब्द, 2. रूप, 3. गंध, 4. रस, 5. स्पर्श, इनके अच्छे होने पर राग एवं बुरे होने पर द्वेष नहीं करना।

छब्बीसवें बोले–छब्बीस उद्देशक–दशाश्रुतस्कन्ध के दस, बृहत्कल्प के छह, व्यवहार सूत्र के दस। (इनमें साधुओं के विधि–नियमों का कथन है)।

सत्तावीसवें बोले–साधुजी के सत्ताईस गुण–पाँच महाव्रत पाले, पाँच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, भाव सत्य, करण सत्य, जोग सत्य, क्षमावन्त, वैराग्यवन्त, मनः समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणता, ज्ञान सम्पन्न, दर्शन सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, वेदना सहिष्णुता और मारणान्तिक सहिष्णुता।

अट्ठाईसवें बोले–अट्ठाईस आचार प्रकल्प– 1. एक मास का प्रायश्चित्त, 2.एक मास पाँच दिन का, 3. एक मास दस दिन का। इस प्रकार पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए 25वाँ पाँच मास का, ये पच्चीस उद्घातिक, 26. अनुद्घातिक, 27. कृत्स्न-सम्पूर्ण, 28. अकृत्स्न-अपूर्ण।

उनतीसवें बोले–उनतीस पापसूत्र– 1. भूमिकम्प शास्त्र, 2. उत्पाद शास्त्र, 3. स्वप्न शास्त्र, 4. अंतरिक्ष-आकाश शास्त्र, 5. अंगस्फुरण शास्त्र, 6. स्वर शास्त्र, 7. व्यंजन (शरीर पर तिल मसादि चिह्न) शास्त्र, 8. लक्षण शास्त्र। ये आठ सूत्र रूप, आठ वृत्ति रूप और आठ वार्तिक रूप इस प्रकार चौबीस हुए, 25. विकथा अनुयोग, 26. विद्या अनुयोग, 27. मन्त्र अनुयोग, 28. योग अनुयोग और 29. अन्य तीर्थिक अनुयोग।

तीसवें बोले–तीस महामोहनीय कर्मबन्ध के स्थान– 1. त्रस जीव को जल में डुबाकर मारे। 2. त्रस जीवों को श्वास रोक कर मारे। 3. त्रस जीवों को बाड़े आदि में बन्द करके मारे। 4. तलवारादि शस्त्र से मस्तक आदि अंगोपांग काटकर मारे। 5. मस्तक पर गीला चमड़ा बाँध कर मारे। 6. ठग होकर गले में फाँसी डालकर मारे (ठगाई, धोखाबाजी, धूर्तता तथा विश्वासघात करे)। 7. कपट करके अपना दुराचार छिपावे। 8. आप कुकर्म करे और दूसरे निरपराधी मनुष्य पर झूठा आरोप लगावे। 9. लोगों में अच्छा दिखने और क्लेश को बढ़ाने के वास्ते सभा में मिश्र भाषा बोले। 10. राजा का भण्डारी राजा की लक्ष्मी हरण करना चाहे, राजा की रानी के साथ कुशील सेवन करना चाहे, राजा के प्रेमी जनों के मन को पलटना चाहे तथा राजा को राज्याधिकार से अलग करना चाहे। 11. कुँवारा न होते हुए भी कुँवारा बतावे। 12. ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी ब्रह्मचारी बतावे। 13. नौकर, मालिक की लक्ष्मी लूटे-लुटावे। 14. उपकारी की ईर्ष्या भाव से बुराई करे। 15. भरण-पोषण करने वाले राजा तथा ज्ञानदाता गुरु का हनन करे। 16. राजा, नगर सेठ, मुखिया इन तीन जनों का हनन करे। 17. बहुत से मनुष्यों का आधार भूत जो मनुष्य है उसका हनन करे। 18. संयम लेने को तैयार हुआ हो उसका मन संयम से हटावे तथा संयम लिये हुए को संयम से भ्रष्ट करे। 19. तीर्थङ्कर के अवर्णवाद बोले। 20. तीर्थङ्कर प्ररूपित न्याय-मार्ग का द्वेषी बनकर उस मार्ग की निंदा करे तथा उस मार्ग से लोगों का मन दूर हटावे। 21. आचार्य, उपाध्याय, सूत्र विनय सिखाने वाले पुरुषों की निंदा करे। 22. आचार्य, उपाध्याय के मन को आराधे नहीं तथा अहंकार भाव से भक्ति नहीं करे। 23. अल्प शास्त्र ज्ञान वाला होते हुए भी खुद को बहुश्रुत बतावे, अपनी झूठी प्रशंसा करे। 24. तपस्वी नहीं होते हुए भी, तपस्वी कहलावे। 25. शक्ति होते हुए भी गुरु आदि स्थविर ग्लान मुनि की वैयावृत्य नहीं करे और कहे कि इन्होंने भी मेरी वैयावृत्य नहीं की थी, ऐसा अनुकम्पा रहित होवे। 26. चार तीर्थ में भेद पड़े ऐसी कथा (क्लेशकारी), वार्ता करे। 27. अपनी प्रशंसा तथा दूसरों से मित्रता करने के लिए अधर्म, योग वशीकरण आदि का प्रयोग करे। 28. मनुष्य तथा देवता सम्बन्धी भोग अत्यन्त-अतृप्त-आसक्त परिणाम से सेवे। 29. महायश-

महाऋद्धि के स्वामी देवता है उनके बलवीर्य के अवगुणवाद बोले। 30. अज्ञानी जीव, लोगों में पूजा प्राप्त करने के लिए चार जाति के देवताओं को न देखते हुए भी कहे कि ''मैं देव को देखता हूँ।'' तो महामोहनीय कर्म बाँधे।

इकत्तीसवें बोले–सिद्ध भगवान के इकत्तीस गुण–आठ कर्मों की प्रकृति नष्ट होने पर इकत्तीस गुण प्रकट होते हैं। जैसे–ज्ञानावरणीय की 5 प्रकृति, दर्शनावरणीय की 9 प्रकृति, वेदनीय की 2 प्रकृति, मोहनीय की 2 प्रकृति, आयुष्य की 4 प्रकृति, नाम की 2 प्रकृति, गोत्र की 2 प्रकृति, अन्तराय की 5 प्रकृति, इन 31 प्रकृतियों के क्षय होने से 31 गुण प्रकट होते हैं।

बत्तीसवें बोले–बत्तीस प्रकार का योग संग्रह–योग–संग्रह–युज्यन्ते इति योग: मनोवाक्काय–व्यापार: ते चेह प्रशस्ता एव विवक्षित: अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। शुभ और अशुभ भेद से योग के 2 प्रकार हैं। अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति ही संयम है। प्रस्तुत सूत्र में शुभ प्रवृत्ति रूप योग ही ग्राह्य है। योग संग्रह की साधना में जहाँ कहीं भूल हुई हो, उसका प्रतिक्रमण किया जाता है।

1. लगे हुए पापों का प्रायश्चित्त लेने का संग्रह करे। 2. दूसरे के लिए हुए प्रायश्चित्त को किसी और को नहीं कहने का संग्रह करे। 3. विपत्ति आने पर भी धर्म में दृढ़ रहने का संग्रह करे। 4. निरपेक्ष तप करने का संग्रह करे। 5. सूत्रार्थ–ग्रहण करने का संग्रह करे। 6. शुश्रूषा (शरीर की शोभा) टालने का संग्रह करे। 7. अज्ञात कुल की गोचरी करने का संग्रह करे। 8. निर्लोभी होने का संग्रह करे। 9. बावीस परीषह सहने का संग्रह करे। 10. साफ दिल (सरलता) रखने का संग्रह करे। 11. सत्य संयम रखने का संग्रह करे। 12. सम्यक्त्व निर्मल रखने का संग्रह करे। 13. समाधि सहित रहने का संग्रह करे। 14. पंचाचार पालने का संग्रह करे। 15. विनय करने का संग्रह करे। 16. धैर्य रखने का संग्रह करे। 17. वैराग्य भाव रखने का संग्रह करे। 18. शरीर को स्थिर रखने का संग्रह करे। 19. विधि पूर्वक अच्छे अनुष्ठान करने का संग्रह करे। 20. आस्रव रोकने का संग्रह करे। 21. आत्मा के दोष टालने का संग्रह करे। 22. सभी विषयों से विमुख रहने का संग्रह करे। 23. अहिंसा आदि मूल गुण रूप प्रत्याख्यान करने का संग्रह करे। 24. द्रव्य से उपधि, भाव से गर्वादि त्यागने का (उत्तरगुण धारने का) संग्रह करे। 25. अप्रमादी बनने (व्युत्सर्ग–ममता त्याग) का संग्रह करे। 26. काले–काले (समय पर) क्रिया करने का संग्रह करे। 27. धर्मध्यान ध्याने का संग्रह करे। 28. संवर करने का संग्रह करे। 29. मारणान्तिक रोग होने पर भी मन को क्षुभित नहीं बनाने का संग्रह करे। 30. स्वजनादि को त्यागने का संग्रह करे। 31. लिये हुए प्रायश्चित्त को पार लगाने का संग्रह करे। 32. आराधक पण्डित–मरण होवे वैसी आराधना करने का संग्रह करे।

33. आशातना–'आय: सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्यशातना खण्डनं निरुक्तादाशातना'

अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ खण्डन करना है। पूज्य पुरुषों (गुरुदेवादि) का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की खण्डना होती है। श्रुत देवता–तीर्थङ्कर अथवा गणधर भगवान को श्रुतदेवता कहा जाता है। वाचनाचार्य की आशातना–**वायणायरियो नाम जो उवज्झाय संदिट्ठो उद्देसादि करेइ,** अर्थात् वाचनाचार्य उपाध्याय के नीचे श्रुतोपदेष्टा के रूप में एक छोटा पद है। उपाध्याय की आज्ञा से यह पढ़ने वाले शिष्यों को पाठ रूप में केवल श्रुत का उद्देशादि करता है।

पंचमं समणसुत्तं

(निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ)

मूल– **नमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाइ–महावीर–पज्जवसाणाणं इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, नेयाउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, निज्जाणमग्गं, निव्वाणमग्गं, अवितहमविसंदिद्धं, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं। इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। तं धम्मं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि, तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तिअंतो, रोयंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो, तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए। असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि, अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि, अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि, अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि, अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि, उम्मग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि, जं संभरामि, जं च न संभरामि, जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि। समणोऽहं संजय–विरय–पडिहय–पच्चक्खाय–पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसंपण्णो, माया–मोस विवज्जिओ। अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरस कम्मभूमिसु जावंत–**

केइ साहू रयहरण-गुच्छपडिग्गहधारा, पंच महव्वयधारा, अट्ठारस सहस्स सीलंग रथधारा, अक्खय-आयार-चरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।

संस्कृत छाया- नमश्चतुर्विंशतये तीर्थकरेभ्य ऋषभादिमहावीरपर्यवसानेभ्य: । इदमेव नैर्ग्रन्थं प्रवचनं सत्यमनुत्तरं कैवलिकं प्रतिपूर्णं नैयायिकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गो मुक्तिमार्गो निर्याणमार्गो निर्वाणमार्गोऽवितथमविसन्धि सर्वदु:खप्रहीणमार्ग: । अत्र स्थिता जीवा: सिध्यन्ति बुध्यन्ते मुच्यन्ते परिनिर्वान्ति सर्वदु:खानामन्तं कुर्वन्ति । तं धर्मं श्रद्दधे प्रतिपद्ये रोचयामि स्पृशामि पालयामि अनुपालयामि । तं धर्मं श्रद्दधान: प्रतिपद्यमानो रोचयन् स्पृशन् पालयन्ननुपालयन् तस्य धर्मस्य केवलिप्रज्ञप्तस्याऽभ्युत्थितो-ऽस्म्याराधनायां विरतोऽस्मि विराधनायाम् । असंयमं परिजानामि संयममुपसंपद्ये, अब्रह्म परिजानामि ब्रह्मोपसम्पद्ये, अकल्पं परिजानामि कल्पमुपसम्पद्ये, अज्ञानं परिजानामि ज्ञानमुपसम्पद्ये, अक्रियां परिजानामि क्रियामुपसम्पद्ये, मिथ्यात्वं परिजानामि सम्यक्त्वमुपसम्पद्ये, अबोधिं परिजानामि बोधिमुपसम्पद्ये, अमार्गं परिजानामि मार्गमुपसम्पद्ये, यत्स्मरामि यच्च न स्मरामि, यत्प्रतिक्रामामि यच्च न प्रतिक्रामामि, तस्य सर्वस्य दैवसिकस्यातिचारस्य प्रतिक्रामामि । श्रमणोऽहं संयतविरतप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा अनिदानो दृष्टिसम्पन्नो मायामृषाविवर्जक:, अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चदशकर्म्मभूमिषु ये केऽपि साधवो रजोहरणगोच्छक-प्रतिग्रहधारा: पञ्चमहाव्रतधारा अष्टादशसहस्त्रशीलाङ्गधारा अक्षताऽऽचार-चारित्रास्तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे।

अन्वयार्थ-नमो चउवीसाए = नमस्कार हो चौबीसों, **तित्थयराणं** = तीर्थङ्करों को (मेरा), **उसभाइ-महावीर =** ऋषभ देव से लेकर महावीर भगवान, **पज्जवसाणाणं** = पर्यन्त को, **इणमेव निग्गंथं** = यह ही निर्ग्रन्थ सम्बन्धी, **पावयणं सच्चं** = प्रवचन सत्य, **अणुत्तरं, केवलियं** = सर्वश्रेष्ठ, केवलि प्ररूपित, **पडिपुण्णं, नेयाउयं** = प्रतिपूर्ण, न्याय युक्त, **संसुद्धं** = पूर्ण शुद्ध है, **सल्लगत्तणं** = माया, निदान और मिथ्या दर्शन रूप शल्य का कर्त्तन यानी छेदन करने वाला है, **सिद्धिमग्गं** = सिद्धि का मार्ग है, **मुत्तिमग्गं** = मुक्ति (कर्म बन्धन से छूटने का) मार्ग हैं, **निज्जाणमग्गं** = संसार से निकलने का मार्ग हैं, **निव्वाणमग्गं** = पूर्ण शान्ति का मार्ग है, **अवितहमविसंदिद्धं** = असत्य रहित, सन्देह रहित (पूर्वापर विरोध रहित), **सव्व दुक्खप्पहीणमग्गं** = सब दु:खों का नाश करने वाले मार्ग, **इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति** = इसमें स्थित जीव सिद्ध होते हैं, (जन्मांकुर रहित), **बुज्झंति** = बुद्ध होते हैं (केवल ज्ञानी), **मुच्चंति** = मुक्त होते हैं, (अघाती कर्मों से रहित), **परिनिव्वायंति** = परिनिर्वाण (पूर्ण शान्ति) को प्राप्त होते हैं, **सव्वदुक्खाण** = सब दु:खों

को (शारीरिक तथा मानसिक), **मंतं करेंति** = नाश करते हैं, **तं धम्मं सद्दहामि** = उस धर्म की श्रद्धा करता हूँ, **पत्तियामि** = प्रतीति करता हूँ, **रोएमि** = रुचि करता हूँ, **फासेमि** = काया से उसकी फरसना करता हूँ, **पालेमि** = पालन करता हूँ, **अणुपालेमि** = अनुपालन करता हूँ, **तं धम्मं सद्दहंतो** = उस धर्म की श्रद्धा करता हुआ, **पतिअंतो, रोअंतो** = प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, **फासंतो** = काय से स्पर्श करता हुआ, **पालंतो** = पालन करता हुआ, **अणुपालंतो** = विधि पूर्वक भाव से पालन करता हुआ, **तस्स धम्मस्स** = उस धर्म की, **केवलि–पन्नत्तस्स** = जो केवलि प्ररूपित है, **अब्भुट्ठिओमि आराहणाए** = आराधना में तत्पर हुआ हूँ, **विरओमि विराहणाए** = विराधना से अलग होता हूँ, **असंजमं परियाणामि** = असंयम को 'ज्ञ' परिज्ञा से बुरा समझकर त्यागता हूँ, **संजमं** = सत्तरह प्रकार के संयम को, **उवसंपज्जामि** = स्वीकार करता हूँ, **अबंभं परियाणामि** = अब्रह्मचर्य को 'ज्ञ' परिज्ञा से बुरा समझ कर त्यागता हूँ, **बंभं उवसंपज्जामि** = ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ, **अकप्पं** = अकल्प यानी नहीं करने योग्य कार्य को, **परियाणामि** = त्यागता हूँ, **कप्पं** = कल्प यानी करने योग्य कार्य को, **उवसंपज्जामि** = स्वीकार करता हूँ, **अन्नाणं परियाणामि** = अज्ञान को त्यागता हूँ, **नाणं उवसंपज्जामि** = ज्ञान को स्वीकार करता हूँ, **अकिरियं** = अक्रिया–अज्ञान पूर्वक मिथ्या क्रिया को, **परियाणामि** = त्यागता हूँ, **किरियं** = ज्ञान पूर्वक क्रिया को, **उवसंपज्जामि** = स्वीकार करता हूँ, **मिच्छत्तं परियाणामि** = मिथ्यात्व को त्यागता हूँ, **सम्मत्तं उवसंपज्जामि** = सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ, **अबोहिं परियाणामि** = अबोधि–मिथ्या ज्ञान या दुर्लभ बोधिपन को त्यागता हूँ, **बोहिं उवसंपज्जामि** = सुलभ बोधिपन को स्वीकार करता हूँ, **उम्मग्गं परियाणामि** = उन्मार्ग (कुपथ) को त्यागता हूँ, **मग्गं उवसंपज्जामि** = सुमार्ग को स्वीकार करता हूँ, **जं संभरामि** = जिन अतिचारों का स्मरण हो रहा है, **जं च न संभरामि** = और जिनका स्मरण नहीं हो रहा है (भूल रहा हूँ), **जं पडिक्कमामि** = जिनका प्रतिक्रमण कर रहा हूँ, **जं च न पडिक्कमामि** = और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर रहा हूँ, **तस्स सव्वस्स** = उन सब, **देवसियस्स अइयारस्स** = दिवस सम्बन्धी अतिचारों का, **पडिक्कमामि** = प्रतिक्रमण करता हूँ, यानी दोषों से पीछे हटता हूँ, **समणोऽहं संजय** = मैं श्रमण–साधु हूँ, संयमी, **विरय** = विरत (पापों से अलग), **पडिहय** = भूतकाल के दोषों का, **पच्चक्खाय** = प्रतिक्रमण के द्वारा निवारण करने और, **पावकम्मो** = भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान (त्याग) करने वाला हूँ, **अनियाणो** = क्रिया के फल का निदान नहीं करने वाला, **दिट्ठि–संपण्णो** = सम्यग्दृष्टि से युक्त, **माया मोस** = माया युक्त झूठ का, **विवज्जिओ** = विवर्जन करने वाला हूँ, **अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु** = अढ़ाई द्वीप और दो समुद्रों में, **पण्णरस कम्मभूमिसु** = पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्र में, **जावंत–केइ साहू** = जितने भी कोई साधु, **रयहरण = गुच्छ** = रजोहरण, गोच्छग, पूँजनी, **पडिग्गह धारा** = और पात्र के धारण करने वाले हैं, **पंच महव्वयधारा** = पाँच महाव्रत के धारक, **अट्ठारस सहस्स सीलंग** = अठारह हजार शीलांग, **रथधारा** = रथ के धारक हैं, **अक्खय–आयार चरित्ता** = अक्षत (निरतिचार) आचार वाले सच्चरित्रवान हैं, **ते सव्वे** = उन सबको, **सिरसा मणसा** = सिर से, भाव से, **मत्थएण वंदामि** = सिर झुकाकर मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ–भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्कर देवों को मैं नमस्कार करता हूँ। यह तीर्थङ्करोपदष्टि निर्ग्रन्थ-प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर-सर्वोत्तम है, केवलिक-केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित है, (मोक्षप्रापक गुणों से) परिपूर्ण है, न्याय, युक्ति, तर्क से अबाधित है, पूर्णरूप से शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धिमार्ग-सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, कर्म-बंधन से मुक्ति का साधन है, संसार से छुड़ाकर मोक्ष का मार्ग है, पूर्ण शांति रूप निर्वाण का मार्ग है, मिथ्यात्वरहित है, विच्छेदरहित अर्थात् सनातन नित्य है तथा पूर्वापरविरोध से रहित है, सब दु:खों का पूर्णतया क्षय करने का मार्ग है।

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध-सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, पूर्ण आत्मशांति को प्राप्त करते हैं, समस्त दु:खों का सदाकाल के लिए अंत करते हैं। मैं इस निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म पर श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, स्पर्शना करता हूँ, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ। विशेष रूप से निरंतर पालन करता हूँ। मैं प्रस्तुत जिन-धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीत करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना आचरण करता हुआ, पालन करता हुआ, विशेष रूप से निरंतर पालन करता हुआ-उस केवली प्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता हूँ और विराधना से विरत-निवृत्त होता हूँ। असंयम को ज्ञपरिज्ञा से जानता और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्यागता हूँ तथा संयम को स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ और ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ। अकल्प्य (अकृत्य) को जानता और त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ। अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, कृत्य को स्वीकार करता हूँ। अज्ञान को जानता और त्यागता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता है। अक्रिया-नास्तिकवाद को जानता और त्यागता हूँ, सम्यक्त्व-सदाग्रह को स्वीकार करता हूँ। हिंसा आदि अमार्ग को (ज्ञपरिज्ञा से) जानता और (प्रत्याख्यानपरिज्ञा से) त्यागता हूँ। अहिंसा आदि मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

जिन दोषों को स्मरण कर रहा हूँ, जो याद हैं और जो स्मृतिगत नहीं हैं, जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन दिवस संबंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। मैं श्रमण हूँ, संयमी हूँ, विरत-सावद्य व्यापारों से एवं संसार से निवृत्त हूँ, पापकर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ, निदान शल्य से रहित अर्थात् आसक्ति से रहित हूँ, दृष्टिसम्पन्न-सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ, माया सहित मृषावाद-असत्य का परिहार करने वाला हूँ।

ढ़ाई द्वीप और दो समुद्र परिमित मानव क्षेत्र में अर्थात् पन्द्रह कर्मभूमियों में जो भी रजोहरण, गुच्छक एवं पात्र को धारण करने वाले तथा पाँच महाव्रतों, अठारह हजार शीलांगों-सदाचार के अगों को धारण करने वाले तथा निरतिचार आचार के पालन त्यागी साधु मुनिराज हैं, उन सबको सिर नमाकर, मन से, मस्तक से वंदना करता हूँ।

विवेचन–वीर की परिभाषा–

विदारयति यः कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः।।

जो कर्मों का विदारण करता है, तपस्तेज के द्वारा विराजित (सुशोभित) होता है, तप एवं वीर्य से युक्त रहता है वह वीर कहलाता है। **निग्गंथं पावयणं** यहाँ 'पावयणं' विशेष्य और 'णिग्गंथं' विशेषण है। निर्ग्रन्थ दो प्रकार के हैं–जो राग–द्वेष की गाँठ को सर्वथा अलग कर देता है वह निश्चय नय सिद्ध निर्ग्रन्थ हैं एवं जो अभी नैर्ग्रन्थ्य अर्थात् निर्ग्रन्थत्व के प्रति यात्रा कर रहा है, भविष्य में निर्ग्रन्थत्व की पूर्ण स्थिति प्राप्त करना चाहता है वह व्यवहारत: सम्प्रदाय सिद्ध निर्ग्रन्थ है।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं–'**निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थ्य प्रावचनमितिआर्हतमिति भावना।**' पावयण शब्द के प्रवचन और प्रावचन दो संस्कृत रूपान्तर हैं। आचार्य जिनदास 'प्रवचन' शब्द और आचार्य हरिभद्र 'प्रावचन' शब्द को स्वीकार करते हैं, लेकिन दोनों ने आगम साहित्य अर्थ किया है अर्थात् श्रुत रूप शास्त्र। '**प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत् प्रावचनं।**' परन्तु यहाँ पर प्रसंगवश जिनशासन या जैन धर्म अर्थ करना उचित है, यह आगे के पाठ से सिद्ध होता है–'इत्थं ठिया जीवा तं धम्मं य एष नैर्ग्रन्थ–प्रावचन लक्षणो धर्म उक्त: तं धर्म श्रद्धमहे।' जिनागम रूप प्रवचन अभिधेय अर्थात् प्रतिपाद्य विषय होने से धर्म को प्रावचन भी कहते हैं।

प्रावचनं–प्रवचनस्य जिनागमस्य अभिधेयम्।

सच्चं–सद्भ्यो हितं सत्यं सद्भूतं वा सत्यं। जो भव्यात्माओं के लिए हितकर हो तथा सद्भूत हो वह सत्य कहलाता है।

केवलियं–केवल–अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ। केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित।

पडिपुण्णं–'अपवर्ग–प्रापकैर्गुणैर्भृतमिति।' जो मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण भरा हुआ है।

नेयाउयं–'नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमकमित्यर्थ:' अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि तत्त्व मोक्ष में ले जाने वाले हैं। अत: वे नैयायिक कहलाते हैं। **निश्चित आयो लाभो न्यायो मुक्तिरित्यर्थ:, स प्रयोजनमस्येति नैयायिक:।'** अर्थात् मोक्ष ही प्रयोजन है जिनका वे सम्यग्दर्शनादि नैयायिक कहलाते हैं। **'न्यायेन चरति इति नैयायिकं न्यायाबाधितमित्यर्थ:'**–आचार्य जिनदास नैयायिक का अर्थ करते हैं–न्यायाबधित।

सिद्धिमग्गं–'सेधनं सिद्धि: हितार्थ प्राप्ति। सिद्धि: स्वात्मोपलब्धि:' अर्थात् अपने स्वरूप की उपलब्धि को सिद्धि कहते हैं, उसका मार्ग उपाय है।

मुत्तिमग्गं–'निर्मुक्तता अर्थात् नि:संगता। अहितार्थ कर्म विच्युति:' अर्थात् कर्मों से सर्वथा छूट जाना।

निज्जाणमग्गं–'निरूपमं यानं निर्याणं' ईषत्प्राग्भाराद्रव्यं मोक्षपदमित्यर्थ:' अर्थात् जहाँ जाया जाता है वह यान होता है। निरूपम निर्याण कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद है जो सर्वश्रेष्ठ यान स्थान है। **निर्याणं–संसारात्पलायनम्**–संसार से पलायन का मार्ग सम्यग्दर्शनादि धर्म ही अनन्तकाल से भटकते हुए भव्य जीवों को संसार से बाहर निकालता है। अत: संसार से बाहर निकालने का मार्ग होने से सम्यग्दर्शनादि धर्म निर्याण मार्ग कहलाता है।

निव्वाणमग्गं–'निवृत्ति निर्वाणम्–सकल कर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखमित्यर्थ:' अथवा **'निव्वाणं निव्वत्ती आत्म–स्वास्थ्यमित्यर्थ:'** अर्थात् आत्मस्वास्थ्य निर्वाण है। कर्म रोग से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है वह स्वस्थ कहलाता है। इस आत्मिक स्वास्थ्य को ही निर्वाण कहते हैं। बौद्ध दर्शन निर्वाण को अभाववाचक मानता है। उस दर्शन में निर्वाण का अर्थ बुझना–नष्ट होना है, अर्थात् आत्मा की सत्ता सदा–सदा के लिए नष्ट हो जाना किन्तु ऐसा निर्वाण जैन सिद्धान्त में नहीं कहा गया है।

सव्वदुक्खपहीण मग्गं–इच्छाओं का होना ही दु:ख है इच्छाओं का अभाव ही सुख है और सुख मोक्ष में ही हो सकता है अर्थात् सब दु:खों के नष्ट होने का मार्ग।

सिज्झंति–'सिद्धा भवन्ति, परिनिष्ठितार्था भवन्ति।' सिद्ध हो जाते हैं अत: कृतकृत्य हो जाते हैं। आत्मा के अनंत गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व है।

बुज्झंति–वैशेषिक दर्शन (महर्षि कणाद्) की यह मान्यता है कि मुक्त में आत्मा जड़वत् (निष्क्रिय) हो जाती है, इसी को उन्होंने मोक्ष कहा है। वैशेषिक दर्शनानुसार मोक्ष होने पर आत्मा में न ज्ञान रहता है, न सुख रहता है। 'आत्मविशेष गुणानामुच्छेदो मोक्ष:' उपर्युक्त मान्यता का खण्डन इस शब्द में होता है। क्योंकि मोक्ष अवस्था में भी आत्मा केवल ज्ञान, केवलदर्शन से युक्त रहती है। बुद्ध का अर्थ होता है–पूर्ण ज्ञानी।

मुच्चन्ति–जब तक एक भी कर्म परमाणु आत्मा से संबंधित रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकता। सब कर्मों का क्षय होने पर ही सिद्धत्व भाव प्राप्त होता हैं, मोक्ष होता है। सिद्धत्व का अर्थ ही मुक्तत्व–कर्मों से मुक्त होना है। किन्तु कुछ दर्शन मोक्ष का अर्थ पूर्ण मुक्त नहीं मानकर कृतकर्मों के फल को भोगना मुक्ति कहते हैं। जब तक शुभ कर्मों का सुख रूप फल का भोग पूर्ण नहीं होता तब तक आत्मा मोक्ष में रहता है और ज्यों ही फल भोग पूर्ण होता है त्यों ही फिर संसार में लौट आता है। जैन दर्शन इसे मोक्ष नहीं मानकर, स्वर्ग का स्वरूप मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार 'कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:' अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष अत: 'मुच्चन्ति' शब्द का यह अर्थ है।

परिणिव्वायंति–'परमसुहिणो (परमसुखिन:) भवंतीत्यर्थ:' आत्मा परम सुखी बन जाता है किन्तु बौद्ध दर्शन की निर्वाण सम्बन्धी मान्यता है कि आत्मा का पूर्ण रूप से नष्ट हो जाना निर्वाण है। इसका निराकरण 'परिणिव्वायंति' शब्द से होता है। यहाँ आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होकर अनन्त आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति हो जाती है।

सव्वदुक्खाणमंतं करेन्ति–सांख्यादि कुछ दर्शन आत्मा का सर्वथा बन्धन रहित होना मानते हैं। इनके अनुसार न तो आत्मा को कर्म बंध ही है और न तत्फल स्वरूप दु:खादि। दु:खादि सब प्रकृति के धर्म हैं, पुरुष अर्थात् आत्मा के नहीं। जैन दर्शन की यह मान्यता नहीं है।

कर्म बंध आत्मा को ही होता है। उन सभी शुभाशुभ कर्मों से रहित होना ही मोक्ष है।

सद्दहामि–तर्क अगोचर सद्दहो, द्रव्य धर्म अधर्म। केइ प्रतीते युक्ति सुं, पुण्य पाप सकर्म।।
तप चारित्र ने रोचवो, कीजे तस अभिलाष। श्रद्धा प्रत्यय रुचि तिहुँ, जिन आगम साख।।
धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों पर विश्वास श्रद्धा है। (समकित छप्पनी)

पत्तियामि–प्रतीति–व्याख्याता के साथ तर्क–वितर्क करके युक्तियों द्वारा पुण्य पाप आदि को समझकर विश्वास करना प्रतीति है।

रोएमि–रुचि–व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप चारित्र आदि सेवन करने की इच्छा करना रुचि है।

अकप्पं–चरण करण रूप आचार व्यवहार को आगम की भाषा में कल्प कहा जाता है। आचार्य जिनदास महत्तर सामान्यत: कहे हुए एकविध असंयम के ही विशेष–विवक्षा भेद से दो भेद करते हैं–मूलगुण असंयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तर गुण असंयम। फिर अब्रह्म शब्द से मूलगुण असंयम का तथा अकल्प शब्द से उत्तर गुण असंयम का ग्रहण करते हैं।

अकिरियं–आचार्य हरिभद्र अक्रिया को अज्ञान का ही विशेष भेद मानते हैं और क्रिया को सम्यग्ज्ञान का। अत: दार्शनिक भाषा में अक्रिया को नास्तिकवाद और क्रिया को आस्तिकवाद (साम्यवाद) कहा जाता है। आचार्य जिनदास अप्रशस्त अयोग्य क्रिया को अक्रिया कहते हैं और प्रशस्त, योग्य क्रिया को क्रिया कहते हैं। **'अप्पसत्था किरिया अकिरिया, इतरा किरिया इति।'**

अमार्ग–मार्ग–पहले असंयम के रूप में सामान्यत: विपरीत आचरण का उल्लेख किया गया। तत्पश्चात् अब्रह्म आदि में उसी का विशेष रूप से निरूपण होता रहा है। अन्त में पुन: कहा जा रहा है कि मैं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय भाव आदि अमार्ग को विवेक पूर्वक त्यागता हूँ और सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद और अकषाय भाव आदि मार्ग को ग्रहण करता हूँ।

जं संभरामि–जं च न संभरामि–जिन दोषों की मुझे स्मृति है उनका प्रतिक्रमण करता हूँ और जिन दोषों की स्मृति नहीं भी रही है उनका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।

जं पडिक्कमामि–आचार्य जिनदास 'पडिक्कमामि' का अर्थ 'परिहरामि' करते हैं। शारीरिक दुर्बलता आदि विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो, न किया हो और न करने योग्य कार्य किया हो तो उन सब अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ। **'संघयणादि दौर्बल्यादिना जं पडिक्कमामि परिहरामि करणिज्जं, जं च न पडिक्कमामि अकरणिज्जं।**

संजय–आचार्य जिनदास महत्तर कहते हैं–**'संजतो सम्मं जत्तो करणिज्जेसु जोगेसु इत्यर्थः'** अर्थात् अहिंसादि कर्त्तव्यों में सम्यक् प्रयत्न करने वाले पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मो–भूतकाल में किए गये पाप कर्मों की निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिहत करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मों को अकरणता रूप प्रत्याख्यान के द्वारा रोकने वाला।

अट्ठारस सहस्स सीलंग रथधारा–
जे णो करेंति मणसा, णिज्जियाहारसण्ण सोइंदिए।
पुढवीकायारंभं, खंति जुआ ते मुणी वंदे।।

इस एक गाथा में 18,000 गाथाएँ बन जाती हैं। यथा मन से न करना।

इसको क्षमादि 10 गुणों से गुणा करने पर 10 गाथाएँ बनती है। फिर इनको पृथ्वीकाय आदि 10 असंयम (पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अजीव) से गुणा करने पर 100 गाथाएँ बनती हैं। इनको श्रोत्रेन्द्रिय आदि 5 इन्द्रिय से गुणा करने पर 500 गाथाएँ बनती हैं। इनको 4 संज्ञा से गुणा करने पर 2,000 गाथाएँ बनती हैं, इनको मन, वचन और काया इन 3 योग से गुणा करने पर 6,000 गाथाएँ बनती हैं। इनको करना, कराना, अनुमोदना इन 3 करण से गुणा करने पर 18,000 गाथाएँ बनती हैं।

शील का अर्थ ब्रह्मचर्य तो है ही किन्तु शील का अर्थ संयम भी होता है। इसलिए ये 18,000 गाथाएँ शील सम्बन्धी, संयम सम्बन्धी कही जाती है।

सिरसा–समस्त शरीर में सिर मुख्य है अत: सिर से वंदन करने का अभिप्राय है–शरीर से वन्दन करना।

मणसा–मन से वंदन–मानसिक वंदना का द्योतक है। मत्थएण वंदामि अर्थात् मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ, यह वाचिक वंदना का रूप है। अत: मानसिक, वाचिक और कायिक त्रिविधि वंदना का स्वरूप निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

मुहपत्तिय–समुत्थान सूत्र उद्देशक 3 में तथा पाथर्डी बोर्ड प्रकाशित आवश्यक सूत्र में मुहपत्तिय शब्द है।

आयरिए-उवज्झाए का पाठ

मूल- **आयरिय-उवज्झाए-, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य।**
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि।।1।।
सव्वस्स समण-संघस्स, भगवओ अंजलिं करिअ सीसे।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि।।2।।
सव्वस्स जीव-रासिस्स, भावओ धम्म-निहिय-नियचित्तो।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयंपि।।3।।

संस्कृत छाया- आचार्योपाध्यायान् शिष्यान् साधर्मिकान् कुलगणान् च।
ये मया केचित् कषाया:, सर्वान् त्रिविधेन क्षमयामि।।1।।
सर्वं श्रमण-संघं, भगवन्तं अञ्जलिं कृत्वा शिरसि।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वं अहमपि।।2।।
सर्वं जीवराशिं, भावत: धर्मे निहितनिजचित्त:।
सर्वं क्षमयित्वा, क्षाम्यामि सर्वं अहमपि।।3।।

अन्वयार्थ-आयरिय = आचार्यों के प्रति, **उवज्झाए** = उपाध्यायों के प्रति, **सीसे** = शिष्यों के प्रति, **साहम्मिए** = साधर्मिकों के प्रति, **कुल** = एक आचार्य के शिष्य समुदाय के प्रति, **गणे य** = गण समूह के प्रति, **जे** = जो, **मे** = मैंने, **केई** = कुछ, **कसाया** = क्रोध आदि कषाय किए हों तो, **सव्वे** = सबको, **तिविहेणं** = तीन योग (मन, वचन, काया) से, **खामेमि** = खमाता हूँ। क्षमा चाहता हूँ, (इसी प्रकार) **सव्वस्स** = सभी, **समण-संघस्स** = श्रमण-संघ-साधु समुदाय (चतुर्विध संघ), **भगवओ** = भगवान को, **अंजलिं करिअ** = दोनों हाथ जोड़ करके, **सीसे** = शीश पर लगाकर, **सव्वं** = सबको, **खमावइत्ता** = खमा करके, **खमामि** = खमता हूँ, क्षमा करता हूँ, **सव्वस्स** = सबको, **अहयंपि** = मैं भी, **सव्वस्स** = सभी, **जीव-रासिस्स** = जीव राशि से, **भावओ** = भाव से, **धम्मं-निहिय-नियचित्तो** = धर्म में चित्त को स्थिर करके, **सव्वं** = सबको, **खमावइत्ता** = खमा करके, **खमामि** = खमता हूँ, क्षमा करता हूँ।

भावार्थ-आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण, इन सबके प्रति मैंने जो कुछ कषाय किये हों, उन सबसे मैं मन, वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ।।1।।

अञ्जलिबद्ध दोनों हाथ जोड़कर समस्त पूज्य मुनिगण से मैं अपराध की क्षमा चाहता हूँ और मैं उन्हें क्षमा करता हूँ।।2।।

धर्म में चित्त को स्थिर करके सम्पूर्ण जीवों से मैं अपने अपराध की क्षमा चाहता हूँ और स्वयं भी उनके अपराध को क्षमा करता हूँ।।3।।

राग-द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रह वश मैंने जो कुछ भी कहा हो, उसके लिए मैं मन, वचन, काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ।।4।।

विवेचन-जैन-धर्म, आज के धार्मिक जगत में क्षमा का सबसे बड़ा पक्षपाती है। जैन-धर्म को यदि क्षमा-धर्म कहा जाय तो यह सत्य का अधिक स्पष्टीकरण होगा। प्रस्तुत पाठ में आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधार्मिक कुल और गण; इनके ऊपर जो कुछ भी कषाय भाव किए हों, उन सब दुराचरणों की मन, वचन और काया से क्षमा माँगी गयी है।

क्षमापना-पाठ

मूल- **खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।**
मित्ति मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केणई।।1।।
एवमहं आलोइय-निन्दिय-गरहिय-दुगुंछियं सम्मं।
तिविहेणं पडिक्कंतो, वंदामि जिण-चउव्वीसं।।2।।

संस्कृत छाया- ''क्षमयामि सर्वान् जीवान्, सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु माम्।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि।।1।।
एवमहमालोच्य, निन्दित्वा गर्हयित्वा जुगुप्सित्वा सम्यक्।
त्रिविधेन प्रतिक्रामन्, वन्दे जिनानां चतुर्विंशतिम्।।2।।''

अन्वयार्थ-खामेमि = क्षमा करता हूँ, **सव्वे** = सब, **जीवा** = जीवों को, **सव्वे** = सभी, **जीवा** = जीव, **खमंतु** = क्षमा करो, **मे** = मुझको, **मित्ति** = मित्रता है, **मे** = मेरी, **सव्व भूएसु** = सभी प्राणियों से, **वेरं** = शत्रुता, **मज्झं** = मेरी, **न** = नहीं, **केणइ** = किसी के साथ, **एवमहं (एवं अहं)** = इस प्रकार मैं, **आलोइय** = आलोचना करके, **निंदिय** = आत्म साक्षी से निन्दा करके, **गरिहिय** = गुरु साक्षी से गर्हा करके, **दुगुंछियं** = जुगुप्सा (ग्लानि-घृणा) करके, **सम्मं** = सम्यक् प्रकार से, **तिविहेणं** = मन, वचन, काया द्वारा, **पडिक्कंतो** = पापों से निवृत्त होता हुआ, **वंदामि** = वन्दना करता हूँ, **जिण-चउव्वीसं** = चौबीस अरिहन्त भगवान को।

भावार्थ-मैंने किसी जीव का अपराध किया हो तो मैं उससे क्षमा चाहता हूँ। सभी प्राणी मुझे क्षमा करें। संसार के प्राणिमात्र से मेरी मित्रता है, मेरा किसी से वैर-विरोध नहीं है। मैं अपने पापों की आलोचना, निंदा, गर्हा

और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काय से प्रतिक्रमण कर, पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थङ्कर देवों की वंदना करता हूँ।

विवेचन–क्षमा, मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। क्षमा का अर्थ है–'सहनशीलता रखना।' किसी के किए अपराध को अन्तर्हृदय से भी भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी ध्यान न देना; प्रत्युत् अपराधी पर अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना, क्षमा धर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। क्षमा के बिना मानवता पनप ही नहीं सकती। क्षमा प्रार्थना करते समय अपने आपको इस प्रकार उदात्त एवं मधुर भाव रखना चाहिए कि–हे विश्व के समस्त त्रस स्थावर जीवों! हम तुम सब आत्म–दृष्टि से एक ही हैं, समान ही हैं।

प्रस्तुत पाठ में करुणा का अपार सागर तरंगित हो रहा है। कौन जीव कहाँ है? कौन क्षमा कर रहा है कौन नहीं? कुछ पता नहीं। फिर भी अपने हृदय की करुणा भावना है कि मुझे सब जीव क्षमा कर दें। क्षमा कर दें तो उनकी आत्मा भी क्रोध निमित्तक कर्मबन्ध से मुक्त हो जाय।

एवमहं.............चउव्वीसं अर्थात् सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा तीन प्रकार से मन, वचन और काया से प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त होकर चौबीस तीर्थङ्कर देवों को वन्दन किया गया है। आचार्य जिनदास और हरिभद्र ने क्षामणासूत्र में केवल एक ही 'खामेमि सव्वजीवे' की गाथा का उल्लेख किया है। परन्तु कुछ हस्तलिखित प्रतियों में प्रारम्भ की दो गाथाएँ ही अधिक मिलती है। खामेमि सर्वजीवा या सव्वे जीवे या सव्वजीवे तीनों ही पाठ अर्थ की दृष्टि से संगत हैं।

❑❑❑

पंचम अध्ययन

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं–काय और उत्सर्ग। जिसका अर्थ है–काय का त्याग अर्थात् शरीर के ममत्व को त्याग करना कायोत्सर्ग है। प्रतिक्रमण अध्ययन के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूप छिद्रों को बंदकर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय तब तक धर्मध्यान या शुक्लध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है वह किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। अनाभोग आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा अविवेक, असावधानी आदि से लगे बड़े अतिचारों की कायोत्सर्ग शुद्धि करता है। इसीलिये कायोत्सर्ग को पाँचवाँ स्थान दिया गया है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। तस्सउत्तरी के पाठ (उत्तरीकरण का पाठ) में यही कहा है कि पाप युक्त आत्मा को श्रेष्ठ–उत्कृष्ट बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशेष शुद्धि करने के लिए, शल्यों का त्याग करने के लिए, पाप कर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग – शरीर के व्यापारों का त्याग किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग आवश्यक का नाम 'व्रण चिकित्सा' कहा है। व्रत रूप शरीर में अतिचार रूप व्रण (घाव, फोड़े) के लिए पाँचवाँ आवश्यक (अध्ययन) चिकित्सा रूप पुल्टिस (मरहम) का काम करता है। जैसे पुल्टिस, फोड़े के बिगड़े हुए रक्त को मवाद बनाकर निकाल देता है और फोड़े की पीड़ा को शांत कर देता है उसी प्रकार यह काउसग्ग रूप पाँचवाँ आवश्यक व्रत में लगे हुए अतिचारों के दोषों को दूरकर आत्मा को निर्मल एवं शांत बना देता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में कायोत्सर्ग का फल इस प्रकार कहा है–**काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

अर्थात् हे भगवन्! कायोत्सर्ग करने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि–

''काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।''

अर्थात् कायोत्सर्ग करने से भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त करके जीव शुद्ध बनता है और जिस प्रकार बोझ उतर जाने से भारवाहक (मजदूर) सुखी होता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ जीव शांत हृदय बनकर शुभ ध्यान-ध्याता हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

प्रायश्चित्त शुद्धि का पाठ

मूल- देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं।

संस्कृत छाया- दैवसिकप्रायश्चित्तविशोधनार्थं करोमि कायोत्सर्गम्।

अन्वयार्थ-पायच्छित्त = प्रायश्चित्त, **विसोहणत्थं** = विशुद्धि के लिए, **करेमि** = करता हूँ, **काउस्सग्गं** = कायोत्सर्ग।

भावार्थ-मैं दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

विवेचन-आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये हैं-द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है-शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर जिनमुद्रा से निश्चल एवं निस्पंद स्थिति में खड़े रहना। यह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है परन्तु भाव के साथ। केवल द्रव्य का जैनधर्म में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। साधना का प्राण है-भाव। भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है-आर्त्त, रौद्र ध्यानों का त्यागकर धर्म तथा शुक्ल-ध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है।

❑❑❑

षष्ठ अध्ययन

प्रत्याख्यान

पाँचवें अध्ययन में पूर्व संचित कर्मों का क्षय कहा गया है। इस छठे अध्ययन में नवीन बंधने वाले कर्मों का निरोध कहा जाता है अथवा पाँचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग द्वारा अतिचार रूप व्रण की चिकित्सा का निरूपण किया गया है। चिकित्सा से अनन्तर गुण की प्राप्ति होती है इसलिये 'गुण धारणा' नामक इस प्रत्याख्यान अध्ययन में मूलोत्तर गुणों की धारणा करते हैं।

प्रत्याख्यान का सामान्य अर्थ है-त्याग करना। प्रत्याख्यान में तीन शब्द है-प्रति+आ+आख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति अर्थात् प्रतिकूल रूप में 'आ' अर्थात् मर्यादा स्वरूप आकार के साथ 'आख्यान' अर्थात् प्रतिज्ञा को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। अथवा अमुक समय के लिए पहले से ही किसी वस्तु के त्यागकर देने को प्रत्याख्यान कहते हैं।

अविवेक आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा जानते हुए दर्प आदि से लगे बड़े अतिचारों की प्रत्याख्यान शुद्धि करता है अत: प्रत्याख्यान को छठा स्थान दिया गया है अथवा प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा अतिचार की शुद्धि हो जाने पर प्रत्याख्यान द्वारा तप रूप नया लाभ होता है अत: प्रत्याख्यान को छठा स्थान दिया गया है।

जो साधक कायोत्सर्ग द्वारा विशेष चित्त शुद्धि एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है अर्थात् प्रत्याख्यान के लिए विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है जो कायोत्सर्ग के बिना संभव नहीं है अत: कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान को स्थान दिया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम 'गुणधारणा' कहा है। गुणधारण का अर्थ है-व्रत रूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा मन, वचन, काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोककर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छा निरोध, तृष्णा का अभाव, सुखशांति आदि अनेक सद्‌गुणों की प्राप्ति होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल इस प्रकार बताया है-**पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?**

अर्थात् हे भगवन्! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि–"**पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ।**"

प्रत्याख्यान करने से आस्रव द्वारों का निरोध होता है। प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सभी पदार्थों में तृष्णा रहित बना हुआ परम शांति से विचरता है।

प्रत्याख्यान के भेद मूलपाठ में इस प्रकार बताये हैं–

मूल– **दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा–**
अणागयमइक्कंतं, कोडिसहियं नियंटियं चेव।
सागारमणागारं, परिमाणाकडं निरवसेसं।।1।।
संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा।।

संस्कृत छाया– दशविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तं तद्यथा–अनागतम्–(1) अतिक्रान्तम् (2) कोटिसहितं (3) नियन्त्रितं (4) चैव। साकारम् (5) अनाकारं (6) परिमाणकृतं (7) निरवशेषम्। (8) सङ्केतं (9) चैव अद्धाया: (10) प्रत्याख्यानं भवति दशधा।।

अन्वयार्थ–दसविहे = दशविध, **पच्चक्खाणे** = प्रत्याख्यान, **अणागयं** = अनागत, **अइक्कंतं** = अतिक्रान्त, **कोडिसहियं** = कोटि सहित, **नियंटियं** = नियन्त्रित, **सागार** = साकार, **अणागारं** = अनाकार, **परिमाणकडं** = परिमाणकृत, **निरवसेसं** = निरवशेष, **संकेयं** = संकेत, **अद्धाए** = अद्धा।

भावार्थ–प्रत्याख्यान दस प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं–1. अनागत 2. अतिक्रान्त 3. कोटि सहित 4. नियन्त्रित 5. साकार 6. अनाकार 7. परिमाणकृत 8. निरवशेष 9. संकेत 10. अद्धा प्रत्याख्यान।

विवेचन–भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरु–साक्षी या आत्म–साक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। वह दस प्रकार का है–

1. अनागत–वैयावृत्त्य आदि किसी अनिवार्य कारण से, नियत समय से पहले ही तप कर लेना।

2. अतिक्रान्त–कारण वश नियत समय के बाद तप करना।

3. कोटि सहित–जिस कोटि (चतुर्थ भक्त आदि के क्रम) से तप प्रारम्भ किया, उसी से समाप्त करना।

4. नियन्त्रित–वैयावृत्त्य आदि प्रबल कारणों के हो जाने पर भी संकल्पित तप का परित्याग न करना।

5. साकार–जिसमें उत्सर्ग और अपवाद रूप आगार रखे जाते हैं, उसे साकार कहते हैं।

6. अनाकार–जिस तप में आगार न रखे जाएँ, उसे अनाकार कहते हैं।

7. परिमाणकृत–जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय।

8. निरवशेष–जिसमें अशनादि का सर्वथा त्याग हो।

9. संकेत–जिसमें मुट्ठी खोलने आदि का संकेत हो, जैसे–'मैं जब तक मुट्ठी नहीं खोलूँगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान हैं' इत्यादि।

10. अद्धा प्रत्याख्यान–मुहूर्त्त, पौरुषी आदि काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान-सूत्र

मूल– गंठिसहियं, मुट्ठिसहियं, नमुक्कारसहियं, पोरिसियं, साड्ढ–पोरिसियं, तिविहंपि चउविहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अपनी–अपनी धारणा प्रमाणे पच्चक्खाण, अन्नत्थ–अणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

अन्वयार्थ–गंठिसहियं = गाँठ सहित यानी जब तक गाँठ बँधी रखूँ, तब तक, **मुट्ठिसहियं** = मुट्ठी सहित अर्थात् जब तक मैं मुट्ठी बन्द रखूँ, तब तक, **नमुक्कारसहियं** = नमस्कार मन्त्र बोल कर सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त्त (48 मिनट) तक त्याग, **पोरिसियं** = एक प्रहर का त्याग, **साड्ढ–पोरिसियं** = डेढ़ प्रहर का त्याग, **अन्नत्थणाभोगेणं (अन्नत्थ अणाभोगेणं)** = निम्न आगारों को छोड़कर बिना उपयोग के कोई वस्तु सेवन की हो, **सहसागारेणं** = अकस्मात् जैसे पानी बरसता हो और मुख में छींटे पड़ जाये, (जैसे–छाछ बिलोते समय मुँह में छींटे पड़ जाये) **महत्तरागारेणं** = महापुरुषों की आज्ञा से अर्थात् गुरुजन के निमित्त से त्याग का भंग करना पड़े, **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं** = सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक निरोगता रहे तब तक अर्थात् शरीर में भयंकर रोग हो जाये तो दवाई आदि का आगार है, **वोसिरामि** = त्याग करता हूँ।

भावार्थ–गाँठ सहित यानी जब तक गाँठ बँधी रखूँ, तब तक मुट्ठी सहित अर्थात् जब तक मैं मुट्ठी बन्द रखूँ, तब तक नमस्कार मन्त्र बोल कर सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त्त (48 मिनट) तक त्याग, एक प्रहर का त्याग, डेढ़ प्रहर का त्याग निम्न आगारों को छोड़कर बिना उपयोग के कोई वस्तु सेवन की हो, अकस्मात् जैसे पानी बरसता हो और मुख में छींटे पड़ जाये, (जैसे–छाछ बिलोते समय मुँह में छींटे पड़ जाये) महापुरुषों की आज्ञा से अर्थात् गुरुजन के निमित्त से त्याग का भंग करना पड़े, सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक निरोगता रहे तब तक अर्थात् शरीर में भयंकर रोग हो जाये तो दवाई आदि का आगार है, त्याग करता हूँ।

विवेचन–यह समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ है। इस पाठ से नवकारसी, पौरसी आदि के पच्चक्खाण किये, करवाए जाते हैं। इसके अलावा नवकारसी, पौरसी, एकासन, उपवास, आयंबिल आदि के अलग से 10 पच्चक्खाण नीचे दिये जा रहे हैं।

पच्चक्खाण-सूत्र

1. नमोक्कार-सहियं (नवकारसी)

मूल– **उग्गए सूरे नमोक्कारसहियं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं वोसिरामि।**[1]

भावार्थ–सूर्य उदय होने पर नमस्कार सहति–दो घड़ी दिन चढ़े तक का (नोकारसी का) प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम तथा स्वादिम–इन चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

प्रस्तुत प्रत्याख्यान में दो आगार अर्थात् अपवाद हैं–अनाभोग–अत्यन्त विस्मृति और सहसाकार–शीघ्रता (अचानक)। इन दो आगारों के सिवा चारों आहार त्याग करता हूँ।

विवेचन–नवकारसी (नमस्कारिक) नमस्कार सहित प्रत्याख्यान। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में मुहूर्त्त का विशेषण मानते हुए कहा है–**'सहित शब्देन मुहूर्त्तस्य विशेषित्वात्'** अर्थात् नमस्कार का उच्चारण किया जाता है, ऐसे मुहूर्त्त का प्रत्याख्यान।

दूसरों को प्रत्याख्यान कराना हो तो मूल पाठ में 'वोसिरे' कहना चाहिये, यदि स्वयं को करना हो तो उल्लिखित पाठानुसार 'वोसिरामि' कहना चाहिये।

नवकारसी के दो आगार–जैन धर्म विवेक प्रधान धर्म है। अज्ञानता एवं अशक्तता आदि कारणों से कई बार व्रत भंग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में अगर आगार रख ले तो व्रत भंग होने की गुंजाइश ही नहीं रहती है।

आगार–आकार–अपवाद–आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहा है–**'अक्रियते विधीयते प्रत्याख्यान–भंग–परिहार इति आकार (आगार)'** अर्थात् प्रत्याख्यान भंग का परिहार करने के लिए जो किया जाये वह आकार है। यही बात आचार्य हरिभद्र जी अपनी आवश्यक सूत्र वृत्ति में लिखते हैं–**'आकारा हि नाम प्रत्याख्यानापवाद हेतुः।'**

(1) अनाभोग–प्रत्याख्यान की विस्मृति हो जाने पर कुछ खा लेना। प्रत्याख्यान की स्मृति आते ही खाना छोड़ देना। **(2) सहसाकार**–मेघ बरसने से या दही बिलौते समय अचानक छींटा मुँह में चला जाय।

---

1. खुद त्याग करे तो वोसिरामि ऐसा तीन बार बोले और दूसरों को त्याग कराना हो तो ''वोसिरे'' ऐसा तीन बार बोलें।

2. पोरिसि-सूत्र (पोरसी)

मूल- **उग्गए सूरे पोरिसिं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–पौरुषी का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूर्योदय से लेकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का एक प्रहर दिन चढ़े तक त्याग करता हूँ। इस व्रत के आगार छह हैं-(1) अनाभोग, (2) सहसाकार, (3) प्रच्छन्नकाल, (4) दिशामोह, (5) साधुवचन, (6) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। इन छह आकारों के सिवाय पूर्णतया चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–पौरुषी के छः आगार-**(1) अनाभोग (2) सहसाकार**–का अर्थ नवकारसी प्रत्याख्यान के अनुसार जानना चाहिए। **(3) पच्छन्न-कालेणं**–प्रच्छन्नकाल बादल अथवा आँधी आदि के कारण सूर्य के ढँक जाने से पौरुषी आ जाने की भ्रान्ति हो जाना। (4) **दिसामोहेण**–(दिशामोह) पूर्व को पश्चिम समझकर पौरुषी के न आने पर भी सूर्य के ऊँचा चढ़ जाने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना। **(5) साहुवयणेणं** (साधु वचन)-पौरुषी आ गई, इस प्रकार किसी विश्वस्त व्यक्ति के कहने पर बिना पौरुषी आये ही अशनादि कर लेना। **(6) सव्वसमाहि-वत्तियागारेणं**–(सर्व समाधि प्रत्ययाकार) शूलादि तीव्र रोग (जिससे समाधि भंग हो जाए) की उपशान्ति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना।

साड्ढ पोरिसी सूत्र–यह भी पौरुषी के समान कह देना, केवल पौरुषी के स्थान पर साड्ढ पौरुषी (डेढ़ पौरुषी) कह देना।

3. पुरिमड्ढं-सूत्र (दो पोरसी)

मूल- **उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छन्नकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रकार तक चारों प्रकार के आहार-अशन, पान, खशदिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्याकार, इन सात आगारों के सिवाय पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–(पूर्वार्ध सूत्र) सूर्योदय से लेकर दो प्रहर तक चारों आहार का त्याग करने को पुरिमड्ढ बोलना। इसमें एक आगार विशेष है–**महत्तरागारेणं (महत्तराकार) 'महत्तरप्रत्याख्यान पालन–वशाल्लभ्यनिर्जरापेक्षया बृहत्तरनिर्जरालाभभूतं, पुरुषान्तरेण साधयितुमशक्यं ग्लानः चैत्यसंघादि–प्रयोजनं तदेव आकारः महत्तराकारः।'** अर्थात् विशेष निर्जरा आदि ध्यान में रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए अथवा श्रमण संघ के किसी अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए गुरुदेव आदि महत्तर पुरुष की आज्ञा पाकर निश्चित समय के पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना। गृहस्थ के लिए परस्पर कलहादि की निवृत्ति के लिए पंच समाज आदि एकत्रित हुए हों, पंचों की तरफ से दोनों को शामिल बैठाकर भोजन आदि के कहने पर पुरिमड्ढ आदि पच्चक्खाण वाला समय के आने के पूर्व भी उन महत्तरों (बड़े पुरुषों) के कहने से विशिष्ट लाभ का कारण समझकर आहारादि करने पर व्रत भंग नहीं होता है।

अवड्ढं सूत्र (अपार्ध सूत्र)–पूर्वार्ध प्रत्याख्यान के समान ही अपार्ध प्रत्याख्यान भी होता है। अपार्ध प्रत्याख्यान का अर्थ है–तीन प्रहर दिन चढ़े तब तक आहार ग्रहण न करना। अपार्ध प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय 'पुरिमड्ढं' के स्थान में 'अवड्ढं' पाठ बोलना चाहिये।

4. एगासण–सूत्र (एकासना)

मूल– **एगासणं पच्चक्खामि तिविहं पि आहारं असणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेण, सागारियागारेणं, आउंटणप–सारणेणं, गुरु–अब्भुट्ठाणेणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–मैं एकाशन तप स्वीकार करता हूँ। फलतः अशन, खादिम और स्वादिम–इन तीनों प्रकार के आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ। इस व्रत के आगार आठ हैं, यथा–(1) अनाभोग, (2) सहसागार, (3) सागरिकाकार, (4) आकुञ्चन–प्रसारण, (5) गुर्वभ्युत्थान, (6) पारिष्ठापनिकाकार, (7) महत्तराकार, (8) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त आठ आगारों के सिवा आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–पौरुषी या पूर्वार्ध के बाद दिन में एक बार भोजन करना एकाशन कहलाता है। एकाशन का अर्थ है–एक अशन अर्थात् दिन में एक बार भोजन करना अथवा एक + आसन अर्थात् एक आसन पर बैठकर भोजन करना। एकाशन में अचित्त आहार पानी ही ग्रहण करना कल्पता है। तिविहार एकाशन करता है वह भोजन करने के बाद इच्छानुसार अचित्त पानी पी सकता है। जो चौविहार एकासन करता है, वह भोजन करने के बाद उठ जाने पर पानी नहीं पी सकता है। इसमें 8 आगार हैं। पूर्व में नहीं आए **आगारों के अर्थ** इस प्रकार हैं, **सागारियागारेणं** (सागारिकाकार)–सागारिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके

सन्मुख भोजन करना निषिद्ध है। अत: गृहस्थ आ जाए और वह जल्दी जाने वाला न हो तो साधु को भोजन करना छोड़कर बीच में ही उठकर एकान्त में जाकर पुन: दूसरी बार भोजन करना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता है। सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र भोजन किया जा सकता है। सागारिक शब्द से सर्पादिक का भी ग्रहण किया है। गृहस्थ के लिए सागारिक का अर्थ–क्रूर दृष्टि (जिसकी नजर लग जाय) वाले व्यक्ति के आ जाने पर प्रस्तुत भोजन को बीच में ही छोड़कर एकान्त में पुन: भोजन करना पड़े तो कोई व्रत भंग नहीं होता है। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है–**गृहस्थस्यापि येन दृष्टं भोजनं न जीर्यते तत्प्रमुख: सागारिको ज्ञातव्य:। आउंटण–पसारणेणं**–(आकुञ्चन प्रसारण) भोजन करते समय कारण विशेष से हाथ, पैर और उपलक्षण से शरीर को भी आगे–पीछे हिलाना–डुलाना। **गुरु अब्भुट्ठाणेणं**–(गुर्वभ्युत्थान) गुरुजन एवं किसी अतिथि विशेष के आने पर विनय सत्कार करने के लिए उठना, खड़े होना, इससे व्रत भंग नहीं होता। **पारिट्ठावणियागारेणं**–यह आगार केवल साधु–साध्वियों के ही हैं। विवेक पूर्वक आहार लेने पर भी अगर अधिक हो जाय तो उसे नहीं परठ करके गुरुदेव की आज्ञा से तपस्वी मुनि को ग्रहण कर लेना चाहिये।

5. एगट्ठाण–सूत्र (एक स्थान)

मूल– **एगट्ठाणं पच्चक्खामि चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–एकाशन रूप एक स्थान व्रत को ग्रहण करता हूँ। अशन, खादिम और स्वादिम तीनों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान करता हूँ। (1) अनाभोग, (2) सहसागार, (3) सागरिकाकार, (4) गुर्वभ्युत्थान, (5) पारिष्ठापनिकाकार, (6) महत्तराकार, (7) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–इसे एकल ठाणा भी कहते हैं। इसकी सारी विधि एकाशन के समान है लेकिन 'आउंटण पसारणेणं' आगार नहीं है अर्थात् इसमें मुख और हाथ के अलावा शरीर के किसी भी अंगों को हिलाना निषिद्ध है।

6. आयंबिल–सूत्र

मूल– **आयंबिलं पच्चक्खामि अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहिसंसट्ठेणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–आयंबिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। (1) अनाभोग, (2) सहसागार, (3) लेपालेप, (4) उत्क्षिप्तविवेक, (5) गृहस्थसंसृष्ट, (6) पारिष्ठापनिकाकार, (7) महत्तराकार, (8) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त आठ आकार अर्थात् अपवादों के अतिरिक्त अनाचाम्ल आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–इसमें 8 आगार हैं। आयंबिल (आचाम्ल) व्रत में एक बार रुक्ष (लूखा, अलूणा) नीरस एवं विकृति (विगय) रहित आहार ही ग्रहण किया जाता है। प्राचीन आचार ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तु आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है। आजकल भूने हुए चने (भूँगड़ा) आदि एक नीरस, अन्न को पानी में भिगोकर खाने रूप आयंबिल किया जाता है।

पूर्व में नहीं आये आगारों के अर्थ इस प्रकार हैं–**लेवालेवेणं (लेपालेप)** पहले घी आदि से भरे हुए हाथ को पोंछकर देना अलेप कहलाता है। ऐसे हाथ से आयंबिल योग्य द्रव्य को देना। **उक्खित्तविवेगेणं (उत्क्षिप्त विवेक)** आयंबिल के योग्य द्रव्य पर सूखी विगय (गुड़ादि) पहले रखी हो उसे हटाकर देना। **गिहिसंसट्ठेणं (गृहि–संसृष्ट)** गृहस्थ का भाजन विशेष जो विगय से भरा हुआ है उस भाजन से गृहस्थ बहरावे तो ग्रहण करने से व्रत भंग नहीं होता है।

विशेष–कुछ आचार्यों की मान्यता है कि लेपालेप, उत्क्षिप्त विवेक, गृहस्थ संसृष्ट और पारिष्ठापनिकागार ये चार आगार साधु के लिए ही हैं।

7. अभत्तट्ठं-सूत्र (उपवास)

मूल– **उग्गए सूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, तिविहं पि/चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ–सूर्योदय से लेकर अभक्तार्थ–उपवास ग्रहण करता हूँ, फलत: अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। (1) अनाभोग, (2) सहसाकार, (3) पारिष्ठापनिकाकार, (4) महत्तराकार, (5) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। उक्त पाँच आगारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन–अभक्तार्थ–अभत्तट्ठ अ + भक्त + अर्थ 'भक्त' का अर्थ भोजन है। 'अर्थ' का अर्थ 'प्रयोजन' है। 'अ' का अर्थ नहीं है। अत: तीनों को मिलाने से अर्थ हुआ–भोजन का प्रयोजन नहीं। उपवास में 'चउत्थ भत्तं' बेले में 'छट्ठ भत्तं' तेले में 'अट्ठम भत्तं' पढ़ना चाहिए। चउत्थ भत्तं, छट्ठ भत्तं इत्यादि रूप संज्ञाएँ हैं। भगवती सूत्र और अंतगडदसा सूत्र की टीका में लिखा है कि **'चउत्थ भत्तं इति उपवासं संज्ञा एवं**

अग्रेऽपि उपवास द्वयादे' अर्थात् चउत्थभत्त यह उपवास की संज्ञा है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये। जितने दिन की तपस्या पच्चक्खानी हो उससे दुगुना करके और दो मिलाने से (इतने) भक्तों का प्रत्याख्यान करना चाहिये। जैसे पचोले में बारसभत्तं। उपवास आदि तपस्या तिविहार और चौविहार दोनों की होती है।

8. दिवसचरिम-सूत्र

मूल- **दिवसचरिमं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ-दिवसचरम का (अथवा भवरचम का) व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधि प्रत्ययाकार उक्त चार आगारों के सिवाय आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन-चरम का अर्थ 'अन्तिम भाग' है। वह दो प्रकार है। दिवस का अन्तिम भाग हो और भव (आयु) का अन्तिम भाग। सूर्य के अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों आहार का त्याग करना दिवस चरम प्रत्याख्यान है।

भव चरम प्रत्याख्यान का अर्थ है-जब साधक को यह निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग कर दे। भव चरम का प्रत्याख्यान करना हो तो 'दिवस चरिमं' के स्थान पर 'भव चरिमं' बोलना चाहिए।

9. अभिग्गह-सूत्र (अभिग्रह)

मूल- **अभिग्गहं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्व-समाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।**

भावार्थ-मैं अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, अतएव अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधि प्रत्ययाकार उक्त चार आगारों के सिवाय अभिग्रहपूर्ति तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन-अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिज्ञा करनी चाहिये। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अभिग्रह चार प्रकार का होता है। जब तक मेरा अभिग्रह पूरा नहीं होता तब तक मेरे चार आहार के त्याग हैं। इसमें अमुक काल भी खोला जा सकता है, जैसे-अमुक अवधि तक मेरा अभिग्रह पूरा नहीं हुआ तो आगे मुझे प्रत्याख्यान पारने का आगार है।

10. निव्विगइयं-सूत्र (नीवी)

मूल– निव्विगइयं पच्चक्खामि, अण्णत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहिसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, (पारिट्ठावणियागारेणं), महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ–मैं विकृतियों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिक, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार उक्त नौ आगारों के सिवाय विकृति का परित्याग करता हूँ।

विवेचन–प्राकृत भाषा का मूल शब्द 'निव्विगइयं' है। आचार्य सिद्धसेन ने इसके दो संस्कृत रूपान्तर किये हैं। निर्विकृतिक और निर्विगतिक। आचार्य श्री घृतादि को विकृति हेतुक होने से विकृति और विगति हेतुक होने से विगति भी कहते हैं। जो प्रत्याख्यान विकृति से रहित हो वह निर्विकृतिक एवं निर्विगतिक कहलाता है। इसमें 9 आगार हैं। पूर्व में नहीं आए आगारों का अर्थ इस प्रकार है– **पडुच्चमक्खिएणं (प्रतीत्य म्रक्षित)**–म्रक्षित चुपड़े हुए को कहते हैं और प्रतीत्य का अर्थ–जैसा दिखाई दे, अत: प्रतीत्यम्रक्षित का अर्थ हुआ जो अच्छी तरह चुपड़ा न हो, किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा हो अर्थात् म्रक्षिताभास हो। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है कि–**म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्यम्रक्षित म्रक्षिताभासमित्यर्थः।**

तपस्या में कल्पनीय पानी

तिविहार तपस्या में छ: प्रकार का पानी कल्पता है। पाणस्स लेवाडेण वा, अलेवाडेण वा, अच्छेण वा, बहले वा, ससित्थेणं वा, असित्थेणं वा।

(1) **लेपकृत–**वह पानी जो पात्र में उपलेप कारक हो लेपकृत कहलाता है, जैसे–दाल आदि का माँड तथा इमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी।

(2) **अलेपकृत–**जिस पानी में पात्र में लेप न लगे, जैसे–छाछ आदि का निथरा हुआ और काँजी आदि का पानी।

(3) **अच्छ–**अच्छ का अर्थ स्वच्छ उष्णोदक है।

(4) **बहल–**तिल, चावल और जौ आदि का चिकना माँड बहल कहलाता है। बहल के स्थान पर कुछ आचार्य बहुलेप शब्द का प्रयोग भी करते हैं।

(5) **ससिक्थ–**जिसमें सिक्थ अर्थात् आटे आदि के कण भी हों।

(6) असिक्थ–आटे आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह घोलन जो छना हुआ हो फलतः जिसमें आटे आदि के कण नहीं हों।

प्रत्याख्यान पारने का सूत्र

मूल– उग्गए सूरे........ (जो प्रत्याख्यान किया हो उसका नाम लेना) पच्चक्खाणं कयं, तं पच्चक्खाणं सम्मं काएणं न फासियं, न पालियं, न तीरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

भावार्थ–सूर्योदय होने पर जो नमस्कार सहित या.............. प्रत्याख्यान किया था, वह प्रत्याख्यान (मन, वचन) शरीर के द्वारा सम्यक् रूप से स्पृष्ट, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित एवं आराधित किया और जो सम्यक् रूप से आराधित न किया हो, उसका दुष्कृत मेरे लिये मिथ्या हो।

विवेचन–स्पृष्टं तथा स्पर्शति प्रवचन सारोद्धार में कहा है–'**प्रत्याख्यान ग्रहणकाले विधिना प्राप्तम्।**' गुरुदेव से या स्वयं विधि पूर्वक प्रत्याख्यान लेना। हरिभद्र की आवश्यक चूर्णि में कहा है '**फासियं** नामजं अंतरा न खंडेति' अर्थात् स्वीकृत प्रत्याख्यान को बीच में खण्डित न करते हुए शुद्ध भाव से पालन करना। **पालियं (पालित)**–प्रत्याख्यान को बार–बार उपयोग में लाकर सावधानी के साथ उसकी निरन्तर रक्षा करना। **तीरियं (तीरितं)**–लिये हुए प्रत्याख्यान को तीर तक पहुँचाने अथवा लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय तक ठहर कर भोजन करना। **किट्टियं (कीर्तित)**–मैंने प्रत्याख्यान करके बहुत अच्छा किया, इस तरह कीर्तन करना। **सोहियं (शोधित)**–कोई दूषण लग जाय तो उसकी फिर शुद्धि करना अथवा 'सोहियं' का संस्कृत रूप 'शोभित' भी होता है अर्थात् गुरुजनों को, साधर्मिकों को अथवा अतिथि को भोजन देकर फिर स्वयं करना। **आराहियं (आराधित)**–सब दोषों से दूर रहते हुए विधि अनुसार प्रत्याख्यान की पालना (आराधना) करना।

❑❑❑

परिशिष्ट-1

श्रमण आवश्यक सूत्र की विधि

सर्वप्रथम तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करें।

1. **चउवीसत्थव की आज्ञा**–नवकार मंत्र, इच्छाकारेणं, तस्सउत्तरी, एक इच्छाकारेणं के पाठ का काउस्सग्ग करें, काउस्सग्ग पारने का पाठ, एक लोगस्स प्रकट, दो बार नमोत्थुणं, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।
2. **प्रतिक्रमण ठाने (करने) की आज्ञा**–इच्छामि णं भंते, नवकार मंत्र, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।
3. **प्रथम आवश्यक की आज्ञा**–करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, 125 अतिचारों का काउस्सग्ग (काउस्सग्ग में आगमे तिविहे, अरिहंतो महदेवो, चारित्र में–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पाँच महाव्रत की 25 भावना एवं छट्ठा रात्रि भोजन व्रत, 125 अतिचारों के समुच्चय का पाठ, अठारह पापस्थान, इच्छामि आलोउं का चिन्तन करें) काउस्सग्ग पारने का पाठ, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।
4. **दूसरे आवश्यक की आज्ञा**–लोगस्स का पाठ, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।
5. **तीसरे आवश्यक की आज्ञा**–इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधि सहित दो बार वन्दना, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।
6. **चौथे आवश्यक की आज्ञा**–

   (अ) आगमे तिविहे, अरिहंतो महदेवो, चारित्र के 125 अतिचारों के पाठ, अठारह पाप स्थान, इच्छामि ठामि, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

   (ब) **श्रमण आवश्यक सूत्र की आज्ञा**–नवकार मंत्र, करेमि भंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं, इच्छाकारेणं, पाँच श्रमण सूत्र के पाठ, क्षमापना पाठ, दो बार इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधिवत् वन्दना। नवकार मंत्र, पाँच पदों की वन्दना, अनन्त चौबीसी, आयरिय उवज्झाए, अढ़ाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ, अठारह पापस्थान, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

7. **पाँचवें आवश्यक की आज्ञा**–प्रायश्चित्त का पाठ, नवकार मंत्र, करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी, लोगस्स का (सामान्य दिनों में 4, पक्खी को 8, चौमासी को 12 तथा संवत्सरी को 20 लोगस्स का) काउस्सग्ग करें, काउस्सग्ग शुद्धि का पाठ एवं लोगस्स प्रकट में, इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधिवत् दो बार वन्दना, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

8. **छट्ठे आवश्यक की आज्ञा**–पच्चक्खाण का पाठ, प्रतिक्रमण समुच्चय (अन्तिम पाठ), नमोत्थुणं दो बार, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

।।श्रमण प्रतिक्रमण की विधि समाप्त ।।

काउस्सग्ग-शुद्धि

(अतिचार-शोधन)

काउस्सग में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया हो, धर्मध्यान, शुक्लध्यान नहीं ध्याया हो तथा काउस्सग में मन, वचन और काया चलित हुए हों तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

नमोत्थु णं सुत्तं

(शक्रस्तव-सूत्र)

मूल– **नमोत्थु णं, अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवर-पुंडरियाणं, पुरिसवरगंधहत्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपईवाणं, लोगपज्जोअगराणं, अभय-दयाणं, चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं, जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं, दीवोत्ताणं, सरणगइ-पइट्ठाणं अप्पडिहयवरनाण-दंसणधराणं, विअट्टछउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिन्नाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सव्वण्णूणं, सव्वदरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणराविति, सिद्धिगइनामधेयं, ठाणं संपत्ताणं[1] नमो जिणाणं जिअभयाणं।**

---

1. दूसरे नमोत्थुणं में 'ठाणं संपत्ताणं' के स्थान पर 'ठाणं संपाविउकामाणं' बोलें, शेष पूर्ण पाठ पहले की तरह बोलें।

संस्कृत छाया– नमोऽस्तु अर्हद्भ्यो भगवद्भ्य आदिकरेभ्यस्तीर्थकरेभ्य: स्वयंसंबुद्धेभ्य: पुरुषोत्तमेभ्य: पुरुषसिंहेभ्य: पुरुषवरपुण्डरीकेभ्य: पुरुषवरगन्धहस्तिभ्यो लोकोत्तमेभ्यो लोक-नाथेभ्यो लोकहितेभ्यो लोकप्रदीपेभ्यो लोकप्रद्योतकरेभ्य:, अभयदयेभ्यश्चक्षुर्दयेभ्यो मार्गदयेभ्य: शरणदयेभ्यो जीवदयेभ्यो बोधिदयेभ्यो धर्मदयेभ्यो धर्म्मदेशकेभ्यो धर्मनायकेभ्यो धर्मसारथिभ्यो धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्त्तिभ्यो द्वीपस्त्राणं शरणं गति: प्रतिष्ठा अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यो व्यावृत्तच्छद्मभ्यो जिनेभ्यो जापकेभ्य-स्तीर्णेभ्यस्तारकेभ्यो बुद्धेभ्यो बोधकेभ्यो मुक्तेभ्यो मोचकेभ्य: सर्वज्ञेभ्य: सर्वदर्शिभ्य: शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिसिद्धिगतिनामधेयं स्थानं सम्प्राप्तेभ्यो नमो जिनेभ्यो जितभयेभ्य: ।।

शब्दार्थ–नमोत्थु णं = नमस्कार हो, **अरिहंताणं भगवंताणं** = अरिहंत भगवन्तों को (जो), **आइगराणं** = धर्म की आदि करने वाले, **तित्थयराणं** = धर्मतीर्थ (चतुर्विध संघ) की स्थापना करने वाले, **सयंसंबुद्धाणं** = अपने आप बोध को प्राप्त, **पुरिसुत्तमाणं** = पुरुषों में उत्तम, **पुरिससीहाणं** = पुरुषों में सिंह के समान (पराक्रमी), **पुरिसवरपुंडरीयाणं** = पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक कमल के समान, **पुरिसवरगंधहत्थीणं** = पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, **लोगुत्तमाणं** = सम्पूर्ण लोक में उत्तम, **लोगनाहाणं** = सम्पूर्ण लोक के नाथ, **लोगहियाणं** = सम्पूर्ण लोक का हित करने वाले, **लोग–पईवाणं** = लोक में प्रकाशित दीप के समान, **लोगपज्जोअगराणं** = लोक में धर्म का प्रद्योत (प्रकाश) करने वाले, **अभयदयाणं** = सम्पूर्ण जीवों को भय रहित करने वाले अर्थात् अभय = दान देने वाले, **चक्खुदयाणं** = ज्ञान रूपी चक्षु देने वाले, **मग्गदयाणं** = मोक्षमार्ग बताने वाले, **सरणदयाणं** = (कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग में लगाने में सहायक भूत होने से) शरण देने वाले, **जीवदयाणं** = संयममय जीवन देने वाले, **बोहिदयाणं** = सम्यक्त्व रत्न रूपी बोधि के दाता, **धम्मदयाणं** = धर्म ग्रहण कराने वाले (धर्म–पथ का बोध देने वाले), **धम्मदेसयाणं** = धर्मोपदेशक, **धम्मनायगाणं** = धर्मसंघ का नायकत्व करने से धर्म के नेता, **धम्मसारहीणं** = धर्म रूप रथ को चलाने वाले धर्म सारथी, **धम्मवरचाउरंत** = चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म, **चक्कवट्टीणं** = चक्रवर्ती, **दीवोत्ताणं** = संसार–सागर में द्वीप के समान रक्षक, **सरणगइपइट्ठाणं** = दु:खी प्राणियों को आश्रय देने वाले, सुगति में सहायक, पृथ्वी के समान आधारभूत, **अप्पडिहय** = पुन: नष्ट नहीं होने वाला अप्रतिहत, **वरनाणदंसणधराणं** = श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन के धारक, **विअट्टछउमाणं** = छद्मस्थता से रहित, **जिणाणं** = स्वयं रागद्वेष के विजेता, **जावयाणं** = दूसरों को जिताने में सहायता देने वाले, **तिन्नाणं** = स्वयं संसार–सागर से तिरने वाले, **तारयाणं** = दूसरों को तिराने वाले, **बुद्धाणं** = स्वयं बोध पाये हुए, **बोहयाणं** = दूसरों को बोध कराने वाले, **मुत्ताणं** = स्वयं कर्मों से मुक्त, **मोयगाणं** = दूसरों को कर्मों से मुक्त कराने वाले, **सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं** = सब कुछ जानने–देखने वाले, सर्वज्ञ–सर्वदर्शी, **सिव–मयल– मरूअ =**

मणंत = निरुपद्रवी, अचल, रोग रहित, अनंत, **मक्खय-मव्वाबाह** = अक्षय, अव्याबाध, **मपुणरावित्ति** = पुनरागमन रूप वृत्ति से रहित, **सिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं** = सिद्ध गति नामक स्थान को, **संपत्ताणं** = प्राप्त सिद्ध भगवान, **नमो जिणाणं जिअभयाणं** = भय विजेता जिनेश्वरों को नमस्कार हो, **ठाणं संपाविउकामाणं** = स्थान को प्राप्त करने वाले अरिहन्त भगवान।

भावार्थ-श्री अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो। (अरिहंत भगवान कैसे हैं?) धर्म की आदि करने वाले धर्म तीथ की स्थापना करने वाले हैं, (परोपदेश बिना) स्वयं ही प्रबुद्ध हुए हैं। पुरुषों में श्रेष्ठ हैं, पुरुषों में सिंह (के समान पराक्रमी) हैं, पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीक-श्वेत कमल के समान है, पुरुषों में श्रेष्ठ गंध-हस्ती हैं। लोक में उत्तम हैं लोक के नाथ हैं, लोक के हितकर्ता हैं, लोक में दीपक हैं, लोक में उद्योत करने वाले हैं।

अभय देने वाले हैं, ज्ञान रूपी नेत्र देने वाले हैं, धर्ममार्ग को देने वाले हैं, शरण देने वाले हैं, संयम रूप जीवन के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं, धर्म के नेता हैं, धर्म के सारथी-संचालक हैं। चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म के चक्रवर्ती हैं, अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले हैं, ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों से अथवा प्रमाद से रहित हैं।

स्वयं राग-द्वेष को जीतने वाले हैं, दूसरों को जीताने वाले हैं, स्वयं संसार सागर से तर गये हैं, दूसरों को तारने वाले हैं, स्वयं बोध पा चुके हैं, दूसरों को बोध देने वाले हैं, स्वयं कर्म से मुक्त हैं, दूसरों को मुक्त कराने वाले हैं। सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, तथा शिव-कल्याणरूप, अचल-स्थिर, अरुज-रोग रहित, अनंत-अंत रहित, अक्षय-क्षय रहित, अव्याबाध-बाधा-पीड़ा रहित, अपुनरावृत्ति-पुनरागमन से रहित अर्थात् जन्म-मरण से रहित, सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त कर चुके हैं, भय को जीतने वाले हैं, राग-द्वेष को जीतने वाले हैं-ऐसे जिन भगवंतों को मेरा नमस्कार हो।

विवेचन-नमोत्थुणं में तीर्थङ्कर भगवान की स्तुति की गई है इस स्तुति में अरिहंत और सिद्धों के गुणों को प्रकट कर उन्हें श्रद्धा से नमन किया गया है।

आइगराणं-द्वादशांगी की अपेक्षा धर्म की आदि करने वाले।

तित्थयराणं-साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका तीर्थ रूप है जो इस तीर्थ की स्थापना करते हैं वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। तीर्थ का अर्थ पुल भी है। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की धर्म-साधना संसार सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पुल पर चढ़कर संसार-सागर को पार कर सकते हैं। जो ऐसे पुल को तैयार करते हैं, वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं।

पुरिससीहाणं-सिंह के समान पराक्रमी और निर्भय। जिस प्रकार सिंह निमित्त को न पकड़कर उपादान को पकड़ता है। इसी प्रकार जो भगवान को परिषह उपसर्ग देता है-भगवान उस व्यक्ति पर कुपित नहीं

होते क्योंकि वह तो निमित्त मात्र है। उपादान तो आत्मा के उपार्जित किए हुए कर्म हैं। इसलिए वे अपने किए हुए कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ करते हैं।

पुरिसवरपुंडरीयाणं–मानस सरोवर में सर्वश्रेष्ठ कमल। आध्यात्मिक जीवन की अनन्त सुगन्ध फैलाने वाले कमल के समान अलिप्त।

पुरीसवरगंधहत्थीणं–हस्ती-सिंह की उपमा वीरता की सूचक है, गन्ध की नहीं और पुंडरीक की उपमा गन्ध की सूचक है वीरता की नहीं। परन्तु गंधहस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता की सूचना देती है। गन्ध हस्ती के गण्डस्थल (मस्तक) से एक प्रकार का मद झरता रहता है। उसकी गंध से सामने वाले दूसरे हाथी मद रहित हो जाते हैं अर्थात् वे प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान के सामने अन्य मतावलम्बी परवादी मद रहित (निरुत्तर) हो जाते हैं। गन्ध हस्ती में ऐसी वीरता होती है कि दूसरे हाथी उसे जीत नहीं सकते हैं। इसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान में ऐसी अनन्त शक्ति होती है कि कोई भी परवादी उन्हें जीत नहीं सकता है।

लोगपईवाणं–साधारण पुरुषों के लिए दीपक के समान प्रकाश करने वाले। **लोगपज्जोअगराणं**–गणधरादि विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों के लिए सूर्य के समान प्रकाश करने वाले।

विअट्टछउमाणं–व्यावृत्त छद्म। छद्म के दो अर्थ है–आवरण और छल 'छादयतीति छद्म' अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि चार घातिकर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तियों को आच्छादित किये (ढँके) हुए रहते हैं अत: वे छद्म कहलाते हैं। जो इस छद्म से पूर्णतया अलग हो गये वे केवलज्ञानी व्यावृत्त छद्म कहलाते हैं। दूसरे अर्थ से छल और प्रमाद से रहित हो, वे व्यावृत्त छद्म कहलाते हैं। इस पाठ को 'शक्रस्तव' भी कहते हैं।

किन्हीं-किन्हीं प्रतियों में 'दीवताणसरणगइपइट्ठाणं' तथा किन्हीं में 'दीवो ताणं सरणं गइ पइट्ठा' पाठ भी मिलता है। ललित-विस्तरा नामक हरिभद्रसूरि द्वारा रचित ग्रन्थ में यह शब्द ही नहीं है। इस शब्द को किसने व कब जोड़ा इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

इच्छामि णं भंते का पाठ

मूल– **इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं[1] पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय[2]-नाण-दंसण-चरित्त-तव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं।**

1-2. देवसियं-देवसिय के स्थान पर रात्रि प्रतिक्रमण में 'राइयं-राइय', पाक्षिक प्रतिक्रमण में 'पक्खियं-पक्खिय', चातुर्मासिक में 'चाउम्मासियं-चाउम्मासिय', और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में 'संवच्छरियं-संवच्छरिय' बोलना चाहिए।

संस्कृत छाया– इच्छामि खलु भगवन् युष्माभिरभ्यनुज्ञातः सन्। दैवसिकं प्रतिक्रमणं तिष्ठामि दैवसिक-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-अतिचार-चिंतनार्थं करोमि कायोत्सर्गम्।।

अन्वयार्थ–इच्छामि णं भंते ! = हे भगवन्! चाहता हूँ अर्थात् मेरी इच्छा है, **तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे** = इसलिए आपके द्वारा आज्ञा मिलने पर, **देवसियं पडिक्कमणं** = दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण को, **ठाएमि** = करता हूँ। (व), **देवसिय-नाण-दंसण** = दिवस सम्बन्धी ज्ञान-दर्शन, **चरित्त** = चारित्र, **तव** = तप, **अइयार-चिंतणत्थं** = अतिचारों का चिन्तन करने के लिए, **करेमि काउस्सग्गं** = कायोत्सर्ग करता हूँ।

दंसण अइयारे

(दर्शन सम्यक्त्व का पाठ)

मूल– **अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।**
जिण-पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं।।1।।
परमत्थ-संथवो वा, सुदिट्ठ-परमत्थ-सेवणा वा वि।
वावण्ण-कुदंसण-वज्जणा, य सम्मत्त-सद्दहणा।।2।।

इअ सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो।

इस प्रकार श्री समकित रत्न पदार्थ के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. श्री जिन वचन में शंका की हो, 2. परदर्शन की आकांक्षा की हो, 3. धर्म के फल में सन्देह किया हो, 4. पर पाखण्डी की प्रशंसा की हो, 5. पर पाखण्डी का परिचय किया हो और मेरे सम्यक्त्व रूप रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज मैल लगा हो (इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो) तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

संस्कृत छाया– अर्हन्तो मम देवा, यावज्जीवनं सुसाधवः मम गुरवः जिनप्रज्ञप्तं तत्त्वं, इति सम्यक्त्वं मया ग्रहितम्।।1।।

परमार्थसंस्तवा वा, सुदृष्टपरमार्थसेवना वापि, व्यापन्नकुदर्शनवर्जना, इति सम्यक्त्त्वश्रद्धानम्।।2।।

सम्यक्त्वस्य पञ्च अतिचाराः पेयालाः प्रधानानि ज्ञातव्या न समाचरितव्याः। तद्यथा–शङ्का, काङ्क्षा, विचिकित्सा, परपाखण्डप्रशंसा, परपाखंडसंस्तवो वा ।।

अन्वयार्थ–अरिहंतो महदेवो जावज्जीवं = जीवन पर्यन्त अरिहंत मेरे देव हैं, **सुसाहुणो गुरुणो** = सुसाधु (निर्ग्रन्थ) गुरु हैं, **जिण–पण्णत्तं तत्तं** = जिनेश्वर कथित तत्त्व (धर्म) सार रूप है, **इअ सम्मत्तं** = इस प्रकार का सम्यक्त्व, **मए गहियं** = मैंने ग्रहण किया है, **परमत्थ–संथवो वा** = परमार्थ का परिचय अर्थात् जीवादि तत्त्वों की यथार्थ जानकारी करना, **सुदिट्ठ–परमत्थ–सेवणा वा वि** = परमार्थ के जानकार की सेवा करना, **वावण्ण–कुदंसण–वज्जणा** = समकित से गिरे हुए तथा मिथ्या दृष्टियों की संगति छोड़ने रूप, **य सम्मत्त–सद्दहणा** = ये इस सम्यक्त्व के (मेरे) श्रद्धान हैं अर्थात् मेरी श्रद्धा बनी रहे, **इअ सम्मत्तस्स** = इस सम्यक्त्व के, **पंच अइयारा पेयाला** = पाँच अतिचार रूप प्रधान दोष हैं। (जो), **जाणियव्वा** = जानने योग्य हैं। (किन्तु), **न समायरियव्वा** = आचरण करने योग्य नहीं हैं, **तं जहा** = वे इस प्रकार हैं, **ते आलोउं** = उनकी मैं आलोचना करता हूँ, **संका** = श्री जिन वचन में शंका की हो, **कंखा** = परदर्शन की आकांक्षा की हो, **वितिगिच्छा** = धर्म के फल में सन्देह किया हो या गुणियों के मलिन वस्त्र, पात्र, शरीर आदि देखकर घृणा की हो, **परपासंडपसंसा** = पर पाखण्डी की प्रशंसा की हो, **परपासंडसंथवो** = पर पाखण्डी का परिचय किया हो।

भावार्थ–राग–द्वेष आदि आभ्यंतर शत्रुओं को जीतने वाले वीतराग अरिहंत भगवान मेरे देव हैं, जीवनपर्यन्त संयम की साधना करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु हैं तथा वीतरागकथित अर्थात् श्री जिनेश्वरदेव द्वारा उपदिष्ट अहिंसा, सत्य आदि ही मेरा धर्म है। यह देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धास्वरूप सम्यक्त्व व्रत मैंने यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया है एवं मुझको जींवादि पदार्थ का परिचय हो, भली प्रकार जीवादि तत्त्वों को तथा सिद्धांत के रहस्य को जानने वाले साधुओं की सेवा प्राप्त हो, सम्यक्त्व से भ्रष्ट तथा मिथ्यात्वी जीवों की संगति कदापि न हो, ऐसी सम्यक्त्व के विषय में मेरी श्रद्धा बनी रहे।

मैंने वीतराग के वचन में शंका की हो, जो धर्म वीतराग द्वारा कथित नहीं है, उसकी आकांक्षा की हो, धर्म के फल में संदेह किया हो, या साधु–साध्वी आदि महात्माओं के वस्त्र, पात्र, शरीर आदि को मलिन देखकर घृणा की हो, परपाखंडी का चमत्कार देखकर उसकी प्रशंसा की हो तथा परपाखंडी से परिचय किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

विवेचन–यह सम्यक्त्व (व्यवहार) ग्रहण करने का पाठ है। सम्यक्त्व का स्वरूप बताते हुए यहाँ कहा गया कि राग–द्वेष विजेता अरिहन्त मेरे देव, पंच महाव्रतधारी सुसाधु मेरे गुरु और जिनेश्वर कथित तत्त्व

धर्म है। जीवादि तत्त्वों की जानकारी, इनके जानकारों की सेवा, समकित से गिरे तथा मिथ्यादृष्टियों की संगति छोड़ने से सम्यक्त्व सुरक्षित रहता है। इसमें शंकादि समकित के 5 अतिचारों की आलोचना कर मिच्छा मि दुक्कडं दिया गया है। सुदेव, सुगुरु, सुधर्म रूप सम्यक्त्व, मोक्ष का मार्ग है।

चारित्र के अतिचारों का पाठ

पृथ्वीकाय में–मुरड़, माटी, खड़ी, गेरु, हिंगलू, हरताल, सुरमो, खापरियो आदि पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

अप्काय में–ओस, हेम, ठार, बर्फ, गड़ा, कुएँ का पानी, तालाब का पानी, नदी का पानी, कच्चा पानी, मिश्र पानी, शंका का पानी आदि अप्काय के जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

तेउकाय में–खीरा, अंगारा, भोभर, भरासा, झाल, टूटती हुई झाल, बिजली, आहार आदि के संघट्टे में तेउकाय के जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

वायुकाय में–उक्कलिया वाय, मंडलिया वाय, घनवाय, तनुवाय, शुद्धवाय, संवट्टवाय, छींक, उबासी, हालताँ, चालताँ, पूँजताँ, पडिलेहताँ, उघाड़े मुख बोलताँ आदि अयतना से क्रिया करता वायुकाय के जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

वनस्पतिकाय में–हरी, तरकारी, बीज, अंकुरा, कण, कपासिया, लीलण, फूलण आदि वनस्पति के जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो 'तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।'

त्रसकाय–बेइन्द्रिय में–लट, गिण्डोला, शंख, संघोटिया, शीप, कोड़ी, जलोक आदि बेइन्द्रिय जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

तेइन्द्रिय में–कीड़ी, मकोड़ी, जूँ, लीख, चाँचड़, माकड़, गजाई, कुंथुआ आदि तेइन्द्रिय जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

चउरिन्द्रिय में–मक्खी, मच्छर, टीड, पतंगा, भँवरा, भिंगोरी, कसारी, बिच्छु आदि चउरिन्द्रिय जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

पंचेन्द्रिय में–जलचर, थलचर, खेचर, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प, सन्नी, असन्नी, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि पंचेन्द्रिय जीवों की विराधना की हो, कराई हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

1. ईर्या समिति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–**द्रव्य से**–छः काया के जीवों को देखकर न चला हो, **क्षेत्र से**–झूसरा प्रमाणे–चार हाथ सामने देखकर न चला हो, **काल से**–दिन को देखकर रात्रि में पूँजकर न चला हो, **भाव से**–उपयोग सहित नहीं चला हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

2. भाषा समिति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–कर्कश, कठोर, सावद्य, सपाप, छेदकारी, भेदकारी, खोटी, कूड़ी, मिश्र भाषा बोली हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

3. एषणा समिति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–सोलह उद्‌गम का दोष, सोलह उत्पादन का दोष, दस एषणा का दोष, पाँच मांडला का दोष, पूर्व कर्म, पश्चात् कर्म, असूझता, अनेषणिक, अप्रासुक आहार लिया हो और सूझता की खप न की हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

4. आदान–भाण्ड–मात्र निक्षेपणा समिति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–भण्डोपकरण, वस्त्र, पात्र आदि बिना देखे, बिना पूँजे, अयतना से लिये हों, अयतना से रखे हों, पूँजता पडिलेहता अयतना की हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

5. उच्चार–प्रस्रवण–श्लेष्म–मैल–सिंघाण–परिष्ठापनिका समिति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–बड़ीनीत, लघुनीत आदि बिना देखे, बिना पूँजे परठी हो, जावताँ ''आवस्सही–आवस्सही'' नहीं कहा हो, आवताँ–''निसिही–निसिही'' नहीं कहा हो, शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा नहीं ली हो, परठ के तीन बार वोसिरामि–वोसिरामि नहीं कहा हो, वापस आकर चउवीसत्थव न किया हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

1. मनगुप्ति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–मन में संकल्प, विकल्प, अट्ट (आर्त्त) दोहट्ट (दुःख से पीड़ित) किया हो, संयम से मन को बाहर प्रवर्ताया हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

2. वचन गुप्ति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा इन चार विकथाओं में से कोई विकथा की हो, तथा असंयमी को आओ सा, पधारो सा, कहा हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

3. काय गुप्ति–के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–हालताँ, चालताँ, उठताँ, बैठताँ, पूँजताँ, पडिलेहताँ, काया अयतना से, असावधानी से प्रवर्ताई हो, बिना देखे बिना पूँजे हाथ–पैर पसारिया हो, संकोचिया हो, ओठीगण (दिवार आदि का सहारा) लिया हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप दोष लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

दस सामाचारी[1]

(1)	**आवस्सही–** **(आवस्सिया)**	आवश्यक कार्य के लिए स्थानक के बाहर जाते समय साधु को 'आवस्सही–आवस्सही' कहना चाहिए। यह आवश्यकी है।
(2)	**निस्सीहि–** **(निसीहिया)**	आवश्यक कार्य पूर्ण कर स्थानक में प्रवेश करते समय 'निस्सीहि–निसीहि' कहे। मैं बाहर के कार्य से निवृत्त हो आया हूँ। यह नैषधिकी है।
(3)	**आपुच्छणा–**	किसी कार्य को करने के लिए पहले गुरुदेव से उस कार्य हेतु पूछना, यह आपुच्छना है।
(4)	**पडिपुच्छणा–**	अन्य मुनियों के लिए कार्य करने हेतु बार–बार पूछना, पडिपुच्छना है।
(5)	**छन्दना–**	स्वयं के लाये हुये आहार या अपने विभाग में आये हुये आहार को अन्य गुरुजनों व साधुओं को उसे ग्रहण करने के लिए निवेदन करना, छन्दना है।
(6)	**इच्छाकार–**	गुरुदेव आपकी इच्छा होवे तो मैं स्वाध्याय करूँ या वैयावृत्त्य। इस प्रकार पूछने को इच्छाकार कहते हैं।
(7)	**मिच्छाकार–**	संयम पालते हुये कोई विपरीत आचरण हो जावे तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधक मिच्छा मि दुक्कडं कहे। यह मिच्छाकार है।
(8)	**तहक्कारो–**	गुरुदेव की किसी कार्य करने हेतु आज्ञा मिलने पर या उपदेश देने पर तहत् (तहत्ति) जैसा आप फरमाते हैं वही तथ्य है, कहना तथाकार समाचारी है।
(9)	**अब्भुट्ठाणं–**	गुरुजनों व रत्नाधिकों की विनय भक्ति करना एवं बाल वृद्ध ग्लान साधुओं को यथोचित आहारादि लाकर देना अभ्युत्थान नामक समाचारी है।
(10)	**उपसंपया–**	ज्ञानादि प्राप्ति के लिए अन्य गच्छ के आचार्य के पास रहना 'उपसम्पदा' समाचारी कहलाती है।

---

1. उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 26

साधुओं के बारह संभोग–

(1) उपधि (2) श्रुत (3) भक्तपान (4) अञ्जलि
(5) दान (6) निकाचन (शय्या निमंत्रण) (7) अभ्युत्थान (8) कृतिकर्म
(9) सेवा (10) समवशरण (एक साथ रहना) (11) संनिषद्या (एक आसन पर बैठना)
(12) कथा प्रबन्ध

भावना–विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना 'भावना' है।

(1) ईर्या समिति–भावना–'प्राणातिपात विरमण' नामक प्रथम महाव्रत की रक्षा रूप दया के लिए और स्व–पर गुण वृद्धि के लिए साधु चलने और ठहरने में युग प्रमाण भूमि पर दृष्टि रखता, ईर्या समिति पूर्वक चले, जिससे उसके पाँव के नीचे दबकर कीट–पतंग आदि त्रस तथा सचित्त पृथ्वी और हरी लीलोती आदि स्थावर जीवों की घात न हो जाय। चलते या बैठते समय साधु सदैव फूल, फल, छाल, प्रवाल, कन्द, मूल, पानी, मिट्टी, बीज और हरितकाय को वर्जित करता–बचता हुआ सम्यक् प्रवृत्ति करे। इस प्रकार ईर्या समिति पूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु किसी भी प्राणी की अवज्ञा या हीलना नहीं करे, न निंदा करे और न छेदन–भेदन और वध करे। किसी भी प्राणी को किञ्चित् मात्र भी भय और दु:ख नहीं दे। इस प्रकार ईर्या समिति से अन्तरात्मा भावित–पवित्र होती है। उसका चारित्र और परिणति निर्मल, विशुद्ध और अखण्डित होती है। वह अहिंसक होता है। ऐसा अहिंसक उत्तम साधु होता है।

(2) मन समिति–भावना–अहिंसा महाव्रत की दूसरी भावना मन समिति है। साधु अपने मन को पापकारी–कलुषित बनाकर दुष्ट विचार नहीं करे, न मलिन मन बनाकर अधार्मिक, दारुण एवं नृशंसता पूर्ण विचार करे तथा वध बंधन और पारितापोत्पादक विचारों में लीन भी नहीं बने। जिनका परिणाम भय, क्लेश और मृत्यु है, ऐसे हिंसा युक्त पापी विचारों को मन में किञ्चित् मात्र भी स्थान नहीं दे। ऐसा पापी ध्यान कदापि नहीं करे। इस प्रकार मन समिति की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा भावित होती है। ऐसी विशुद्ध मन वाली आत्मा का चारित्र और भावना निर्मल तथा अखण्डित होती है। वह साधु अहिंसक, संयमी एवं मुक्ति–साधक होता है, उसकी साधुता उत्तम होती है।

(3) वचन समिति–भावना–अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना वचन समिति है। कुवचनों से किञ्चित् मात्र भी पापकारी आरम्भकारी वचन नहीं बोलना चाहिये। वचन समिति पूर्वक वाणी के व्यापार से अन्तरात्मा निर्मल होती है। उसका चारित्र एवं भाव निर्मल विशुद्ध एवं परिपूर्ण होता है। वचन समिति का पालन करके अहिंसक संयमी तथा मोक्ष का उत्तम साधक होता है। उसकी साधुता प्रशंसनीय होती है।

(4) आहारैषणा समिति–भावना–अहिंसा महाव्रत की चौथी भावना एषणा समिति है। आहार की गवेषणा के लिए गृह समुदाय में गया हुआ साधु थोड़े–थोड़े आहार की गवेषणा करे। आहार के लिए गृह

समुदाय में गया हुआ साधु अज्ञात रहता हुआ अर्थात् अपना परिचय नहीं देता हुआ स्वाद में गृद्धता, लुब्धता एवं आसक्ति नहीं रखता हुआ गवेषणा करे। यदि आहार तुच्छ स्वादहीन या अरुचिकर मिले तो उस आहार पर या उसके देने वाले पर द्वेष नहीं लाता हुआ दीनता, विवशता या करुणा-भाव न दिखाता हुआ समभाव पूर्वक आहार की गवेषणा करे। यदि आहार नहीं मिले, कम मिले, अरुचिकर मिले तो मन में विषाद नहीं लावे और अपने को मन, वचन और काया के योगों से अखिन्न, (अखेदित) रखता हुआ संयम में प्रयत्नशील रहे। अप्राप्त गुणों की प्राप्ति में उद्यम करने वाला एवं विनयादि गुणों से युक्त साधु, भिक्षा की गवेषणा में प्रवृत्त होवे। सामुदानिक भिक्षाचरी से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपने स्थान पर आया हुआ साधु गुरुजन के समीप गमनागमन सम्बन्धी अतिचारों से निवृत्ति के लिए ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे। आहार दिखाये, फिर गुरुजन के निकट या गुरु के निर्देशानुसार गीतार्थादि मुनि के पास अप्रमत्त होकर विधिपूर्वक अतिचार रहित होकर अनेषणा जनित दोषों की निवृत्ति के लिए पुन: प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। इसके बाद शान्त चित्त से सुख पूर्वक बैठे और कुछ समय तक ध्यान करे तथा ध्यान और शुभ योग का आचरण करता हुआ, ज्ञान का चिन्तन एवं स्वाध्याय करे और अपने मन को श्रुत-चारित्र रूप धर्म में स्थापित करे फिर आहार करता हुआ साधु मन में विषाद एवं व्यग्रता नहीं लाता हुआ मन को शुभयोग युक्त रखे। मन में धर्म की श्रद्धा, मोक्ष की अभिलाषा एवं क्रमानुसार आहार के लिए आमन्त्रित करे और उनकी इच्छानुसार उन्हें भाव पूर्वक आहार देने के पश्चात् गुरुजन की आज्ञा होने पर उचित स्थान पर बैठे।

फिर मस्तक सहित शरीर तथा करतल को भली प्रकार से पूँजकर आहार करे। आहार करता हुआ साधु आहार के स्वाद में मूर्च्छित नहीं होवे। गृद्ध, लुब्ध एवं आसक्त नहीं होवे। अपना ही स्वार्थ नहीं सोचे। विरस या रस रहित आहार हो तो उसकी निन्दा नहीं करे। मन को रस में एकाग्र नहीं करे। मन में कलुषता नहीं लावे। रसलोलुप नहीं बने। भोजन करता हुआ 'सुरसुर' ध्वनि नहीं होने दे। भोजन करने में न तो अतिशीघ्रता करे ना अति धीरे-विलम्ब पूर्वक करे। भोजन करते समय आहार का अंश नीचे नहीं गिरावे। ऐसे भाजन में भोजन करे जो भीतर से भी पूरा दिखाई देता हो अथवा भोजन स्थान अन्धकार युक्त न हो। भोजन करता हुआ साधु अपने मन, वचन और काया के योगों को वश में रखे। भोजन को स्वाद युक्त बनाने के लिए उसमें कोई अन्य वस्तु नहीं मिलावे अर्थात् संयोजना दोष और 'इंगाल दोष' नहीं लगावे। अरस आहार निंदा रूप 'धूमदोष' भी नहीं लगावे।

जिस प्रकार गाड़ी को सरलता पूर्वक चलाने के लिए उसकी धुरी में अंजन, तेल आदि लगाया जाता है और शरीर पर लगे हुए घाव को ठीक करने के लिए लेप-मरहम लगाया जाता है। उसी प्रकार संयम यात्रा के निर्वाह के लिए, संयम के भार को वहन करने के लिए तथा प्राण धारण करने के लिए भोजन करे इस प्रकार आहार समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाले साधु की अन्तरात्मा भावित होती है। उसका चारित्र व भावना निर्मल, विशुद्ध एवं अखण्डित होती है। वह संयमवंत अहिंसक साधु मोक्ष का उत्तम साधक होता है।

(5) आदान-निक्षेपणा समिति-भावना-यह पाँचवीं भावना है। संयम साधना में उपयोगी उपकरणों को यतना पूर्वक ग्रहण करना एवं यतना पूर्वक रखना। साधु को पीठ (बाजोट), फलक (पाट), शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कंबल, दंड, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका, पादपोंच्छन आदि उपकरण संयम वृद्धि के लिए तथा वायु, आतप, दंशमशक और शीत से बचाव करने के लिए है। इन्हें राग-द्वेष रहित होकर धारण करना चाहिए और उपयोग में लेना चाहिए। इन उपकरणों की प्रतिलेखना (निरीक्षण करना), प्रस्फोटना (झटकना), प्रमार्जना (रजोहरण से पूँजना) करनी चाहिए। दिन और रात में सदैव अप्रमत्त रहता हुआ मुनि भण्डोपकरण ग्रहण करे, उठावे और रखे। इस प्रकार आदान निक्षेपणा समिति का यथावत् पालन करने से साधु की अन्तरात्मा अहिंसा धर्म से प्रभावित होती है। उसका चारित्र और आत्म-परिणाम निर्मल, विशुद्ध होता है और महाव्रत अखण्डित रहता है। वह संयमवान अहिंसक साधु मोक्ष का उत्तम साधक होता है।

2. दूसरे महाव्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-क्रोधवश, लोभवश, भयवश, हास्यवश, मृषावाद-झूठ बोला हो, बोलाया हो, बोलते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

(1) अनुवीचि समिति-भावना-सम्यक् प्रकार से विचार पूर्वक बोलना। गुरु से सम्यक् प्रकार से श्रवण करके संवर के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला परमार्थ (मोक्ष) का साधक ऐसे सत्य को भली प्रकार से जानने के बाद बोले। बोलते समय न तो वेग युक्त (व्याकुलता युक्त) बोलना चाहिए न त्वरितता से (शीघ्रता पूर्वक) और न चपलता से बोलना चाहिए। भले ही वचन सत्य हो। ऐसे सावद्य वचनों का त्याग कर हितकारी परिमित अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले शुद्ध हेतु युक्त और स्पष्ट वचन विचारपूर्वक बोलना चाहिए। इस प्रकार इस 'अनुवीचि समिति' रूप प्रथम भावना से साधक की अन्तरात्मा प्रभावित होती है। इससे साधक के हाथ, पाँव, आँखें व मुख संयमित रहते हैं। इस तरह करने से वह साधक शूरवीर होता है। वह सत्य एवं सरलता से सम्पन्न होता है।

(2) क्रोध-त्याग-भावना-साधक को क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य का रौद्र रूप हो जाता है। क्रोधावेश से वह झूठ भी बोल सकता है। पिशुनता-चुगली भी कर सकता है और कटु एवं कठोर वचन भी बोलता है। वह मिथ्या, पिशुन और कठोर ये तीनों प्रकार के वचन एक साथ बोल सकता है, क्रोधी मनुष्य क्लेश, वैर और विकथा कर सकता है। वह सत्य का हनन कर सकता है। क्रोधी मनुष्य दूसरों के लिए द्वेष का पात्र होता है। क्रोधाग्नि से जलता हुआ मनुष्य उपर्युक्त दोष और ऐसे अन्य अनेक दोष पूर्ण वचन बोलता है। इसलिए दूसरे महाव्रत के पालक को क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोध का त्याग कर क्षमा को धारण करने से अन्तरात्मा भावित होती है। ऐसे साधक के हाथ, पाँव, आँखें और वचन संयम में स्थित पवित्र रहते हैं, ऐसा शूरवीर साधक सत्यवादी एवं सरल होता है।

(3) लोभ-त्याग-भावना-सत्य महाव्रत के पालक को लोभ से दूर रहना चाहिये। लोभ से प्रेरित मनुष्य का सत्यव्रत टिक नहीं सकता। वह झूठ बोलने लगता है। लोभ से ग्रसित मनुष्य क्षेत्र, वास्तु, कीर्ति, ऋद्धि, सुख, खानपान, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, आसन, शयन, वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपोंच्छन, शिष्य और शिष्या के लिए और इसी प्रकार के अन्य सैकड़ों कारणों से झूठ बोल सकता है। इसलिए मिथ्या भाषण के मूल इस लोभ का सेवन कदापि नहीं करना चाहिये। इस प्रकार लोभ का त्याग करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है। उस साधक के हाथ, पाँव, नेत्र और मुख संयम से शोभित होते हैं। वह शूरवीर साधक सत्य एवं सरलता से सम्पन्न होता है।

(4) भय-त्याग-भावना-भय को त्याग कर निर्भय बनने वाला साधक सत्य महाव्रत का पालक होता है। भयग्रस्त मनुष्य के सामने सदैव भय के निमित्त उपस्थित रहते हैं। भयाकुल मनुष्य किसी का सहायक नहीं बन सकता। भयाक्रान्त मनुष्य भूतों के द्वारा ग्रसित हो जाता है। एक डरपोक मनुष्य दूसरों को भी भयभीत कर देता है। डरपोक मनुष्य डर के मारे संयम और तप को भी छोड़ देता है। वह उठाये हुए भार को बीच में ही पटक देता है, पार नहीं पहुँचाता। भयभीत मनुष्य सत्पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग में विचरण करने में समर्थ नहीं होता, इस प्रकार भय को पाप का कारण जानकर, त्याग करके निर्भय होना चाहिये। व्याधि, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और ऐसे अन्य प्रकार के भयों से साधु को भयभीत नहीं होना चाहिये। धैर्य धरकर निर्भय होने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। निर्मल रहकर बलवान बनती है। निर्भय साधक के हाथ, पाँव, नेत्र और मुख संयमित रहते हैं। वह शूरवीर साधक सत्यधर्मी होता है एवं सरलता के गुण से सम्पन्न होता है।

(5) हास्य-त्याग-भावना-दूसरे महाव्रत के पालक को चाहिये कि वह हास्य न करे। हास्य (हँसी-मजाक) करने वाला मनुष्य मिथ्या और असत्य भाषण कर सकता है। हास्य दूसरे व्यक्ति का अपमान करने में कारणभूत बन जाता है। पराई निंदा करने में रुचि रखने वाले भी हास्य का अवलम्बन लेते हैं। हास्य दूसरों के लिए पीड़ाकारी होता है। हास्य से चारित्र का भेदन-विनाश होता है। हास्य एक दूसरे के मध्य होता है। और हास्य-हास्य में परस्पर की गुप्त बातें प्रकट हो सकती हैं। एक-दूसरे के गर्हित कर्म प्रकट हो सकते हैं। हास्य करने वाला व्यक्ति कान्दर्पिक और आभियोगिक भाव को प्राप्त होकर वैसी गति का बंध कर सकता है। हँसोड़ा मनुष्य आसुरी एवं किल्विषी भाव को प्राप्तकर वैसे देवों में उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार हास्य को अहितकारी जानकर त्याग करना चाहिए। इससे अन्तरात्मा पवित्र होती है। ऐसे साधक के हाथ, पाँव, नेत्र और मुख संयमित रहते हैं। वह हास्य-त्यागी, शूरवीर, सच्चाई और सरलता से सम्पन्न होता है।

3. तीसरे महाव्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-देव-अदत्त, गुरु-अदत्त, राज-अदत्त, गाथापति-अदत्त, सहधर्मी-अदत्त, इन पाँच अदत्तों में से किसी का अदत्त लिया हो, लिराया हो, लेते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

(1) निर्दोष उपाश्रय-भावना-(1) देवकुल-व्यंतरादि के मंदिर, (2) सभा-जहाँ लोग एकत्रित होकर मंत्रणा करते हैं, (3) प्याऊ, (4) आवस्थ-संन्यासी आदि का मठ, (5) वृक्ष के नीचे, (6) आराम-बगीचा, (7) कन्दरा-गुफा, (8) आकर-खान, (9) पर्वत की गुफा, (10) कर्म-लोहार आदि की शाला-जहाँ लोहे की क्रिया की जाती है, कुम्भकार के स्थान, (11) उद्यान-उपवन, (12) यानशाला-रथ-गाड़ी आदि वाहन के स्थान, (13) कुप्यशाला-घर के बर्तन आदि रखने के स्थान, (14) मण्डप का स्थान या विश्राम स्थान, (15) शून्य घर, (16) श्मशान, (17) लयन-पर्वत की तलहटी में बना हुआ स्थान, (18) आपण-दुकान और इसी प्रकार के अन्य स्थानों जो सचित्त जल, मिट्टी, बीज, हरी वनस्पति और बेइन्द्रियादि त्रस प्राणियों से रहित है। गृहस्थ ने अपने लिए बनाए हो, प्रासुक (निरवद्य) हो, विविक्त (स्त्री, पशु, नपुंसक से रहित हों) और प्रशस्त (निर्दोष एवं शुभ) हो ऐसे उपाश्रय में साधु को ठहरना चाहिए।

इस प्रकार विविक्त-वसति रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा भावित होती है और दुर्गति के कारण ऐसे पाप कर्म करने कराने से निवृत्ति होती है तथा दत्तानुज्ञात (मकान मालिक ने आज्ञा दी है) स्थान की रुचि होती है।

(2) निर्दोष संस्तारक-भावना-आराम, उद्यान, कानन और वन प्रदेश में सूखा घास, कठिन (तृण विशेष) जलाशयोत्पन्न, तृण, परा (तृण विशेष), मेर (मूँज) कूर्च, कुश, डाभ, पलाल, भूयक, यल्कल, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और कंकरादि बिछाने या अन्य कार्य के लिए ग्रहण करना साधु के लिए कल्पनीय नहीं है; जिस स्थल में मुनि ठहरा है, उसमें रहे तृण आदि के ग्रहण करने की भी प्रतिदिन आज्ञा लेनी चाहिए, इस प्रकार 'अवग्रह समिति' का सदैव पालन करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गतिदायक पापकर्मों को करने-कराने से निवृत्त होती है, तथा दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करने की रुचि होती है।

(3) शय्या-परिकर्म-वर्जन-भावना-साधु, पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक के लिए वृक्षों का छेदन नहीं करें और वृक्षों का छेदन-भेदन कराकर शय्या नहीं बनवाये, किन्तु जिस गृहस्थ के उपाश्रय (घर) में साधु ठहरे, वहीं शय्या की गवेषणा करे। यदि वहाँ ठहरने की भूमि विषम (उबड़-खाबड़) हो तो उसे सम (बराबर) नहीं करे। यदि वायु का संचार न हो या अधिक हो तो उत्सुकता (अरुचि) नहीं रखकर समभाव पूर्वक रहे। यदि डांस-मच्छरों का परीषह उत्पन्न हो जाए तो क्षुभित न होकर शान्त रहे। उन डांस मच्छरों का निवारण करने के लिए न तो अग्नि प्रज्वलित करे, न धुआ करे। इस प्रकार निर्दोष चर्या से उस साधु के जीवन में अत्यधिक संयम, विस्तृत संवर कषायों और इन्द्रियों पर विशेष विजय, चित्त में प्रसन्नता एवं शान्ति की बहुलता होती है। वीतराग भाव की वृद्धि करने वाला, धीर, वीर, श्रमण, उत्पन्न परीषहों को अपने शरीर पर झेलता हुआ स्वयं अकेला (रागादि रहित) होकर धर्म का आचरण करें। इस प्रकार सदैव शय्या समिति के योग से (शय्या

परिकर्म वर्जित करने से) अन्तरात्मा विशुद्ध होती है और दुर्गतिदायक कृत्यों के करने, कराने रूप पाप कर्मों से निवृत्ति रहती है। यह प्रशस्त-आत्मा दत्तानुज्ञात आहारादि ग्रहण करने की रुचि वाली होती है।

(4) अनुज्ञात भक्तादि-भावना-साधु का कर्त्तव्य है कि वह गुरु आदि रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त करके ही अशन-पानादि का उपयोग करे। साथ के सभी साधुओं के लिए जो आहारादि सम्मिलित रूप से प्राप्त हुआ है, उसे सभी के साथ समिति एवं शान्ति के साथ खाना चाहिए। खाते समय ध्यान रखना चाहिये जिससे अदत्तादान का पाप नहीं लगे, उस सम्मिलित आहार में से शाकादि स्वयं अधिक न खावे। अपने भाग के आहार से न तो अधिक खाये और न शीघ्रता पूर्वक खाये। असावधानी न रखते हुए सोच समझकर उचित रीति से खावे। सम्मिलित रूप से प्राप्त आहार का संविभाग इस प्रकार करे कि जिससे तीसरे महाव्रत में किसी प्रकार का दोष नहीं लगे। यह अदत्तादान विरमण रूप महाव्रत बड़ा सूक्ष्म है। साधारण रूप से आहार और पात्र का लाभ होने पर समिति पूर्वक आचरण करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गतिदायक कुकृत्यों के करने कराने रूप पाप कर्म से दूर रहती है। वह पवित्रात्मा दत्तानुज्ञात आहारादि ग्रहण करने की रुचि वाली होती है।

(5) साधर्मिक-विनय-भावना-साधर्मिक साधुओं का विनय करे। ज्ञानी, तपस्वी एवं ग्लान साधु का विनय एवं उपकार करने में तत्पर रहे। सूत्र की वाचना तथा परावर्तन करते समय गुरु का वंदन रूप विनय करे। आहारादि दान प्राप्त करने और प्राप्त दान को साधुओं को देने तथा सूत्रार्थ की पुन: पृच्छा करते समय गुरु महाराज की आज्ञा लेने एवं वंदन करने रूप विनय करे। उपाश्रय से बाहर जाते और प्रवेश करते समय आवश्यकी तथा नैषधिकी उच्चारण रूप विनय करे। इस प्रकार अन्य अनेक सैंकड़ों कारणों पर विनय करता रहे। मात्र अनशनादि ही तप नहीं हैं, किन्तु विनय भी तप है। केवल संयम ही धर्म नहीं हैं किन्तु तप भी धर्म है। इसलिए गुरु, साधु और तपस्वियों का विनय करता रहे। इस प्रकार सदैव विनय करते रहने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गति के कारण ऐसे पाप कृत्यों के करने कराने रूप पाप कर्म से रहित होती है, इससे दत्तानुज्ञात को ग्रहण करने की रुचि होती है।

4. चौथे-महाव्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-काम-राग, स्नेह-राग, दृष्टि-राग, देवता-देवी सम्बन्धी, मनुष्य-तिर्यञ्च सम्बन्धी, काम-भोग सेव्या हो, सेवाया हो, सेवते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

(1) विविक्त शयनासन-भावना-जिस स्थान पर स्त्रियों का संसर्ग हो, उस स्थान पर साधु सोवे नहीं, आसन लगाकर बैठे नहीं। जिस घर के द्वार का आँगन अवकाश स्थान (छत आदि), गवाक्ष (गोख) आदि शाला अभिलोकन दूरस्थ वस्तु देखने का स्थान, पीछे का द्वार या पीछे का घर, शृङ्गार गृह और स्थान पर बैठकर स्त्रियाँ मोह, द्वेष, रति और राग बढ़ाने वाली अनेक प्रकार की बातें करती हो, ऐसी कथा कहानियाँ कहती हों और जिन स्थानों पर वेश्याएँ बैठती हों, उन स्थानों को वर्जित करें क्योंकि वे स्थान स्त्रियों के संसर्ग

से संक्लिष्ट होने से दोषोत्पत्ति के कारण हैं। ऐसे अन्य सभी स्थानों का साधु त्याग कर दे। जहाँ रहने से मन में भ्रान्ति उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य क्षति युक्त हो; ब्रह्मचर्य देशत: या सर्वत: नष्ट हो, आर्त्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न हो, उन सभी स्थानों का त्याग करे। ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले ये स्थान कुशील रूप पाप से डरने वाले साधु के लिए रहने योग्य नहीं है। इसलिये साधु-अन्तप्रान्त आवास-अन्त-इन्द्रियों के प्रतिकूल पर्णकुटी आदि, प्रान्त-शून्य गृह (श्मशानादि) रूप, ऐसे निर्दोष स्थान में रहे। इस प्रकार स्त्री और नपुंसक के संसर्ग रहित स्थान में रहने रूप समिति के पालन से अन्तरात्मा पवित्र होती है। जो साधु ब्रह्मचर्य के निर्दोष पालन में तत्पर होकर इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त रहता है, वह जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचर्य गुप्त कहलाता है।

(2) स्त्रीकथा-वर्जन-भावना-स्त्रियों के मध्य बैठकर विविध प्रकार की कथा वार्त्ता नहीं कहना, विब्बोय (स्त्रियों की कामुक चेष्टा), विलास (स्मित-कटाक्षादि), हास्य और शृङ्गार युक्त लौकिक कथा नहीं कहे। ऐसी कथाएँ मोह उत्पन्न करती हैं। वर-वधू सम्बन्धी रसीली बातें और स्त्रियों के सौभाग्य, दुर्भाग्य के वर्णन भी नहीं करना चाहिये। कामशास्त्र वर्णित महिलाओं के 64 गुण उनके वर्ण, गंध, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नैपथ्य (वेशभूषा) और परिजन सम्बन्धी वर्णन भी नहीं करना चाहिए। स्त्रियों के शृङ्गार, करुणाजन्य विलाप आदि तथा इसी प्रकार अन्य मोहोत्पादक कथा भी नहीं करनी चाहिये। ऐसी कथाएँ तप, संयम, ब्रह्मचर्य की घात और उपघात करने वाली होती हैं। ऐसी कथा कहना सुनना निषिद्ध है। मन में भी इस प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री सम्बन्धी कथा से निवृत्त रहने रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा पवित्र रहती है। इस प्रकार निर्दोषता पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालक साधु इन्द्रियों के विषयों से विरत रहकर जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है।

(3) स्त्री-रूप-दर्शनत्याग-भावना-ब्रह्मचारी पुरुष स्त्रियों की हास्य मुद्रा, रागवर्धक वचन, विकारोत्पादक चेष्टा, कटाक्षयुक्त दृष्टि, चाल, विलास (हाव-भाव) क्रीड़ा, कामोत्पादक शृंगारिक चेष्टाएँ, नाच, गीत, वाद्य, शरीर का गठन एवं निखार, वर्ण (रंग), हाथ, पाँव, आँखें, लावण्य, रूप, यौवन, पयोधर, ओष्ठ, वस्त्र और आभूषण आदि से की हुई शरीर की शोभा और जंघा आदि गुप्त अंग तथा इसी प्रकार के अन्य दृश्य नहीं देखे। इन्हें देखने की चेष्टा तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात एवं उपघात करने वाली हैं और पाप कर्म युक्त है। ब्रह्मचर्य के पालक को स्त्रियों के रूप आदि का मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। न आँखों से देखना चाहिये और न वचन से रूप आदि का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार स्त्रियों के रूप-दर्शन-त्याग रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। वह साधु मैथुन से निवृत्त एवं इन्द्रिय लोलुपता से रहित होकर जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है।

(4) पूर्वभोग-चिन्तन-त्याग-भावना-गृहस्थ अवस्था में भोगे हुए काम भोग और की हुई क्रीड़ा तथा मोहक सम्बन्ध स्त्री, पुत्र आदि के स्नेहादि का स्मरण चिन्तन न करे। इन रूप से पूर्वावस्था के काम

भोगों का स्मरण नहीं करने रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। ऐसा साधक इन्द्रियों के विकारों से रहित, जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है। साधु के लिए स्त्री सम्बन्धी बातों का वर्जन किया गया है। साध्वी के लिए ये ही सब पुरुष सम्बन्धी बातें वर्जित करनी चाहिए।

(5) स्निग्ध-सरसभोजन-त्याग-भावना-जो आहार घृतादि स्निग्ध पदार्थों से पूर्ण हो, जिसमें रस टपकता हो, ऐसे विकार वर्धक आहार का त्याग करना चाहिए। खीर, दही, दूध, मक्खन, तिल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु आदि मिष्ठान्नों का नित्य आहार करने से शरीर में विकार उत्पन्न होता है। इसलिए ऐसे प्रणीत रस का त्याग करना चाहिये। जिस आहार के खाने से दर्प-विकार उत्पन्न हो और वृद्धि हो उसका नित्य सेवन न करे, न दिन में ही अधिक बार भोजन करे तथा शाक, दाल आदि का भी अधिक सेवन न करे। न प्रमाण से अधिक खावे। साधु उतना ही भोजन करे, जितने से उसकी संयम यात्रा का निर्वाह हो, चित्त में विभ्रम न हो और धर्म-भ्रष्ट भी नहीं हो। सरस आहार के त्याग रूप इस समिति का पालन करने से साधक की अन्तरात्मा, प्रभावित होती है। वह मैथुन विरत मुनिजन्य विकारों से रहित, जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मचर्य गुप्ति का पालक हो। साधु मद्य-मांस का तो सर्वथा त्यागी ही होता है।

5. पाँचवें-महाव्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-सचित्त-परिग्रह, अचित्त-परिग्रह, मिश्र-परिग्रह, भला (अच्छा) शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श पर राग, बुरे पर द्वेष किया हो, कराया हो, करते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

(1) श्रोत्रेन्द्रिय-संयम-भावना-प्रिय एवं मनोरम शब्द सुनकर उनमें राग नहीं करना चाहिये। वे मनोरम शब्द कैसे हैं? लोगों में बजाए जाने वाले मृदंग, पणव, दर्दुर, कच्छपी, वीणा, विपंची, वल्लकी, सुघोषा, नन्दी, उत्तम स्वर वाली परिवादिनी बंशी, तूणक, पर्वक, तंती, तलताल इन वाद्यों की ध्वनि, इनके निर्घोष और गीत सुनकर उन पर राग न करे तथा नट, नर्तक, रस्सी पर किए जाने वाले नृत्य, मल्ल, मुष्टिक (मुक्के से लड़ने वाले), आख्यायक (कहानी सुनाने वाले), खेल (बास पर खेलने वाले), मंख (चित्रपट बनाने वाले), तूण हल्ल, तूम्ब वीणिक व तालाचार से किये जाने वाले अनेक प्रकार के मधुर स्वर वाले गीत सुनकर आसक्त नहीं बने।

काँची, मेखला, प्रतारक, कलापक, मनोहर, घण्टिका, किंकिणी, पाचनालक, रत्नजालक, मुद्रिका, नूपुर, चरणमालिका और जाल की शब्द ध्वनि सुनकर तथा लीला पूर्वक गमन करती हुई युवतियों के आभूषणों के टकराने से उत्पन्न ध्वनि, तरुणियों के हास्य, वचन, मधुर एवं मंजुल कण्ठ स्वर, प्रशंसा युक्त मीठे वचन और ऐसे ही अन्य मोदक शब्द सुनकर साधु आसक्त नहीं बने, रञ्जित नहीं होवे, गृद्ध एवं मूर्च्छित नहीं बने, स्व पर घातक नहीं होवे, लुब्ध और प्राप्ति पर तुष्ट नहीं होवे, न हँसे और उसका स्मरण तथा विचार भी न करें।

इस प्रकार कानों से अरुचिकर लगने वाले अशुभ शब्द सुनाई दे तो द्वेष न करे। वे कटु लगने वाले शब्द कैसे हैं ? आक्रोशकारी, कठोर, निन्दा युक्त, अपरटन (जोर से रोने रूप), आक्रन्दकारी, निर्घोष रसित (सूअर की बोली समान) शब्द सुनाई देने पर साधु को रुष्ट नहीं होना चाहिए। ऐसे अप्रिय शब्द यह श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी भावना है। इस भावना का यथातथ्य पालन करने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। शब्द मनोज्ञ या अमनोज्ञ, शुभ का अशुभ सुनाई दे उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करने वाला संवृत्त साधु मन, वचन और काया से गुप्त होकर इन्द्रियों का निग्रह करता हुआ दृढ़ता पूर्वक धर्म का आचरण करे।

(2) चक्षुइन्द्रिय-संयम-भावना-सचित्त स्त्री, पुरुष, बालक और पशु-पक्षी आदि; अचित्त-भवन, वस्त्राभूषण एवं चित्रादि; मिश्र-वस्त्राभूषणयुक्त पुरुषादि के मनोरम तथा आह्लादकारी रूप आँखों से देखकर उन पर अनुराग न लावें। काष्ट, वस्त्र और लेप से बनाए हुए चित्र, पाषाण, हाथी दाँत की बनाई हुई पाँच वर्ण और अनेक आकार युक्त मूर्तियाँ देखकर मोहित नहीं बने। इसी प्रकार गूँथी हुई मालाएँ, वेष्टित किए हुए गेंद आदि, चपड़ी लाख आदि भरकर एक-दूसरे से जोड़कर समूह रूप से बनाए हुए गजरे आदि और विविध प्रकार की मालाएँ देखकर राजी न हो, मन एवं नेत्र को अत्यन्त प्रिय एवं सुखकर लगने वाले वनखण्ड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर, छोटे जलाशय, पुष्करिणी, बावड़ी, दीर्घिका, गुंजालिका, सरोवर की पंक्ति, सागर, धातुओं की खानों की पंक्तियाँ, खाई, नदी, सरोवर, तालाब और नहर आदि उत्पल कमल, पद्म कमल आदि विकसित एवं सुशोभित पुष्प जिन पर अनेक प्रकार के पक्षियों के जोड़े क्रीड़ा करते हैं, सजे हुए मंडप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य, देवाकुल, सभा, प्याऊ, मठ, सुन्दर शयन, आसन आदि पालकी, रथ, शकट, यान, युग्य, स्पन्दन, स्त्री, पुरुषों का समूह जो अलंकृत एवं विभूषित हो। सौम्य एवं दर्शनीय हो व पूर्वकृत तप के प्रभाव से सौभाग्यशाली तथा आकर्षित हो, जन मान्य हों, इन सबको देखकर साधु उनमें आसक्त नहीं बने। इसी प्रकार नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडम्बक, कथक, तलतल, लासक, आख्यायक, लंख, मंख, तूण इल्ल, तुम्बबीणक और तालाचार आदि अनेक प्रकार के मनोहर खेल करने वाले और इसी प्रकार के अन्य मनोहारी रूप देखकर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिये यावत् उन रूपों का स्मरण एवं चिन्तन भी नहीं करना चाहिए।

मन को बुरे लगने वाले अशुभ दृश्यों को देखकर मन में द्वेष न लावे, वे अप्रिय रूप कैसे हैं ? गण्डमाल का रोगी, कोढ़ी, कटे हुए हाथ वाला या जिसका एक हाथ या एक पाँव छोटा हो, जलोदरादि उदर रोग हो, कुबड़ा, बौना, लँगड़ा, जन्मान्ध, काना, सर्पि रोग वाला, शूल रोगी, इन व्याधियों से पीड़ित, विकृत शरीरी, मृतक शरीर जो सड़ गया हो, जिसमें कीड़े कुलबुला रहे हो और घृणित वस्तु का ढेर तथा ऐसे अन्य प्रकार के अमनोज्ञ पदार्थों को देखकर, साधु उनसे द्वेष न करे यावत् घृणा न लावे। इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय सम्बन्धी भावना से अपनी अन्तरात्मा को प्रभावित करता हुआ पवित्र रखता हुआ धर्म का आचरण करता रहे।

(3) घ्राणेन्द्रिय-संयम-भावना-तीसरी भावना घ्राणेन्द्रिय संवर है। मनोहर उत्तम सुगन्धों में आसक्त नहीं होना चाहिये। वे सुगन्ध कौनसे हैं ? जल और स्थल में उत्पन्न सरस पुष्प, फल, भोजन, पानी, कमल का पराग, तगर, तमाल पत्र, छाल, दमनक, मरुआ, इलायची, गोशीर्ष नामक सरस चन्दन, कपूर, लोंग, अगर, कुंकुम (केसर), कक्कोल, वीरण (खस), श्वेत चन्दन (मलय चन्दन), उत्तम गन्ध वाले पदार्थों के मिश्रण से बने हुए, धूप की सुगन्ध, ऋतु के अनुसार उत्पन्न पुष्प जिनकी गंध दूर तक फैलती है। इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एवं श्रेष्ठ गंध वाले पदार्थों की गन्ध पर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिये यावत् उन गन्धों का स्मरण एवं चिन्तन भी नहीं करना चाहिये।

घ्राणेन्द्रिय से अप्रिय लगने वाली दुर्गन्ध के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिये। वे दुर्गन्धित पदार्थ कैसे हैं ? मरे हुए सर्प का कलेवर, मरा हुआ घोड़ा, हाथी, बैल, भेड़िया, कुत्ता, शृगाल, मनुष्य, बिल्ली, सिंह, चीता आदि के शव सड़ गए हों, इनमें कीड़े पड़ गए हों, जिनकी दुर्गन्ध अत्यन्त असह्य एवं दूर तक फैली हो और अन्य भी दुर्गन्धमय पदार्थों की गंध प्राप्त होने पर साधु उस पर द्वेष नहीं करे यावत् अपनी घ्राणेन्द्रिय को वश में रखता हुआ धर्म का आचरण करे।

(4) रसनेन्द्रिय-संयम-भावना-साधु रसनेन्द्रिय द्वारा मन भावते एवं उत्तम रसों का आस्वादन करके आसक्त नहीं बने। वे रस कौनसे हैं ? घृत में तलकर बनाये गए घेवर, खाजा आदि और विविध प्रकार के भोजन पान, गुड़ और शक्कर से बनाए हुए तिलपट्टी, लड्डू, मालपुआ आदि भोज्य पदार्थों में, अनेक प्रकार के लवण युक्त (नमकीन, मसालेदार) वस्तुओं में और भी 18 प्रकार के शाक और विविध प्रकार के भोजन में तथा वे द्रव्य जिनका वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श उत्तम हैं और उत्तम वस्तुओं के योग से संस्कारित किए गए हैं, इस प्रकार के सभी उत्तम एवं मनोज्ञ रसों में साधु आसक्त नहीं, यावत्, उनका स्मरण चिन्तन नहीं करे।

रसनेन्द्रिय के द्वारा अमनोज्ञ-अरुचिकर बुरे रसों का आस्वाद लेकर उनमें द्वेष न करे। वे अनिच्छनीय रस कैसे हैं ? अरस, विरस, शीत (ठंडा), रूक्ष और निस्सार आहार पानी विकृत रसवाला, सड़ा हुआ बिगड़ा हुआ, घृणित, अत्यन्त विकृत बना हुआ जिससे अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही है ऐसा तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और अत्यन्त नीरस आहार पानी और इसी प्रकार के अन्य घृणित रसों पर साधु द्वेष नहीं करे, दुष्ट नहीं होवे और रसना पर संयम रखकर धर्म का पालन करे।

(5) स्पर्शेन्द्रिय-संयम-भावना-साधु स्पर्शेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुखदायक स्पर्शों का स्पर्शकर उनमें आसक्त नहीं बने। वे मनोज्ञ स्पर्श वाले द्रव्य कौन से हैं ? जिनमें से जल कण बरस रहे हैं ऐसे मंडप (फव्वारा युक्त), हार (मालाएँ), श्वेत चन्दन, निर्मल शीतल जल, विविध प्रकार के फूलों की शय्या, खरे मोतियों की माला, कमल की नाल इनका स्पर्श करना, रात्रि में निर्मल चाँदनी में बैठकर, सोकर या विचरण

कर सुखानुभव करना, ग्रीष्मकाल में मयूर पंख का और ताड़पत्र का पंखा झलकर शीतल वायु का सेवन करना और कोमल स्पर्श वाले वस्त्र, बिछौने और आसन का उपयोग करना। शीतकाल में उष्णता उत्पन्न करने वाले वस्त्र, शाल दुशाले आदि ओढ़ने तथा अग्नि के ताप या सूर्य के ताप का सेवन करना तथा ऋतुओं के अनुसार स्निग्ध, मृदु, शीतल, उष्ण, लघु आदि सुखदायक पदार्थों का और इसी प्रकार के अन्य सुखद स्पर्शों का अनुभव करके आसक्त नहीं होना चाहिये। अनुरक्त, लुब्ध, गृद्ध एवं मूर्च्छित भी नहीं होना चाहिए और उन स्पर्शों को प्राप्त करने की चिन्ता तथा प्राप्ति पर प्रसन्न, तुष्ट एवं हर्षित नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं इन्हें प्राप्त करने का विचार अथवा पूर्व प्राप्त का स्मरण भी नहीं करना चाहिये।

मनोज्ञ स्पर्श की रुचि, आसक्ति एवं लुब्धता का निषेध किया जा रहा है। साधु स्पर्शेन्द्रिय से अमनोज्ञ और दु:खदायक स्पर्शों का स्पर्श कर उनमें द्वेष न करे। वे अमनोज्ञ स्पर्श कौनसे हैं ? विविध प्रकार से कोई वध करे, रस्सी आदि से बाँधे, थप्पड़ आदि मारकर ताड़ना करे, उष्ण लोह शलाका से दाग कर अंग पर चिह्न बनावे, शक्ति से अधिक भार लादे, अंगों को तोड़े-मरोड़े, नखों से सुई चुभावे, शरीर को छीले, उबलता हुआ लाख का रस, क्षार युक्त तेल, राँगा, शीशा व तपा लोह रस से अंग सिंचन करे। हड्डी-बन्धन (खोड़े में पाँव फँसाकर बन्दी बनावे), रस्सी या बेड़ी से बाँधे, हाथों में हथकड़ी डाले, कुम्भी में पकावे, अग्नि में जलावे, सिंह पुच्छन उदबन्धन-वृक्ष आदि पर बाँधकर लटकावें, शूल भोंके या शूली पर चढ़ावे, हाथी के पैरों में डालकर कुचले, हाथ, पाँव, कान, नासिका और मस्तक का छेदन करे। जीभ उखाड़ ले, नेत्र, हृदय और दाँतों को उखाड़ दे, चाबुक, बेंत या लता से प्रहार करे, पाँव, एड़ी, घुटना और जानु आदि पर पत्थर से प्रहार करे, कोल्हू आदि में डालकर पीले, करेंच फल के बूर या अन्य साधन से तीव्र रूप से खुजली उत्पन्न करे। आग में तपावे या जलावे, बिच्छु के डंक लगवावे, वायु, धूप, डांस, मच्छर आदि से होने वाले कष्ट, उबड़-खाबड़ शय्या एवं आसन तथा अत्यन्त कठोर, भारी, शीत, उष्ण, रुक्ष और इस प्रकार के अन्य अनिच्छनीय एवं दु:खदायक स्पर्श होने पर साधु को उन पर द्वेष नहीं करना चाहिए। हीलना, निन्दा, गर्हा व खींसना नहीं करनी चाहिये। क्रोधित होकर उनका छेदन, भेदन और वध नहीं करना चाहिये, उन पर घृणा नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी भावना से भावित आत्मा वाला साधु निर्मल होता है, उसका चारित्र विशुद्ध रहता है। मनोज्ञ या अमनोज्ञ, सुगन्धित या दुर्गन्धित पदार्थों में आत्मा को राग द्वेष रहित रखता हुआ साधु मन, वचन और काया से गुप्त एवं संवृत रहे और जितेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करे।

छठे-रात्रि भोजन विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-अशन, पान, खादिम, स्वादिम, संद (चिकनाई), गंध, सीत मात्र (कण मात्र), रात बासी रखा हो, रखाया हो, रखते हुए को भला जाना हो, दिवस सम्बन्धी कोई पाप-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

समुच्चय का पाठ

मूलगुण 5 महाव्रत के विषय, उत्तरगुण 10 प्रत्याख्यान आदि के विषय, 33 आशातना के विषय, 5 महाव्रत की 25 भावना के विषय, 5 संलेखना के विषय, इनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

अठारह पापस्थान

मूल- **अठारह पापस्थान आलोउं-1. प्राणातिपात, 2. मृषावाद, 3. अदत्तादान, 4. मैथुन, 5. परिग्रह, 6. क्रोध, 7. मान, 8. माया, 9. लोभ, 10. राग, 11. द्वेष, 12. कलह, 13. अभ्याख्यान, 14. पैशुन्य, 15. परपरिवाद, 16. रति-अरति, 17. माया-मृषावाद, 18. मिथ्यादर्शन शल्य, इन 18 पापस्थानों में से किसी का सेवन किया हो, सेवन कराया हो, सेवन करते हुए को भला जाना हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की साक्षी से जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।**

अन्वयार्थ-प्राणातिपात = प्रमत्त योगों से प्राणों की हिंसा करना। **मृषावाद** = असत्य, झूठ बोलना। **अदत्तादान** = चोरी (बिना दिए ग्रहण करना)। **मैथुन** = अब्रह्मचर्य, कुशील का सेवन करना। **परिग्रह** = मूर्च्छा, ममत्व रखना। **क्रोध** = रोष, गुस्सा करना। **मान** = अहंकार, घमण्ड करना। **माया** = छल, कपट करना। **लोभ** = लालच, तृष्णा रखना (अप्राप्त वस्तु की इच्छा रखना लोभ, प्राप्त वस्तु पर ममत्व रखना परिग्रह है)। **राग** = माया और लोभजन्य आत्मा का वैभाविक परिणाम। **द्वेष** = क्रोध और मानजन्य आत्मा का वैभाविक परिणाम। **कलह** = क्लेश, झगड़ा करना। **अभ्याख्यान** = झूठा कलंक लगाना। **पैशुन्य** = दूसरों की चुगली करना, दोष प्रकट करना। **परपरिवाद** = दूसरों की निन्दा करना। **रति = अरति** = बुरे कार्यों में चित्त का लगाना रति है और संयम आदि में चित्त नहीं लगाना अरति है। **मायामृषावाद** = कपट सहित झूठ बोलना। **मिथ्यादर्शन शल्य** = कुदेव, कुगुरु, कुधर्म (कुशास्त्र) पर श्रद्धा करना अर्थात् विपरीत श्रद्धा करना।

अरिहन्त-पद-भाव-वन्दना

पहले पद 'णमो अरिहंताणं' श्री अरिहंत भगवान, जघन्य बीस तीर्थङ्कर जी उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सित्तर देवाधिदेव जी उनमें वर्तमान काल में बीस विहरमानजी[1] महाविदेह क्षेत्र में विचरते हैं। एक हजार आठ लक्षण के धरणहार, चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी कर के विराजमान, चौसठ इन्द्रों के वन्दनीय, पूजनीय, अठारह दोष रहित, बारह गुण सहित (1) अनन्त ज्ञान, (2) अनन्त दर्शन, (3) अनन्त चारित्र, (4) अनन्त बल वीर्य, (5) दिव्य ध्वनि, (6) भामण्डल, (7) स्फटिक सिंहासन, (8) अशोक वृक्ष, (9) कुसुम वृष्टि, (10) देव-दुन्दुभि, (11) छत्र धरावें, (12) चँवर बिजावें, पुरुषाकार पराक्रम के धरणहार, ऐसे अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरते हैं। जघन्य दो क्रोड़ केवली उत्कृष्ट नव क्रोड़ केवली, केवल ज्ञान, केवल दर्शन के धरणहार, सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के जाननहार हैं।

ऐसे श्री अरिहन्त भगवान, दीन दयाल महाराज, आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे अरिहन्त

भगवान! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिये, मैं हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से 1008 बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, आप उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, पर भव, भव भव में सदाकाल शरण होवे।

अरिहन्त भगवान के 12 गुण-इन 12 गुणों में से अनन्त चतुष्ट चार घाति कर्मों के क्षय से प्राप्त होते हैं और शेष 8 देवकृत होते हैं। जिन्हें अष्ट महाप्रतिहार्य कहते हैं।

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-र्दिव्यध्वनिश्चामयसनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रतिहार्याणि जिनेश्वराणाम्।।

अनन्त ज्ञान-केवलज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से।

अनन्त दर्शन-केवलदर्शन-दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से।

अनन्त चारित्र-क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र।

---

1. 1. श्री सीमंधर स्वामी जी, 2. श्री युगमन्धर स्वामी जी, 3. श्री बाहु स्वामी जी, 4. श्री सुबाहु स्वामी जी, 5. श्री सुजात स्वामी जी, 6. श्री स्वयंप्रभ स्वामी जी, 7. श्री ऋषभानन स्वामी जी, 8. श्री अनन्तवीर्य स्वामी जी, 9. श्री सूरप्रभ स्वामी जी, 10. श्री विशालधर स्वामी जी, 11. श्री वज्रधर स्वामी जी, 12. श्री चन्द्रानन स्वामी जी, 13. श्री चन्द्रबाहु स्वामी जी, 14. श्री भुजंग स्वामी जी, 15. श्री ईश्वर स्वामी जी, 16. श्री नेमप्रभ स्वामी जी, 17. श्री वीरसेन स्वामी जी, 18. श्री महाभद्र स्वामी जी, 19. श्री देवयश स्वामी जी, 20. अजितवीर्य स्वामी जी।

अनन्त बलवीर्य–अनन्त आत्म सामर्थ्य यह अन्तराय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है।

दिव्य ध्वनि–तीर्थङ्कर भगवान की वाणी एक योजन तक सुनाई देती है और सभी प्राणियों के लिए उनकी भाषा में परिणमती है।

भामण्डल–सूर्य से भी अधिक प्रकाश के समान चारों ओर प्रकाश का आवरण।

स्फटिक सिंहासन–जिस पर तीर्थङ्कर (समवसरण में) विराजते हैं।

देवदुन्दुभि–जिसे देवता आकाश से बजाते हैं।

कुसुमवृष्टि–देवकृत अचित्त पुष्पों की वर्षा होती है।

छत्र–भगवान के एक के ऊपर एक ऐसे 3 छत्र होते हैं जो भगवान को 3 लोक का नाथ होना सूचित करते हैं।

दो चामर–जिसे देव दोनों ओर से बींजते हैं।

अठारह दोष–

पंचन्तराया मिच्छत्त-मन्नाणमविरइ कामो।
हास छग राग दोसा, णिद्दा अट्ठारस इमे दोसा।।

(1) दानान्तराय, (2) लाभान्तराय, (3) भोगान्तराय, (4) उपभोगान्तराय, (5) वीर्यान्तराय, (6) मिथ्यात्व, (7) अज्ञान, (8) अविरति, (9) काम, (10) हास्य, (11) रति, (12) अरति, (13) भय, (14) शोक, (15) जुगुप्सा, (16) राग, (17) द्वेष और (18) निद्रा। अरिहन्त भगवान इन 18 दोषों से रहित होते हैं।

चौंतीस अतिशय–तीर्थङ्करों के अतिशय (अति शेष) चौंतीस हैं, वे इस प्रकार–(1) उनके शरीर के केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम और नख अवस्थित रहते हैं न बढ़ते है, न घटते हैं। (2) उनका शरीर रोग रहित और निरूपलेप (रज और स्वेद रहित) होता है। (3) उनका माँस शोणित दूध की तरह पाण्डुर (सफेद) होता है। (4) उनके उच्छ्वास और नि:श्वास कमल और नीलोत्पल की तरह सुगन्धित होते हैं। (5) उनका आहार और निहार दोनों प्रच्छन्न होते हैं, माँस (चर्म) चक्षु द्वारा दृष्ट नहीं होते। छद्मस्थों को दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। (6) उनके आगे-आगे आकाश में धर्म चक्र चलता है। (7) उनके ऊपर आकाशगत छत्र होता है। (8) उनके प्रकाशमय श्वेतवर चामर ढुलते हैं। (9) उनके आकाश जैसा स्वच्छ स्फटिकमय पादपीठ सहित सिंहासन होता है। (10) उनके आगे-आगे आकाश में हजारों लघु पताकाओं से शोभित इन्द्रध्वज चलता है। (11) जहाँ-जहाँ अरिहन्त भगवन्त ठहरते हैं, बैठते हैं, वहाँ-वहाँ तत्क्षण पत्रों से भरा हुआ और पल्लव से युक्त छत्र, ध्वजा, घंटा और पताका सहित अशोक वृक्ष प्रकट हो जाता है। (12) मस्तक के कुछ पीछे

तेजमंडल (भामंडल) होता है। वह अन्धकार में भी दसों दिशाओं को प्रकाशित करता है। (13) उनके विचरने का भूमि भाग सम और रमणीय हो जाता है। (14) कण्टक अधोमुख हो जाते हैं। (15) ऋतुएँ अनुकूल और सुखदायी हो जाती है। (16) शीतल, सुखद और सुगन्धित वायु योजन प्रमाण भूमि का चारों ओर से प्रमार्जन करती है। (17) छोटी फुँआर वाली वर्षा द्वारा रज (आकाशवर्ती) और रेणु (भूवर्ती) का शमन हो जाता है। (18) जल और स्थल में उत्पन्न हुए हों, ऐसे 5 वर्ण के अचित्त फूलों की घुटने प्रमाण वर्षा होती है। फूलों के डंठल सदा नीचे की ओर रहते हैं। (19) अमनोज्ञ शब्द, रूप, गन्ध स्पर्श, का अपकर्ष (अभाव) होता है। (20) मनोज्ञ शब्द, रूप, स्पर्श, गन्ध का प्रादुर्भाव होता है।

(21) प्रवचन काल में उनका स्वर हृदय स्पर्शी और योजन गामी होता है। (22) भगवान अर्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते हैं। (23) उनके मुख से निकली हुई अर्धमागधी भाषा सुनने वाले आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग (वन्य पशु), पशु (ग्राम्य पशु), पक्षी, सरीसर्प आदि को अपनी हित, शिव और सुखद भाषा में परिणत हो जाती है। (24) पूर्वबद्ध वैर वाले देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड़, गन्धर्व और महोरग अर्हन्त के पास प्रशान्त चित्त और प्रशान्त मन वाले होकर धर्म सुनते हैं। (25) अन्य तीर्थिक प्रावचनिक भी पास में आने पर भगवान को वन्दना करते हैं। (26) तीर्थङ्कर देव के सन्मुख वे निरुत्तर हो जाते हैं। (27) तीर्थङ्कर भगवान जहाँ-जहाँ विहार करते हैं वहाँ-वहाँ 25 योजन में ईति (धान्य आदि का उपद्रव हेतु) नहीं होती। (28) मारी (हैजा, प्लेग) नहीं होती। (29) स्वचक्र (अपनी सेना का उपद्रव) नहीं होता। (30) परचक्र (दूसरे राज्य की सेना से होने वाला उपद्रव) नहीं होता।

(31) अतिवृष्टि नहीं होती। (32) अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) नहीं होता। (33) दुर्भिक्ष (दुष्काल) नहीं होता। (34) पूर्व उत्पन्न उत्पात और व्याधियाँ शीघ्र ही उपशान्त हो जाती हैं।

(समवायाङ्ग सूत्र 34वाँ समवाय) टीका में लिखा है कि 2, 3, 4, 5 ये चार अतिशय जन्मजात होते हैं। बारहवाँ (भामण्डल) तथा 21वें अतिशय से 34वें अतिशय तक के ये 15 घातीकर्म के क्षय से उत्पन्न होते हैं। शेष अतिशय (पहला और 6 से 11 तथा 13 से 20) देवकृत होते हैं।

पैतीस सत्यवचनातिशय–तीर्थङ्कर देव की वाणी सत्य वचन के अतिशयों से सम्पन्न होती है। सत्य वचन के 35 अतिशय हैं। सूत्रों में संख्या मात्र का उल्लेख मिलता है। टीका में उन अतिशयों के नाम तथा उनकी व्याख्या है। यहाँ टीका के अनुसार ये अतिशय लिखे जाते हैं–

शब्द सम्बन्धी अतिशय–(1) संस्कारत्व-संस्कृत आदि गुणों से युक्त होना अर्थात् वाणी का भाषा और व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होना। (2) उदात्तत्व-उदात्त स्वर अर्थात् स्वर का ऊँचा होना। (3) उपचारोपेतत्व-ग्राम्य दोषों से रहित होना। (4) गम्भीर शब्दता-मेघ की तरह आवाज में गम्भीरता होना। (5) अनुनादित्व-आवाज का प्रतिध्वनि सहित होना। (6) दक्षिणत्व-भाषा में सरलता होना। (7)

उपनीतरागत्व–मालव, कोशिकादि ग्रामराग से युक्त होना अथवा स्वर में ऐसी विशेषता होना कि श्रोताओं में व्याख्येय विषय के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न हो।

अर्थ सम्बन्धी अतिशय–(8) महार्थत्व–अभिधेय अर्थ में प्रधानता एवं परिपुष्टता का होना, थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ कहना। (9) अव्याहत पौर्वापर्यत्व–वचनों पर पूर्वापर विरोध न होना। (10) शिष्टत्व–अभिमत सिद्धान्त का कथन करना अथवा वक्ता की शिष्टता सूचित हो, ऐसा अर्थ कहना। (11) असन्दिग्धत्व–अभिमत वस्तु का स्पष्टता पूर्वक कथन करना कि श्रोता के दिल में सन्देह न रहे। (12) अपहृतान्योत्तरत्व–वचन का दूषण रहित होना व इसलिए शंका समाधान का मौका न आने देना। (13) हृदयग्राहित्व–वाच्य अर्थ को इस ढंग से कहना कि श्रोता का मन आकृष्ट हो एवं वह कठिन विषय भी सहज ही समझ जाय। (14) देशकालव्यतीतत्व–देश काल के अनुरूप अर्थ कहना। (15) तत्वानुरूपत्व–विवक्षित वस्तु का जो स्वरूप हो उसी के अनुसार उसका व्याख्यान करना। (16) अप्रकीर्ण प्रसृतत्व–प्रकृत वस्तु का उचित विस्तार के साथ व्याख्यान करना अथवा असम्बद्ध अर्थ का कथन न करना एवं सम्बद्ध अर्थ का भी अत्यधिक विस्तार न करना। (17) अन्योन्यप्रगृहीतत्व–पद और वाक्यों का सापेक्ष होना। (18) अतिजातत्व–भूमिकानुसार विषय और वक्ता का होना। (19) अतिस्निग्धमधुरत्व–भूखे व्यक्ति को जैसे घी, गुड़ आदि परम सुखकारी होते हैं। उसी प्रकार स्नेह एवं माधुर्य परिपूर्ण वाणी का श्रोता के लिए सुखकारी होना। (20) अपरमर्मवेधित्व–दूसरे के मर्म (रहस्य) का प्रकाश न होना। (21) अर्थधर्माभ्यनपेतत्व–मोक्ष रूप अर्थ एवं श्रुत चारित्र रूप धर्म से सम्बद्ध होना। (23) उदारत्व–प्रतिपाद्य अर्थ का महान् होना अथवा शब्द और अर्थ की विशिष्ट रचना होना। (23) परनिन्दात्मोत्कर्ष–विप्रयुक्तत्व–दूसरे की निन्दा एवं आत्म प्रशंसा से रहित होना। (24) उपघतश्लाघत्व–वचन में उपर्युक्त (परनिन्दात्मोत्कर्ष विप्रयुक्त्व) गुण होने से वक्ता की श्लाघा–प्रशंसा होना। (25) अनपनीतत्व–कारक, काल, वचन, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोषों का न होना। (26) उत्पादिताविच्छिन्न–कुतूहलत्व–श्रोताओं में वक्ता विषयक निरन्तर कुतूहल बने रहना। (27) अद्भुतत्व–वचनों के अश्रुत पूर्व होने के कारण श्रोता के दिल में हर्ष रूप विस्मय का बने रहना। (28) अनतिविलम्बितत्व–विलंब रहित होना। (29) विभ्रमविक्षेपकिलिकिंचितादि–विप्रयुक्तत्व वक्ता के मन में भ्रान्ति होना विभ्रम है। प्रतिपाद्य विषय में मन न लगना विक्षेप है। रोष, भय, लोभ आदि भावों के सम्मिश्रण को किलिकिंचित् कहते हैं। इनसे तथा मन के दोषों से रहित होना। (30) विचित्रत्व–वर्णनीय वस्तु विविध प्रकार की होने के कारण वाणी में विचित्रता होना। (31) आहितविशेषत्व–दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा वचनों में विशेषता होने के कारण श्रोता को विशिष्ट बुद्धि प्राप्त होना। (33) सत्त्वपरिगृहीतत्व–भाषा का ओजस्वी प्रभावशाली होना। (34) अपरिखेदितत्व–उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न करना। (35) अव्युच्छेदित्व–जो तत्त्व समझना चाहते हैं उनकी सम्यक् प्रकार से सिद्धि न हो तब तक बिना व्यवधान के उसका व्याख्यान करते रहना।

उत्कृष्ट तीर्थङ्कर–जघन्य 20 तीर्थङ्कर उत्कृष्ट 160 तथा 170 होते हैं। एक महाविदेह में 32 विजय है। उनमें से प्रत्येक 8 विजय में कम से कम एक तीर्थङ्कर होते ही हैं, अत: एक महाविदेह में जघन्य 4 तीर्थङ्कर होते हैं। 5 महाविदेह की अपेक्षा 20 तीर्थङ्कर होते हैं। जब प्रत्येक विजय में एक-एक तीर्थङ्कर हो जाय तो कुल 160 तीर्थङ्कर (5 महाविदेह की अपेक्षा) हो जाते हैं। 5 भरत, 5 ऐरवत में भी यदि उस समय तीर्थङ्कर हो जाय तो कुल 170 तीर्थङ्कर हो जाते हैं।

सिद्ध-पद-भाव-वन्दना

दूजे पद ''णमो सिद्धाणं'' श्री सिद्ध भगवान महाराज 15 भेदे अनन्त सिद्ध हुए हैं। आठ कर्म खपा कर मोक्ष पहुँचे हैं। (1) तीर्थ सिद्ध, (2) अतीर्थ सिद्ध, (3) तीर्थङ्कर सिद्ध, (4) अतीर्थङ्कर सिद्ध, (5) स्वयं बुद्ध सिद्ध, (6) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध, (7) बुद्ध बोधित सिद्ध, (8) स्त्रीलिंग सिद्ध, (9) पुरुषलिंग सिद्ध, (10) नपुंसकलिंग सिद्ध, (11) स्वलिंग सिद्ध, (12) अन्यलिंग सिद्ध, (13) गृहस्थलिंग सिद्ध, (14) एक सिद्ध, (15) अनेक सिद्ध।

जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दु:ख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, ज्योत में ज्योत विराजमान सकल कार्य सिद्ध करके चौदह प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध भगवन्त हुए हैं जो-(1) अनन्त ज्ञान, (2) अनन्त दर्शन, (3) अव्याबाध सुख, (4) क्षायिक समकित, (5) अटल अवगाहना, (6) अमूर्त, (7) अगुरु-लघु, (8) अनन्त आत्म-सामर्थ्य, ये आठ गुण कर के सहित हैं।

ऐसे श्री सिद्ध भगवान, दीनदयाल महाराज, आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे सिद्ध भगवान! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिये, मैं हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से 1008 बार वंदना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, आप उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, पर भव, भव भव में सदाकाल शरण होवे।

आठ गुण–(1) अनन्त ज्ञान-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से। (2) अनन्त दर्शन-दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से। (3) अव्याबाध सुख-वेदनीय कर्म के क्षय से। (4) क्षायिक समकित-मोहनीय कर्म के क्षय से। (5) अटल अवगाहना-आयुष्य के क्षय से। (6) अमूर्तिक-नाम कर्म के क्षय से। (7) अगुरुलघु-गोत्र कर्म के क्षय से। (8) अनन्त आत्मसामर्थ्य-अन्तराय कर्म के क्षय से।

सिद्धों के 14 प्रकार–(1) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध, (2) पुरुषलिङ्ग सिद्ध, (3) नपुंसकलिङ्ग सिद्ध, (4) स्वलिङ्ग सिद्ध, (5) अन्यलिङ्ग सिद्ध, (6) गृहस्थलिङ्ग सिद्ध, (7-9) जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध, (10-12) उर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यक्लोक में होने वाले सिद्ध, (13) समुद्र एवं (14) जलाशय में होने वाले सिद्ध।

15 भेदे सिद्ध–सिद्ध होने के पश्चात् सभी आत्माएँ समान होती है। उनमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु सिद्धों की सांसारिक अवस्था (पूर्वावस्था) की दृष्टि से उनमें पन्द्रह भेद माने जाते हैं।

(1) तीर्थ सिद्ध–साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना के पश्चात् जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की, जैसे गौतम स्वामी आदि। **(2) अतीर्थ सिद्ध**–चार तीर्थ स्थापना के पहले जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की जैसे-मरुदेवी माता। **(3) तीर्थङ्कर सिद्ध**–जिन्होंने तीर्थङ्कर की पदवी प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की। जैसे-भगवान ऋषभदेव आदि 24 तीर्थङ्कर। **(4) अतीर्थङ्कर सिद्ध**–जिन्होंने तीर्थङ्कर की पदवी प्राप्त नहीं करके मोक्ष प्राप्त किया। जैसे-गौतम अणगार आदि। **(5) स्वयंबुद्ध सिद्ध**–बिना उपदेश के पूर्व जन्म के संस्कार जागृत होने से जिन्हें ज्ञान हुआ और सिद्ध हुए। जैसे-कपिल केवली। **(6) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध**–किसी पदार्थ का विचार करते-करते बोध प्राप्त हुआ और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया जैसे करकण्डु राजा। **(7) बुद्धबोधित सिद्ध**–गुरु के उपदेश से ज्ञानी होकर जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की, जैसे-जम्बू स्वामी। **(8) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध**–स्त्री पर्याय (शरीर) से सिद्ध होने वाले। जैसे-चन्दनबाला। **(9) पुरुषलिङ्ग सिद्ध**–पुरुष पर्याय (शरीर) से सिद्ध होने वाले। जैसे-अर्जुनमाली। **(10) नपुंसकलिङ्ग सिद्ध**–नपुंसक पर्याय (शरीर) से सिद्ध होने वाले। भगवती सूत्र के आधार से पुरुष नपुंसक केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हो सकता है। **(11) स्वलिङ्ग सिद्ध**–रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि वेष में जिन्होंने मुक्ति पाई, जैसे-जैन साधु। **(12) अन्यलिङ्ग सिद्ध**–जैन वेष से अन्य संन्यासी आदि के वेषों में भाव संयम द्वारा केवलज्ञान उपार्जित कर वेष परिवर्तन करने जितना समय न होने पर जिन्होंने मुक्ति पाई, जैसे-वल्कल चीरी। **(13) गृहस्थलिङ्ग सिद्ध**–गृहस्थ के वेश में जिन्होंने भाव संयम प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की। **(14) एक सिद्ध**–एक समय में एक ही जीव मोक्ष में जावे। **(15) अनेक सिद्ध**–एक समय में अनेक जीव मोक्ष में जावे। एक समय में उत्कृष्ट 108 तक मोक्ष में जा सकते हैं।

आचार्य-पद-भाव-वन्दना

तीजे पद 'णमो आयरियाणं' श्री आचार्य जी महाराज 36 गुण करके विराजमान, पाँच महाव्रत पाले, पाँच आचार पाले, पाँच इन्द्रियाँ जीते, चार कषाय टाले, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, पाँच समिति तीन गुप्ति शुद्ध आराधें। ये 36 गुण करके सहित हैं। **आठ सम्पदा**–1. आचार सम्पदा, 2. श्रुत सम्पदा, 3.

शरीर सम्पदा, 4. वचन सम्पदा, 5. वाचना सम्पदा, 6. मति सम्पदा, 7. प्रयोगमति सम्पदा और 8. संग्रह परिज्ञा सम्पदा सहित निश्चल समकिती, निकट भवी, शुक्ल पक्षी, मोक्ष-मार्ग के सारथी इत्यादि अनेक गुणों से विराजमान हैं।

ऐसे श्री आचार्य जी महाराज! न्याय पक्षी, भद्रिक परिणामी, परम पूज्य, कल्पनीय, अचित्त वस्तु के ग्रहणहार, सचित्त के त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणों के अनुरागी, सौभागी हैं। ऐसे श्री आचार्य जी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे आचार्य जी महाराज ! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिए। मैं हाथ जोड़, मान मोड़ शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से 1008 बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि ।।

आप मांगलिक हो, आप उत्तम हो, हे स्वामिन् ! हे नाथ! आपका इस भव, पर भव, भव भव में सदाकाल शरण होवे।

आचार्य महाराज के 36 गुणों का उल्लेख ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आया है। उनमें से एक प्रकार का उल्लेख ऊपर किया गया है। दशाश्रुत स्कन्ध में आचार्य महाराज के 8 सम्पदाओं का उल्लेख है। प्रत्येक संपदा के 4-4 भेद होने से 32 भेद एवं 4 शिष्यों के प्रति कर्त्तव्य इस प्रकार भी आचार्य के 36 गुण कोई-कोई गिनते हैं।

उपाध्याय-पद-भाव-वन्दना

चौथे पद 'णमो उवज्झायाणं' श्री उपाध्याय जी महाराज 25 गुण करके विराजमान, ग्यारह अंग, बारह उपांग, चरण सत्तरी, करण सत्तरी ये पच्चीस गुण करके सहित हैं, ग्यारह अंग का पाठ अर्थ सहित सम्पूर्ण जाने, चौदह पूर्व के पाठक और निम्न बत्तीस सूत्रों के जानकार हैं-

ग्यारह अंग-आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, उवासगदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाइय, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र।

बारह उपांग-उववाई, रायप्पसेणी, जीवाजीवाभिगम, पन्नवणा, जम्बूद्वीवपण्णत्ति, चन्दपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति, निरयावलिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा।

चार मूल सूत्र-उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र।

चार छेद-दशाश्रुत स्कन्ध, वृहत्कल्प, व्यवहार सूत्र, निशीथ सूत्र और बत्तीसवाँ आवश्यक सूत्र-तथा अनेक ग्रन्थों के जानकार, सात नय, चार निक्षेप, निश्चय, व्यवहार, चार प्रमाण आदि स्वमत तथा

अन्यमत के जानकार। मनुष्य या देवता कोई भी विवाद में जिनको छलने में समर्थ नहीं, जिन नहीं पण जिन सरीखे, केवली नहीं पण केवली सरीखे हैं।

ऐसे श्री उपाध्याय जी महाराज मिथ्यात्व रूप अन्धकार के मेटनहार, समकित रूप उद्योत के करणहार, धर्म से डिगते प्राणी को स्थिर करने वाले, सारए, वारए, धारए इत्यादि अनेक गुण करके सहित हैं। ऐसे श्री उपाध्यायजी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो, हे उपाध्याय जी महाराज ! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करें। मैं हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से 1008 बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि ।।

आप मांगलिक हो, आप उत्तम हो, हे स्वामिन् ! हे नाथ ! आपका इस भव, पर भव, भव भव में सदा काल शरण होवे।

विवेचन–उपाध्याय महाराज के 25 गुणों का वर्णन आगमों में नहीं है। कोई 11 अंग एवं 14 पूर्व कुल 25 इन्हें उपाध्याय के 25 गुण कहते हैं।

चरण सत्तरी के 70 भेद-

वय[5]–समणधम्मं[10]–संजम[17]–वेयावच्चं[10] च बंभगुत्तीओ[9]।
णाणाइत्तिय[3] तव[12] कोहनिग्गहाइ[4] चरणमेय ।।

अर्थात् 5 महाव्रत, 10 यति धर्म, 17 संजम, 10 वैयावृत्य, 9 वाढ़ ब्रह्मचर्य, 3 ज्ञानादि त्रयरत्न, 12 तप, 4 कषाय-निग्रह एवं कुल 70।

करण सत्तरी के 70 भेद-

पिण्डविसोहि[4] समिई[5] भावणा[12] पडिमा[12] इंदियणिग्गहो[5] य।
पडिलेहण[25] गुत्तीओ[3] अभिग्गहं[4] चेव करणं तु ।।

अर्थात् 4 पिण्ड विशुद्धि, 5 समिति, 12 भावना, 12 साधु प्रतिमा, 5 इन्द्रिय निग्रह (विजय), 25 प्रकार का प्रतिलेखन, 3 गुप्ति, 4 अभिग्रह (द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव) इस प्रकार कुल 70।

सारए–विस्मृत पाठ का स्मरण कराना।

वारए–पाठ की अशुद्धि का निवारण करना।

धारए–नया पाठ धारने वाले (सिखाने वाले) या स्वयं रहस्यों को धारण करने वाले।

7 नय, 4 निक्षेप तथा 4 प्रमाण का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है-*प्रमाणनयैरधिगमः* प्रमाण और नय से वस्तु का वास्तविक ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त

धर्म (पर्याय) रहे हुए हैं। उन सबको जो एक साथ जाने उसको प्रमाण कहते हैं। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश (पर्याय) को मुख्य रूप से जाने और दूसरे अंशों में (पर्यायों में) उदासीनता रखे उसको नय कहते हैं। उस नय के दो भेद-व्यास नय (विस्तृत नय) और समास नय (संक्षिप्त नय)।

नय के यदि विस्तार से भेद किए जाए तो अनन्त भेद हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए हैं और एक-एक धर्म को जानने वाला एक-एक नय होता है। जैसा कि कहा है-'जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया' जितने बोलने के तरीके हैं, उतने ही नय होते हैं इसलिए व्यास नय विस्तृत नय के अनेक भेद हैं।

समास नय (संक्षिप्त नय) के दो भेद हैं। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्य को मुख्य रूप से विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक कहलाता है। पर्याय को मुख्य रूप से विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है। अनेक मार्गों से (तरीकों से) वस्तु का बोध करने वाला नय **नैगम नय** कहलाता है। विशेष धर्मों की तरह उदासीनता रखकर सिर्फ सत्ता रूप सामान्य को ही ग्रहण करने वाला नय **संग्रह नय** कहलाता है। संग्रह नय के द्वारा जाने हुए सामान्य रूप पदार्थों में विधि पूर्वक भेद करने वाला नय **व्यवहार नय** कहलाता है। इसमें सामान्य गौण और विशेष मुख्य हो जाते हैं। क्योंकि केवल सामान्य से लोक व्यवहार चल नहीं सकता। अत: व्यवहार चलाने के लिए विशेषों की आवश्यकता होती है।

पर्यायार्थिक नय के 4 भेद-ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरुढ और एवंभूत नय। पदार्थ की वर्तमान क्षण में रहने वाली पर्याय को ही प्रधान रूप से विषय करने वाला अभिप्राय **ऋजु सूत्र नय** कहलाता है। जैसे इस समय सुख रूप पर्याय है। काल, कारक, लिङ्ग और वचन के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय **शब्द नय** कहलाता है। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु रहेगा। यह काल का भेद है। इसी तरह कारक, लिङ्ग और वचन का भेद भी समझ लेना चाहिए। पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला **समभिरुढ़** नय कहलाता है। जैसे-ऐश्वर्य भोगने वाला इन्द्र, सामर्थ्य वाला शक्र और शत्रुओं के नगर का विनाश करने वाला पुरन्दर कहलाता है। शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त शब्द का वाच्य मानने वाला नय **एवंभूत नय** कहलाता है। जैसे जिस समय इन्दन (ऐश्वर्य भोग) रूप क्रिया के होने पर ही इन्द्र कहा जा सकता है। शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया होने पर ही शक्र कहा जा सकता है और पुरन्दर (शत्रु नगर का विनाश) रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजु सूत्र प्रधान रूप से पदार्थ का प्ररूपण करते हैं। इसलिए इन्हें अर्थ नय कहा जाता है। शब्द समभिरूढ़ और एवंभूत ये 3 नय किस शब्द का वाच्य क्या है, यह निरूपण करते हैं। अर्थात् शब्द को प्रधानता देते हैं, इसलिए इन तीन को शब्द नय कहते हैं। नयों का यह संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया है।

निक्षेप चार-पदार्थों के जितने निक्षेप हो सके उतने निक्षेप कर देने चाहिए। यदि विशेष निक्षेप करने की शक्ति न हो तो चार निक्षेप तो अवश्य ही करना चाहिए। (1) नाम-निक्षेप, (2) स्थापना-निक्षेप (3) द्रव्य-निक्षेप, (4) भाव-निक्षेप।

(1) नाम-निक्षेप-लोक व्यवहार चलाने के लिए किसी दूसरे गुणादि निमित्त की अपेक्षा न रखकर किसी पदार्थ की संज्ञा रखना नाम निक्षेप है। जैसे-किसी बालक का नाम महावीर रखना। यहाँ बालक में वीरता आदि गुणों का ख़याल किये बिना ही महावीर शब्द का संकेत किया है। कई नाम गुण के अनुसार भी होते हैं। किन्तु नाम निक्षेप गुण की अपेक्षा नहीं रखता।

(2) स्थापना-निक्षेप-प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश अथवा विसदृश आकार वाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप कहलाता है। जैसे जम्बूद्वीप के चित्र को जम्बू द्वीप कहना या शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

(3) द्रव्य-निक्षेप-किसी पदार्थ की भूत और भविष्यत् कालीन पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजा के मृतक शरीर में 'यह राजा था' इस प्रकार भूतकालीन पर्याय का व्यवहार करना अथवा भविष्य में राजा होने वाले युवराज को राजा कहना।

कोई शास्त्रादि का ज्ञाता जब उस शास्त्र के उपयोग से शून्य होता है, तब उसका ज्ञान द्रव्य ज्ञान कहलाता है-'**अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्**' अर्थात् उपयोग न होना द्रव्य है। जैसे सामायिक का ज्ञान जिस समय सामायिक में उपयोग से शून्य है, उस समय उसका सामायिक ज्ञान द्रव्य सामायिक ज्ञान कहलायेगा।

(4) भाव-निक्षेप-पर्याय के अनुसार वस्तु में शब्द का प्रयोग करना भाव निक्षेप है। जैसे-राज्य करते हुए मनुष्य को राजा कहना। सामायिक उपयोग वाले को सामायिक का ज्ञाता कहना।

इन 4 निक्षेपों में से नाम निक्षेप, स्थापना और द्रव्य निक्षेप ये 3 वन्दनीय नहीं है। एक भाव निक्षेप ही वन्दनीय है।

प्रमाण चार-(1) प्रत्यक्ष, (2) अनुमान, (3) उपमान और (4) आगम।

(1) प्रत्यक्ष-इसमें व्यवहार की दृष्टि से दो शब्द आते हैं-प्रति+अक्ष। प्रति का अर्थ है तरफ या सम्बन्ध और अक्ष का अर्थ है आत्मा। जिसका सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि-जो आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध रखता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। न्याय ग्रन्थों में इसके दो भेद कर दिये हैं-सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक के दो भेद हैं-विकल और सकल। अवधि ज्ञान और मन:पर्याय ज्ञान को विकल पारमार्थिक कहते हैं, और केवलज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्ष का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। यह इन्द्रियजन्य ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके दो भेद-इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रिय जन्य है। मन से होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और श्रोत आदि पाँच इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान

इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि निश्चय में तो अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवल ज्ञान ही प्रत्यक्ष है। व्यवहार में मन तथा इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है।

(2) अनुमान–हेतु को देखकर व्याप्ति का स्मरण करने के पश्चात् जिससे पदार्थ का ज्ञान होता है। उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे दूर से किसी जगह पर उठते हुए धुएँ को देखकर यह ज्ञान करना कि यहाँ पर अग्नि है क्योंकि जहाँ-जहाँ धुँआ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसा कि रसोई घर में देखा था कि वहाँ धुआँ था तो अग्नि भी थी।

(3) उपमान–जिसके द्वारा सदृशता (समानता) से उपमेय (उपमा देने योग्य पदार्थों का ज्ञान होता है) उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे गवय (रोझड़ा)-एक जंगली जानवर-गाय के सामन होता है।

(4) आगम–आगम शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है-'**गुरुपारम्पर्येणागच्छति इति आगम:।**' जो ज्ञान गुरु परम्परा से प्राप्त होता रहता है उसे आगम कहते हैं (आगम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है) **आ-समन्ताद् गम्यन्ते-ज्ञायन्ते जीवादय पदार्था अनेनेति आगम:। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था:।** गति (चलना) अर्थ में जितनी धातुएँ आती हैं उन सबका ज्ञान अर्थ भी हो जाता है। इसलिए आगम शब्द का यह अर्थ हुआ कि जिससे जीवादि पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो उसे आगम कहते हैं। न्याय ग्रन्थ में कहा है कि-जीव पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा जाने और जैसा जानता है वैसा ही कथन (प्ररुपणा) करता है उसे आप्त कहते हैं। केवल ज्ञानी को परमोत्कृष्ट आप्त कहते हैं। उनके वचनों से प्रकट करने वाले प्रवचन को आगम कहते हैं।

साधु-पद-भाव-वन्दना

पाँचवें पद 'नमो लोए सव्व साहूणं' अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में स्वयं के पोताना (धर्माचार्य जी एवं बड़े सन्तों के नाम लेवें आदि) सर्व साधुजी महाराज जघन्य दो हजार क्रोड़, उत्कृष्ट नव हजार क्रोड़ जयवन्ता विचरें। पाँच महाव्रत पाले, पाँच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, भाव सच्चे, करण सच्चे, जोग सच्चे, क्षमावंत, वैराग्यवंत, मन समाधारणया, वय समाधारणया, काय समाधारणया, नाण सम्पन्ना, दंसण सम्पन्ना, चारित्त सम्पन्ना, वेदनीय समाअहियासन्निया, मारणंतिय समाअहियासन्निया ऐसे सत्ताईस गुण करके सहित हैं। पाँच आचार पाले, छहकाय की रक्षा करे, सात भय त्यागे, आठ मद छोड़े, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, दस प्रकारे यति धर्म धारे, बारह भेदे तपस्या करे, सतरह भेदे संयम पाले, अठारह पापों को त्यागे, बाईस परीषह जीते, तीस महामोहनीय कर्म निवारे, तेतीस आशातना टाले, बयालीस दोष टाल कर आहार-पानी लेवे, सैंतालीस दोष टाल कर भोगे, बावन अनाचार टाले, तेड़िया (बुलाये) आवे नहीं, नेतीया जीमे नहीं, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी, लोच करे, नंगे पैर चले इत्यादि काय क्लेश और मोह ममता रहित हैं।

ऐसे मुनिराज महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे मुनिराज महाराज ! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिये। मैं हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से 1008 बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, नमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि, मत्थएण वंदामि ।।

आप मांगलिक हो, आप उत्तम हो, हे स्वामिन् ! हे नाथ ! आपका इस भव, पर भव, भव भव में सदा काल शरण होवे।

अनन्त चौबीसी का पाठ

मूल– **अनन्त चौबीसी जिन नमूँ, सिद्ध अनन्ता क्रोड़।**
केवल ज्ञानी गणधरा, वन्दूँ बे कर जोड़ ।।1 ।।
दोय क्रोड़ केवल धरा, विहरमान जिन बीस।
सहस्र युगल क्रोड़ी नमूँ, साधु नमूँ निश दीस ।।2 ।।
धन साधु धन साध्वी, धन धन है जिन-धर्म।
ये सुमर्या पातक झरे, टूटे आठों कर्म ।।3 ।।
अरिहन्त सिद्ध समरूँ सदा, आचारज उपाध्याय।
साधु सकल के चरण को, वन्दूँ शीश नमाय ।।4 ।।
लोभी गुरु तारे नहीं, तिरे सो तारणहार।
जो तूँ तिरणो चाह तो, निर्लोभी गुरुधार ।।5 ।।
कहवाँ में आवे नहीं, अवगुण भरिया अनन्त।
लिखवाँ मैं कैसे लिखूँ, जानो श्री भगवन्त ।।6 ।।
अँगुष्ठे अमृत बसे, लब्धि तणा भण्डार।
श्री गुरु गौतम सुमरिये, वांछित फल दातार ।।7 ।।

चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ

सात लाख पृथ्वी काय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख बेइन्द्रिय, दो लाख तेइन्द्रिय, दो लाख चउरिन्द्रिय, चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य, ऐसे चार

गति चौबीस दण्डक, चौरासी लाख जीवयोनि में सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त जीवों में से किसी जीव का हालते, चालते, उठते, बैठते, सोते जागते, हनन किया हो, हनन कराया हो, हनताँ प्रति अनुमोदन किया हो, छेदा हो, भेदा हो, किलामना उपजाई हो तो मन वचन काया करके (18,24,120) अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस प्रकारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

18,24,120 प्रकार–जीव के 563 भेदों को 'अभिहया वत्तिया' आदि दस विराधना से गुणा करने कर 5,630 भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ दुगुणा करने से 11,260 भेद बनते हैं। फिर इनको 3 करण और 3 योग से (9 से) गुणा करने पर 1,01,340 भेद बनते हैं। फिर इनको 3 काल से गुणा करने पर 3,04,020 भेद हो जाते हैं। फिर इनको पंच परमेष्ठि और स्वयं की आत्मा इन 6 से गुणा करने पर 18,24,120 प्रकार बनते हैं, कहीं पर पंच परमेष्ठि और स्वयं की आत्मा इन 6 के स्थान पर दिन में, रात्रि में, अकेले में, समूह में, सोते और जागते इन 6 से गुणा किया है। $563 \times 10 \times 2 \times 3 \times 3 \times 3 \times 6 =$ 18,24,120

अन्तिम पाठ

पहला सामायिक, दूसरा चउवीसत्थव, तीसरी वन्दना, चौथा प्रतिक्रमण, पाँचवाँ काउस्सग्ग और छट्ठा प्रत्याख्यान इन 6 आवश्यकों में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार जानते अजानते कोई दोष लगा हो तथा पाठ उच्चारण करते समय काना, मात्रा, अनुस्वार, पद, अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ, न्यूनाधिक, विपरीत पढ़ने में आया हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की साक्षी से दिवस सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, अशुभ योग का प्रतिक्रमण इन पाँच प्रतिक्रमणों में से कोई प्रतिक्रमण नहीं किया हो या अविधि से किया हो, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप सम्बन्धी कोई दोष लगा हो तो दिवस सम्बन्धी तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

गये काल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल की सामायिक, आगामी काल के प्रत्याख्यान, जो भव्य जीव करते हैं, कराते हैं, करने वाले का अनुमोदन करते हैं उन महापुरुषों को धन्य है, धन्य है।

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, ये पाँच व्यवहार समकित के लक्षण हैं, इनको मैं धारण करता हूँ। देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रन्थ, केवली भाषित दयामय धर्म ये तीन तत्त्व सार, संसार असार, भगवन्त महाराज आपका मार्ग सच्चं, सच्चं, सच्चं थवथुई मंगलं।

❑❑❑

परिशिष्ट-2

श्रावक आवश्यक सूत्र की विधि

सर्वप्रथम तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करें।

1. **चउवीसत्थव की आज्ञा**–नवकार मंत्र, इच्छाकारेणं, तस्सउत्तरी, एक लोगस्स के पाठ का काउस्सग्ग करें, कायोत्सर्ग शुद्धि का पाठ, एक लोगस्स प्रकट, दो बार नमोत्थुणं, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

2. **प्रतिक्रमण ठाने (करने) की आज्ञा**–इच्छामि णं भंते, नवकार मन्त्र, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

3. **प्रथम आवश्यक की आज्ञा**–करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, 99 अतिचारों का काउस्सग्ग, (काउस्सग्ग में आगमे तिविहे, अरिहंतो महदेवो, बारह स्थूल, छोटी संलेखना, 99 अतिचारों के समुच्चय का पाठ, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि का चिन्तन करें) कायोत्सर्ग शुद्धि का पाठ, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

4. **दूसरे आवश्यक की आज्ञा**–लोगस्स का पाठ, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

5. **तीसरे आवश्यक की आज्ञा**–इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधिसहित दो बार वन्दना, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

6. **चौथे आवश्यक की आज्ञा**–

   (अ) आगमे तिविहे, अरिहंतो महदेवो, बारह स्थूल, छोटी संलेखना, 99 अतिचारों के समुच्चय का पाठ, अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि[1], तस्स सव्वस्स का पाठ, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

   (ब) **श्रावक सूत्र जी की आज्ञा**–
   नवकार मंत्र, करेमि भंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि, इच्छाकारेणं, आगमे तिविहे, दंसण समकित, बारह व्रत, बड़ी संलेखना (पालथी लगाकर), अठारह पापस्थान, इच्छामि ठामि, तस्स धम्मस्स, इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधिवत् दो बार वन्दना।

   (स) **पाँच पदों की वन्दना**–
   नवकार मंत्र, पाँचों पद, अनन्त चौबीसी, आयरिय उवज्झाए, अढ़ाई द्वीप का पाठ, चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ, क्षमापना पाठ, अठारह पापस्थान, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

---

1. इस पाठ के उच्चारण में 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' के स्थान पर 'इच्छामि पडिक्कमिउं' कहें।

7. **पाँचवें आवश्यक की आज्ञा**–प्रायश्चित्त का पाठ, नवकार मंत्र, करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी, लोगस्स का (सामान्य दिनों में 4, पक्खी को 8, चौमासी को 12 तथा संवत्सरी को 20 लोगस्स का) काउस्सग्ग करें, कायोत्सर्ग शुद्धि का पाठ एवं लोगस्स प्रकट में, इच्छामि खमासमणो के पाठ से विधिवत् दो बार वन्दना, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

8. **छट्ठे आवश्यक की आज्ञा**–समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ, प्रतिक्रमण समुच्चय (अन्तिम पाठ), नमोत्थुणं दो बार, तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना।

इच्छामि णं भंते का पाठ

मूल– **इच्छामि णं भंते! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं[1] पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय-नाण-दंसण-चरित्ताचरित्त-तव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं।**

संस्कृत छाया– इच्छामि खलु भगवन् युष्माभिरभ्यनुज्ञातः सन्। दैवसिकं प्रतिक्रमणं तिष्ठामि दैवसिक-ज्ञान-दर्शन-चारित्राचारित्र-तप-अतिचार-चिंतनार्थं करोमि कायोत्सर्गम्।।

अन्वयार्थ–इच्छामि णं भंते ! = हे भगवान ! चाहता हूँ यानी मेरी इच्छा है, **तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे** = इसलिए आपके द्वारा आज्ञा मिलने पर, **देवसियं पडिक्कमणं** = दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण को, **ठाएमि** = करता हूँ। (व), **देवसिय-नाण-दंसण-** = दिवस सम्बन्धी ज्ञान-दर्शन, **चरित्ताचरित्त-** = श्रावक व्रत, **तव-** = तप, **अइयार-चिंतणत्थं** = अतिचारों का चिन्तन करने के लिए, **करेमि काउस्सग्गं** = कायोत्सर्ग करता हूँ।

इच्छामि ठामि का पाठ

मूल– **इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ[2] अइयारो कओ, काइओ, वाइओ, माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असावगपाउग्गो, नाणे तह दंसणे, चरित्ताचरित्ते, सुए सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं**

1. प्रात:काल में राइयं, पक्खी के दिन पक्खियं, चौमासी के दिन चाउम्मासियं और संवत्सरी के दिन संवच्छरियं बोलें।
2. प्रात:काल में राइयो, पक्खी के दिन पक्खिओ, चौमासी के दिन चाउम्मासिओ और संवत्सरी के दिन संवच्छरिओ बोलें।

कसायाणं, पंचण्हमणुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं बारस–विहस्स सावग–धम्मस्स, जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

संस्कृत छाया– इच्छामि तिष्ठामि कायोत्सर्गं यो मया दैवसिको अतिचार: कृत: कायिको वाचिको मानसिको उत्सूत्र उन्मार्गो अकल्पोऽकरणीयो दुर्ध्यातो दुर्विचिन्तितोऽना–चारेऽनेष्टव्योऽश्रावकप्रायोग्य ज्ञाने तथा दर्शने चारित्राचारित्रे श्रुते सामायिके, तिसृणां गुप्तीनां चतुर्णां कषायानां पंचानां अणुव्रतानां त्रयाणां गुणव्रतानां चतुर्णां शिक्षाव्रतानां द्वादशविस्य श्रावकधर्मस्य यत्खण्डितं यद्विराधितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम् ।।

अन्वयार्थ–इच्छामि ठामि काउस्सग्गं = मैं कायोत्सर्ग करना चाहता हूँ, **जो मे देवसिओ** = जो मैंने दिवस सम्बन्धी, **अइयारो कओ =** अतिचार (दोष) सेवन किये हैं। (चाहे वे), **काइओ, वाइओ, माणसिओ =** काया, वचन व मन सम्बन्धी, **उस्सुत्तो =** सूत्र सिद्धान्त के विपरीत उत्सूत्र की प्ररूपणा की हो, **उम्मग्गो =** जिनेन्द्र प्ररूपित मार्ग से विपरीत उन्मार्ग का कथन व आचरण किया हो, **अकप्पो, अकरणिज्जो =** अकल्पनीय (नहीं कल्पे वैसा), नहीं करने योग्य कार्य किए हों, (ये कायिक, वाचिक अतिचार हैं, इसी प्रकार।), **दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ =** मन से कर्म बंध हेतु रूप दुष्ट ध्यान व किसी प्रकार का खराब चिंतन किया हो, **अणायारो, अणिच्छियव्वो =** अनाचार सेवन (व्रत भंग) किया व नहीं चाहने योग्य की वांछा की हो, **असावगपाउग्गो =** श्रावक–धर्म के विरूद्ध आचरण किया हो, **नाणे तह दंसणे =** ज्ञान तथा दर्शन एवं, **चरित्ताचरित्ते, सुए =** श्रावक धर्म, सूत्र सिद्धान्त, **सामाइए =** सामायिक में, **तिण्हं गुत्तीणं =** तीन गुप्ति के गोपनत्व का, **चउण्हं कसायाणं =** चार कषाय के सेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा का, **पंचण्ह–मणुव्वयाणं =** पाँच अणुव्रत, **तिण्हं गुणव्वयाणं =** तीन गुणव्रत, **चउण्हं सिक्खावयाणं =** चार शिक्षा व्रत रूप, **बारस–विहस्स सावग–धम्मस्स =** बारह प्रकार के श्रावक–धर्म का, **जं खंडियं जं विराहियं =** जो मेरे देश रूप से खण्डन हुआ हो, सर्व रूप से विराधना हुई हो तो, **जो मे देवसिओ =** जो मैंने दिवस सम्बन्धी, **अइयारो कओ =** कोई अतिचार दोष किये हों तो, **तस्स मिच्छा मि दुक्कडं =** वे मेरे दुष्कृत कर्मरूप पाप मिथ्या हो।

बारह स्थूल

1. **पहला स्थूल प्राणातिपात–**विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं–1. रोषवश गाढ़ा बंधन बांधा हो 2. गाढ़ा घाव घाला हो 3. अवयव[1] का छेद किया हो, 4. अधिक भार

---

1. अवयव चाम आदि का।

भरा हो, 5. भत्त पाणी का विच्छेद किया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

2. **दूजा स्थूल मृषावाद** विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. सहसाकार से किसी के प्रति कूड़ा आल (झूठा दोष) दिया हो, 2. एकान्त में गुप्त बातचीत करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, 3. अपनी स्त्री का मर्म प्रकाशित किया हो[1], 4. मृषा उपदेश दिया हो, 5. कूड़ा लेख लिखा हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

3. **तीजा स्थूल अदत्तादान** विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो, 2. चोर को सहायता दी हो, 3. राज्य के विरुद्ध काम किया हो, 4. कूड़ा तोल कूड़ा माप किया हो, 5. वस्तु में भेल संभेल किया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

4. **चौथा स्थूल स्वदार संतोष परदार विवर्जन[2] रूप मैथुन** विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. इत्तरियपरिग्गहिया[3] से गमन किया हो, 2. अपरिग्गहिया[3] से गमन किया हो, 3. अनंग क्रीड़ा की हो, 4. पराये का विवाह नाता कराया हो, 5. काम भोग की तीव्र अभिलाषा की हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

5. **पाँचवा स्थूल परिग्रह** विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. खेत-वत्थु का परिमाण अतिक्रमण किया हो, 2. हिरण्य-सुवर्ण का परिमाण अतिक्रमण किया हो, 3. धन-धान्य का परिमाण अतिक्रमण किया हो, 4. दोपद-चौपद का परिमाण अतिक्रमण किया हो, 5. कुविय का परिमाण अतिक्रमण किया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

6. **छट्ठे दिशिव्रत** के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. ऊँची, 2. नीची, 3. तिरछी दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, 4. क्षेत्र बढ़ाया हो, 5. क्षेत्र का परिमाण भूल जाने से, पंथ का संदेह पड़ने पर आगे चला हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

7. **सातवाँ उपभोग परिभोग** परिमाण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-पच्चक्खाण उपरान्त 1. सचित्त का आहार किया हो, 2. सचित्त प्रतिबद्ध का आहार किया हो, 3.

---

1. स्त्रियाँ अपने पुरुष का मर्म प्रकाशित किया हो, बोलें।
2. स्त्रियाँ-स्वपति संतोष, परपुरुष विवर्जन बोलें।
3. इत्तरियपरिग्गहिया के स्थान पर स्त्रियाँ इत्तरियपरिग्गहिय तथा अपरिग्गहिया के स्थान पर अपरिग्गहिय बोलें।

अपक्व का आहार किया हो, 4. दुपक्व का आहार किया हो, 5. तुच्छौषधि का आहार किया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

पन्द्रह कर्मादान[1] जो श्रावक-श्राविका के जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं, उनके विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. इंगालकम्मे, 2. वणकम्मे, 3. साडीकम्मे, 4. भाडीकम्मे, 5. फोडीकम्मे, 6. दन्त-वाणिज्जे, 7. लक्खवाणिज्जे, 8. रसवाणिज्जे, 9. केसवाणिज्जे, 10. विसवाणिज्जे, 11. जंतपीलणकम्मे, 12. निलंछणकम्मे, 13. दवग्गिदावणिया, 14. सरदह-तलाय-सोसणया, 15. असई-जण-पोसणया, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

8. **आठवें अनर्थदण्ड** विरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. कामविकार पैदा करने वाली कथा की हो, 2. भण्ड-कुचेष्टा की हो, 3. मुखरी वचन बोला हो, 4. अधिकरण[2] जोड़ रखा हो, 5. उपभोग-परिभोग अधिक बढ़ाया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

9. **नवमें सामायिक व्रत** के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. मन, 2. वचन, 3. काया के अशुभ योग प्रवर्ताये हों, 4. सामायिक की स्मृति न रखी हो, 5. समय पूर्ण हुए बिना सामायिक पाली हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

10. **दसवें देशावकाशिक व्रत** के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. नियमित सीमा के बाहर की वस्तु मँगवाई हो, 2. भिजवाई हो, 3. शब्द करके चेताया हो, 4. रूप दिखा करके अपने भाव प्रकट किये हों, 5. कंकर आदि फेंककर दूसरे को बुलाया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

11. **ग्यारहवें प्रतिपूर्ण पौषध व्रत** के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. पौषध में शय्या संथारा न देखा हो या अच्छी तरह से न देखा हो, 2. प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह से न किया हो, 3. उच्चार पासवण की भूमि को न देखी हो या अच्छी तरह से न देखी हो, 4. पूँजी न हो या अच्छी तरह से न पूँजी हो, 5. उपवास युक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

12. **बारहवें अतिथि संविभाग व्रत** के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-1. अचित्त वस्तु सचित्त पर रखी हो, 2. अचित्त वस्तु सचित्त से ढाँकी हो, 3. साधुओं को भिक्षा देने के समय को टाल

---

1. अधिक हिंसा वाले कार्यों से आजीविका चलाना कर्मादान है अथवा जिन संसाधनों से कर्मों का निरन्तर बन्ध होता हो उन्हें कर्मादान कहते हैं।
2. हिंसाकारी शस्त्र यानी हिंसा के साधन अधिकरण कहलाते हैं।

कर भावना भायी हो, 4. आप सूझता होते हुए भी दूसरों से दान दिलाया हो, 5. मत्सर (ईर्ष्या) भाव से दान दिया हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

संलेखना के पाँच अतिचार का पाठ

संलेखना के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोउं-(1) इस लोक के सुख की कामना की हो, (2) परलोक के सुख की कामना की हो, (3) जीवित रहने की कामना की हो, (4) मरने की कामना की हो, (5) कामभोग की कामना की हो, इन अतिचारों में से मुझे कोई दिवस सम्बन्धी अतिचार लगा हो तो तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

99 अतिचारों का (समुच्चय) पाठ

इस प्रकार 14 ज्ञान के, 5 समकित के, 60 बारह व्रतों के, 15 कर्मादान के, 5 संलेखना के इन 99 अतिचारों में से किसी भी अतिचार का जानते, अजानते, मन, वचन, काया से सेवन किया हो, कराया हो, करते हुए को भला जाना हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान की साक्षी से जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

तस्स सव्वस्स का पाठ

मूल- **तस्स सव्वस्स देवसियस्स[1], अइयारस्स, दुब्भासिय-दुच्चिन्तिय-दुच्चिट्ठियस्स आलोयंतो पडिक्कमामि।**

संस्कृत छाया- तस्य सर्वस्य दैवसिकस्य अतिचारस्य दुर्भाषित-दुश्चिन्तित-दुश्चेष्टितस्य आलोचयन् प्रतिक्रामामि।

अन्वयार्थ-तस्स सव्वस्स देवसियस्स = उन सब दिवस सम्बन्धी, **अइयारस्स** = अतिचारों का जो, **दुब्भासिय-दुच्चिन्तिय-** = दुर्वचन व बुरे चिन्तन से, **दुच्चिट्ठियस्स** = तथा कायिक कुचेष्टा से किये गये हैं, **आलोयंतो पडिक्कमामि** = उन अतिचारों की आलोचना करता हुआ उनसे निवृत्त होता हूँ।

विवेचन-उन सब दिवस संबंधी अतिचारों का जो दुर्वचन व बुरे चिंतन से तथा कायिक कुचेष्टा से किये गये हैं, उन अतिचारों की आलोचना करता हुआ उनसे निवृत्त होता हूँ।

बारह व्रत अतिचार सहित

1. पहला अणुव्रत-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, त्रसजीव, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, जान के, पहिचान के, संकल्प करके, उसमें सगे सम्बन्धी व स्व शरीर के भीतर में पीड़ाकारी, सापराधी को छोड़कर निरपराधी को आकुट्टी की बुद्धि से हनने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं

न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ऐसे पहले स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पंच-अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाण-विच्छेए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ-पहला अणुव्रत = पहला अणुव्रत (अणु यानी महाव्रत की अपेक्षा छोटा व्रत), **थूलाओ** = स्थूल (बड़ी), **पाणाइवायाओ** = प्राणातिपात (जीव हिंसा) से, **वेरमणं** = विरक्त (निवृत्त) होता हूँ। (जैसे वे) **त्रसजीव** = चलते फिरते प्राणी हैं। (चाहे वे) **बेइन्द्रिय** = दो इन्द्रिय वाले, **तेइन्द्रिय** = तीन इन्द्रिय वाले, **चउरिन्द्रिय** = चार इन्द्रिय वाले, **पंचेन्द्रिय** = पाँच इन्द्रिय वाले, **संकल्प** = मन में निश्चय करके, **सगे सम्बन्धी** = सम्बन्धी जनों का, **स्वशरीर** = अपने शरीर के उपचारार्थ, **सापराधी** = अपराध सहित त्रस प्राणी हिंसा को छोड़ शेष, **निरपराधी** = अपराध रहित प्राणी की हिंसा का, **आकुट्टी** = मारने की भावना से, **हनने** = मारने का, **पच्चक्खाण** = त्याग करता हूँ, **जावज्जीवाए** = जीवन पर्यन्त, **दुविहं तिविहेणं** = दो करण, तीन योग से अर्थात्, **न करेमि** = स्वयं नहीं करूँगा, **न कारवेमि** = दूसरों से नहीं कराऊँगा, **मणसा वयसा कायसा** = मन, वचन, काया से, **बंधे** = गाढ़े बन्धन से बाँधा हो, **वहे** = वध (मारा या गाढ़ा घाव घाला हो), **छविच्छेए** = अंगोपांग को छेदा हो, **अइभारे** = अधिक भार भरा हो, **भत्तपाण-विच्छेए** = भोजन पानी में बाधा की हो।।1।।

भावार्थ-श्रावक के व्रत बार हैं, उनमें पाँच अणुव्रत मूल और सात उत्तरगुण कहलाते हैं। गृहीत व्रतों का देशत: उल्लंघन अतिचार कहलाता है। प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार हैं। उनमें यहाँ अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचारों की शुद्धि का विधान किया गया है। मैं स्व-संबंधी (अपने और अपने संबंधी जनों) के शरीर में पीड़ाकारी अपराधी जीवों को छोड़कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की हिंसा संकल्प करके मन, वचन और काया से न करूँगा और न कराउँगा। मैंने किसी जीव को यदि बंधन से बाँधा हो, चाबुक, लाठी आदि से मारा हो, पीटा हो, किसी जीव के चर्म का छेदन किया हो, अधिक भार लादा हो अथवा अन्न-पानी का विच्छेद किया हो तो वे सब पाप निष्फल हों।

तात्पर्य यह है कि गृहस्थ श्रावक अहिंसाणुव्रत में निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है। वह स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता। किन्तु उनकी भी निरर्थक हिंसा का त्याग करता है। त्रस जीवों में भी अपराधी की हिंसा का नहीं, केवल निरपराध जीवों की हिंसा त्यागता है और निरपराधों की भी संकल्पी हिंसा का-'मैं इसे मार डालूँ' इस प्रकार की बुद्धि से घात करने का त्याग करता है। कृषि, गृहनिर्माण, व्यवसाय आदि में निरपराध त्रस जीवों का भी हनन होता है, तथापि वह आरंभी हिंसा है, संकल्पी नहीं। अतएव गृहस्थ श्रावक उसका त्यागी नहीं। इस कारण उसका पहला व्रत स्थूल प्राणातिपातविरमण कहलाता है। यह दो करण और तीन योग से स्वीकार किया जाता है।

2. दूजा अणुव्रत–थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, कन्नालीए, गोवालीए, भोमालीए, णासावहारो, कूडसक्खिज्जे इत्यादि मोटा झूँठ बोलने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, एवं दूजा स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–सहस्सब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमंत–भेए[1], मोसोवएसे, कूडलेहकरणे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ–कन्नालीए = कन्या या वर सम्बन्धी, **गोवालीए** = गाय आदि पशु सम्बन्धी, **भोमालीए** = भूमि भवन आदि, **णासावहारो** = धरोहर दबाने के लिए झूठ बोलना, **कूडसक्खिज्जे** = झूठी साक्षी देना, **सहस्सब्भक्खाणे** = बिना विचारे यकायक किसी पर झूठा आल (दोष) देना, **रहस्सब्भक्खाणे** = गुप्त बातचीत करते हुए पर झूठा आल (दोष) देना, **सदारमंत–भेए** = अपनी स्त्री का मर्म प्रकाशित किया हो, **मोसोवएसे** = झूठा उपदेश दिया हो, **कूडलेहकरणे** = झूठा लेख लिखा हो।।2।।

भावार्थ–मैं जीवनपर्यन्त मन, वचन, काया से स्थूल झूठ नहीं बोलूँगा और न बोलाऊँगा। कन्या–वर के संबंध में, गाय, भैंस आदि पशुओं के विषय में कभी असत्य नहीं बोलूँगा। किसी की रखी हुई धरोहर (सौंपी हुई रकम आदि) के विषय में असत्य भाषण नहीं करूँगा और न धरोहर को हीनाधिक बताऊँगा तथा झूठी साक्षी नहीं दूँगा। यदि मैंने किसी पर झूठा कलंक लगाया हो, एकांत में मंत्रणा करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, अपनी स्त्री के गुप्त विचार प्रकाशित किये हों, मिथ्या उपदेश दिया हो, झूठा लेख (स्टाम्प, बहीखाता आदि) लिखा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

3. तीजा अणुव्रत–थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, खात खनकर, गाँठ खोलकर, ताले पर कूँची लगाकर, मार्ग में चलते हुए को लूटकर, पड़ी हुई धणियाती मोटी वस्तु जानकर लेना इत्यादि मोटा अदत्तादान का पच्चक्खाण, सगे सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी निर्भ्रमी वस्तु के उपरान्त अदत्तादान का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं तीजा स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्ध–रज्जाइक्कमे, कूडतुल्ल–कूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ–थूलाओ अदिण्णादाणाओ = स्थूल बिना दी वस्तु लेने रूप बड़ी, **वेरमणं** = चोरी से निवृत्त, **खात खनकर** = दीवार में सेंध लगाकर, **धणियाति** = मालिक की यानी, **मोटी वस्तु** = मोटी वस्तु के, **जानकर लेना** = अधिकारी की जानकारी होने पर भी उसको उठाने का, **सगे सम्बन्धी** = पारिवारिक जन की बिना आज्ञा कोई वस्तु लेनी पड़े। (व), **व्यापार सम्बन्धी** = व्यवसाय सम्बन्धी। (तथा), **निर्भ्रमी** = शंका रहित, **तेनाहडे** = चोर की चुराई हुई वस्तु ली हो, **तक्करप्पओगे** = चोर की

1. स्त्रियाँ 'सदारमंतभेए' के स्थान पर 'सपइ–मंत–भेए' बोलें।

सहायता की हो, **विरुद्धरज्जाइक्कमे** = राज्य के विरुद्ध काम किया हो, **कूडतुल्ल-कूडमाणे** = कूड़ा तोल कूड़ा माप किया हो, **तप्पडिरूवगववहारे** = वस्तु में भेल संभेल किया हो।।3।।

भावार्थ–मैं किसी के मकान में खात लगाकर अर्थात् भींत (खोदकर) फोड़कर, गाँठ खोलकर, ताले पर कूँची लगाकर अथवा ताला तोड़कर किसी की वस्तु को नहीं लूँगा, मार्ग में चलते हुए को नहीं लूटूँगा, किसी की मार्ग में पड़ी हुई मोटी वस्तु को नहीं लूँगा, इत्यादि रूप से सगे संबंधी, व्यापार संबंधी तथा पड़ी हुई शंका रहित वस्तु के उपरांत स्थूल चोरी को मन, वचन व काया से न करूँगा और न कराऊँगा। यदि मैंने चोरी वस्तु ली हो, चोर को सहायता दी हो या चोरी करने का उपाय बतलाया हो, लड़ाई के समय विरुद्ध राज्य में आया-गया होऊँ, झूठा तोल-माप रखा हो, अथवा उत्तम वस्तु दिखाकर खराब वस्तु दी हो (वस्तु में मिलावट की हो), मैं इन कुकृत्यों (बुरे कर्मों) की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

4. चौथा अणुव्रत–थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, सदार-संतोसिए अवसेस-मेहुणविहिं[1] पच्चक्खामि, जावज्जीवाए देव-देवी सम्बन्धी दुविहं तिविहेणं, न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तथा मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी एगविहं एगविहेणं न करेमि, कायसा एवं चौथा स्थूल स्वदार सन्तोष, परदार[2] विवर्जन रूप मैथुन विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-इत्तरियपरिग्गहिया-गमणे, अपरिग्गहिया-गमणे[3], अनंगकीडा, परविवाह-करणे, कामभोगातिव्वाभिलासे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ–**सदार-संतोसिए** = अपनी पत्नी में संतोष के सिवाय, **अवसेस-मेहुणविहिं** = शेष सभी प्रकार की मैथुन विधि का, **पच्चक्खामि** = त्याग करता हूँ, **इत्तरियपरिग्गहिया-गमणे** = अल्पवय वाली परिग्रहीता के साथ गमन करना । या अल्प समय के लिए रखी हुई के साथ गमन किया हो, **अपरिग्गहिया-गमणे** = परस्त्री या सगाई की हुई के साथ गमन करना, **अनंगकीडा** = काम सेवन योग्य अंगों के सिवाय अन्य अंगों से कुचेष्टा करना, **परविवाहकरणे** = दूसरों का विवाह करवाना, **कामभोगा-तिव्वाभिलासे** = कामभोगों की प्रबल इच्छा करना।।4।।

भावार्थ–चौथे अणुव्रत में स्थूल मैथून से विरमण किया जाता है। मैं जीवनपर्यन्त अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष रखकर शेष सब प्रकार के मैथुन-सेवन का त्याग करता हूँ अर्थात् देव-देवी संबंधी मैथुन का सेवन मन, वचन, काया से न करूँगा और न कराऊँगा। मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधी मैथुनसेवन काया से न करूँगा। यदि मैंने इत्वरिका परिगृहीता अथवा अपरिगृहीता से गमन करने के लिए आलाप-संलापादि किया

---

1. स्त्री को 'सदार' के स्थान पर 'सपइ' व पूर्ण त्यागी को 'सदार-संतोसिए अवसेस-मेहुणविहिं' के स्थान पर 'सव्व-मेहुणविहिं' बोलना चाहिए।
2. स्त्री को 'स्वदार' के स्थान पर 'स्वपति' तथा 'परदार' की जगह 'परपति' बोलना चाहिए।
3. स्त्री को 'इत्तरियपरिग्गहिया-गमणे' के स्थान पर 'इत्तरियपरिग्गहिय-गमणे' तथा 'अपरिग्गहिया-गमणे' के स्थान पर 'अपरिग्गहिय-गमणे' बोलना चाहिए।

हो, प्रकृति के विरुद्ध अंगों से कामक्रीड़ा करने की चेष्टा की हो, दूसरे के विवाह करने का उद्यम किया हो, कामभोग की तीव्र अभिलाषा की हो तो मैं इन दुष्कृत्यों की आलोचना करता हूँ। वे मेरे सब पाप निष्फल हों।

5. पाँचवाँ अणुव्रत–थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं, खेत्त–वत्थु का यथा परिमाण, हिरण्ण–सुवण्ण का यथा परिमाण, धण–धण्ण का यथा परिमाण, दुप्पय–चउप्पय का यथा परिमाण, कुविय का यथा परिमाण एवं जो यथा परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं पाँचवाँ स्थूल परिग्रह विरमण व्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्ण–सुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धणधण्णप्पमाणाइक्कमे, दुप्पय–चउप्पयप्पमाणाइक्कमे, कुवियप्पमाणाइक्कमे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

अन्वयार्थ–यथा परिमाण = जैसी मर्यादा की है। **खेत्त–वत्थुप्पमाणाइक्कमे =** खुली भूमि (खेत आदि) और घर दुकान आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना। **हिरण्ण–सुवण्णप्पमाणाइक्कमे =** चाँदी सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना। **धण–धण्णप्पमाणाइक्कमे =** धन–धान्य अनाज आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना। **दुप्पय–चउप्पयप्पमाणाइक्कमे =** नौकर, पशु आदि के परिमाण का अतिक्रमण करना। **कुवियप्पमाणाइक्कमे =** घर की सारी सामग्री की मर्यादा का उल्लंघन किया हो।।5।।

भावार्थ–खेत–खुली जगह, वास्तु–महल–मकान आदि, सोना–चाँदी, दास–दासी, गाय, हाथी, घोड़ा, चौपाये आदि, धन्य–धान्य तथा सोना–चाँदी के सिवाय काँसा, पीतल, ताँबा, लोहा आदि धातु तथा इनसे बने हुये बर्तन आदि और शैय्या, आसन, वस्त्र आदि घर संबंधी वस्तुओं का मैंने जो परिमाण किया है, इसके उपरांत सम्पूर्ण परिग्रह का मन, वचन, काया से जीवनपर्यन्त त्याग करता हूँ। यदि मैंने खेत, वास्तु–महल–मकान के परिमाण का उल्लंघन किया हो, सोना, चाँदी के परिमाण का उल्लंघन किया हो, धन, धान्य के परिमाण का उल्लंघन किया हो, (इसके अतिरिक्त) दूसरे द्रव्यों की मर्यादा का उल्लंखन किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

6. छट्ठा दिशिव्रत–उड्ढदिसी का यथा परिमाण, अहोदिसी का यथा परिमाण, तिरियदिसी का यथा परिमाण एवं जो यथा परिमाण किया है उसके उपरान्त स्वेच्छा काया से आगे जाकर पाँच आस्रव सेवन का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए एगविहं[1] तिविहेणं न करेमि[1], मणसा, वयसा, कायसा एवं छट्ठे दिशिव्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे, खित्तवुड्ढी, सइ–अंतरद्धा, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

1. 'एगविहं' के स्थान पर 'दुविहं' और 'न करेमि' के स्थान पर 'न करेमि, न कारवेमि' भी बोलते हैं।

अन्वयार्थ–उड्ढ = ऊर्ध्व (ऊँची), **अहो =** अधो (नीची), **तिरिय =** तिर्यक् (तिरछी), **दिसी =** दिशा, **खित्त–वुड्ढी =** क्षेत्र वृद्धि (बढ़ाया) की हो। **सइ–अंतरद्धा =** क्षेत्र परिमाण भूलने से पथ का सन्देह पड़ने से आगे चला हो।।6।।

भावार्थ–जो मैंने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का परिमाण किया है, उसके आगे गमनागमन आदि क्रियाओं को मन, वचन, काया से न करूँगा। यदि मैंने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक्दिशा का जो परिमाण किया है उसका उल्लंघन किया हो, क्षेत्र को बढ़ाया हो, क्षेत्रपरिमाण की सीमा में संदेह होने पर आगे चला होऊँ तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरे वे सब पाप मिथ्या हों।

ऊँची, नीची, तिरछी दिशाओं के उल्लंघन को यहाँ अतिचार कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मर्यादा की हुई भूमि से बाहर जाने की इच्छा कर रहा है लेकिन बाहर गया नहीं है तब तक अतिचार है, बाहर चले जाने पर अनाचार है।

7. **सातवाँ व्रत–**उपभोग परिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे उल्लणियाविहि, दंतणविहि, फलविहि, अब्भंगणविहि, उवट्टणविहि, मज्जणविहि, वत्थविहि, विलेवणविहि, पुप्फ–विहि, आभरणविहि, धूवविहि, पेज्जविहि, भक्खण–विहि, ओदणविहि, सूपविहि, विगयविहि, सागविहि, महुरविहि, जीमणविहि, पाणियविहि, मुखवासविहि, वाहणविहि, उवाणहविहि, सयणविहि, सचित्तविहि, दव्वविहि इन 26 बोलों का यथा परिमाण किया है, इसके उपरान्त उपभोग–परिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं सातवाँ व्रत उपभोग परिभोग दुविहे पण्णत्ते तं जहा, भोयणाओ य कम्मओ य भोयणाओ समणोवासएणं पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–सचित्ताहारे, सचित्त–पडिबद्धाहारे, अप्पउली–ओसहि–भक्खणया, दुप्पउली–ओसहि–भक्खणया, तुच्छोसहि–भक्खणया कम्मओ य णं, समणोवासएणं पण्णरस–कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं तं जहा ते आलोउं–1. इंगालकम्मे, 2. वणकम्मे, 3. साडीकम्मे, 4. भाडीकम्मे, 5. फोडी–कम्मे, 6. दन्तवाणिज्जे, 7. लक्खवाणिज्जे, 8. रस–वाणिज्जे, 9. केसवाणिज्जे, 10. विसवाणिज्जे, 11. जंत–पीलणकम्मे, 12. निल्लंछण–कम्मे, 13. दवग्गि–दावणया, 14. सरदहतलाय–सोसणया, 15. असई–जण–पोसणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

अन्वयार्थ–उपभोग = एक बार भोगा जा सके जैसे अनाज, पानी आदि। **परिभोग =** अनेक बार भोगा जा सके, जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। **विहिं पच्चक्खायमाणे =** विधि का (पदार्थों की जाति का) त्याग करते हुए। **उल्लणियाविहि =** अंग पोंछने के वस्त्र (अंगोछा आदि)। **दंतणविहि =** दाँतोन के प्रकार। (मंजन), **फलविहि =** फल के प्रकार। **अब्भंगणविहि =** मर्दन के तेल के प्रकार। **उवट्टणविहि =** उबटन, पीठी आदि करने की मर्यादा। **मज्जणविहि =** स्नान संख्या एवं जल का प्रमाण। **वत्थविहि =**

वस्त्र, पहनने योग्य कपड़े। **विलेवणविहि =** विलेपण (लेप) चन्दन आदि। **पुप्फविहि =** फूल, फूलमाला आदि। **आभरणविहि =** आभूषण अँगूठी आदि। **धूवविहि =** धूप, अगर, तगर आदि। **पेज्जविहि =** पेय, दूध आदि पदार्थों की मर्यादा। **भक्खणविहि =** मिठाई आदि। **ओदणविहि =** पकाये हुए चावल आदि। **सूपविहि =** मूँग, चने की दाल आदि। **विगयविहि =** दूध, दही, मट्ठा आदि। **सागविहि =** शाक, सब्जी आदि। **महुरविहि =** मधुर फल आदि। **जीमणविहि =** रोटी, पुड़ी, रायता, बड़ा, पकोड़ी आदि। जीमने के द्रव्यों के प्रकार का प्रमाण। **पाणियविहि =** पीने योग्य पानी। **मुखवासविहि =** लौंग, सुपारी आदि। **वाहणविहि =** वाहन (घोड़ा, मोटर आदि)। **उवाणहविहि =** जूते, मोजे आदि। **सयणविहि =** सोने-बैठने योग्य पलंग, कुर्सी आदि। **सचित्तविहि =** जीव सहित वस्तु जैसे नमक आदि। **दव्वविहि =** द्रव्य की विधि (मर्यादा)। **दुविहे =** दो प्रकार। **पण्णत्ते =** कहा गया है। **तं जहा =** वह इस प्रकार है। **भोयणाओ =** भोजन की अपेक्षा से। **य =** और, **कम्मओ य =** कर्म की अपेक्षा से। **भोयणाओ =** भोजन सम्बन्धी नियम के। **समणोवासएणं =** श्रमणोपासक (श्रावक) के। **पंच-अइयारा =** पाँच अतिचार। **सचित्ताहारे =** सचित्त वस्तु का भोजन करना। **सचित्त-पडिबद्धाहारे =** सचित्त (वृक्षादि से) सम्बन्धित (लगे हुए गोंद, पके फल आदि खाना) वस्तु भोगना। **अप्पउली-ओसहि-भक्खणया =** अचित्त नहीं बनी हुई वस्तु का आहार करना या जिसमें जीव के प्रदेशों का सम्बन्ध हो ऐसी तत्काल पीसी हुई या मर्दन की हुई वस्तु का भोजन करना। **दुप्पउली-ओसहि-भक्खणया =** दुष्पक्व वस्तु का भोजन करना। **तुच्छोसहि-भक्खणया =** तुच्छ औषधि (जिसमें सार भाग कम हो उस वस्तु) का भक्षण करना। **कम्मओ य णं =** कर्मादान की अपेक्षा। **समणोवासएणं =** श्रावक के जो। **पण्णरस-कम्मादाणाइं =** 15 कर्मादान हैं वे। **जाणियव्वाइं =** जानने योग्य हैं। **न समायरियव्वाइं =** परन्तु आचरण योग्य नहीं हैं। **तं जहा =** वे इस प्रकार हैं। **ते आलोउं- =** उनकी मैं आलोचना करता हूँ। **इंगालकम्मे =** ईंट, कोयला, चूना आदि बनाना। **वणकम्मे =** वृक्षों को काटना। **साडीकम्मे =** गाड़ियाँ आदि बनाकर बेचना। **भाडीकम्मे =** गाड़ी आदि किराये पर देना। **फोडीकम्मे =** पत्थर आदि फोड़कर कमाना। **दन्तवाणिज्जे =** दाँत आदि का व्यापार करना। **लक्खवाणिज्जे =** लाख आदि का व्यापार करना। **रसवाणिज्जे =** शराब आदि रसों का व्यापार। **केसवाणिज्जे =** दास-दासी, पशु आदि का व्यापार। **विसवाणिज्जे =** विष, सोमल, संखिया आदि तथा शस्त्रादि का व्यापार करना। **जंतपीलणकम्मे =** तिल आदि पीलने के यन्त्र चलाना। **निल्लंछणकम्मे =** नपुंसक बनाने का काम करना। **दवग्गिदावणया =** जंगल में आग लगाना। **सरदह-तलाय-सोसणया =** सरोवर तालाब आदि सुखाना। **असई-जण-पोसणया =** वैश्या आदि का पोषण कर दुष्कर्म से द्रव्य कमाना।।7।।

भावार्थ-मैंने शरीर पोंछने के अंगोछे आदि वस्त्र का, दातौन करने का, आँवला आदि फल से बाल

धोने, तेल आदि की मालिश करने का, उबटन करने का, स्नान करने के जल का, वस्त्र पहनने का, चंदनादि का लेपन करने का, पुष्प सूंघने का, आभूषण पहनने का, धूप जलाने का, दूध आदि पीने का, चावल गेहूँ आदि का, मूँग आदि की दाल का, विगय (दूध, दही, घी, गुड़ आदि) का, शाक-भाजी कका, मधुर रस का, जीमने का, पीने के पानी का, इलायची-लौंग इत्यादि मुख को सुगंधित करने वाली वस्तुओं का, घोड़ा, हाथी, रथ आदि सवारी का, जूते आदि पहनने का, शय्या-पलंग आदि का, सचित्त वस्तु के सेवन का तथा इनसे बचे हुए बाकी के सभी पदार्थों का जो परिमाण किया है, उसके सिवाय उपभोग तथाा परिभोग में आने वाली वस्तुओं का त्याग करता हूँ।

उपभोग-परिभोग दो प्रकार का है-भोजन (भोग्य पदार्थ) संबंधी और कर्म (जिन व्यापारों से भोग्य पदार्थों की प्राप्ति होती है उन वाणिज्य) संबंधी। भोजन संबंधी उपभोग-परिभोग के पाँच और कर्म संबंधी उपभोग परिभोग के पन्द्रह, इस तरह इस व्रत के कुल बीस अतिचार होते हैं। वे निम्न प्रकार से हैं, उनकी आलोचना करता हूँ। यदि मैंने-1. मर्यादा से अधिक सचित्त वस्तु का आहार किया हो, 2. सचित्त वृक्षादि के साथ लगे हुए गोंद आदि पदार्थों का आहार किया हो, 3. अग्नि से बिना पकी हुई वस्तु का भोजन किया हो, 4. अधपकी वस्तु का भोजन किया हो, 5. तुच्छ औषधि का भक्षण किया हो तथा पन्द्रह कर्मादान का सेवन किया हो तो मैं उनकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो।

एक बार उपयोग में आने वाली वस्तु आहार आदि की गणना उपभोग में और बार-बार काम में आने वाली वस्त्र आदि वस्तु परिभोग में गिनी जाती है। जिनसे तीव्रतर कर्मों का आदान-ग्रहण बंधन होता है, वे व्यवसाय या धंधे कर्मादान हैं। उनकी संख्या पन्द्रह है और अर्थ इस प्रकार है-

1. इंगालकर्म-लकड़ियों के कोयले बनाने का, भड़भूंजे का, कुम्हार का, लौहार का, सुनार का, ठठेरे-कसेरे का और ईंट पकाने का, धंधा करना 'अंगार कर्म' कहलाता है।

2. वनकर्म-वनस्पतियों के छिन्न या अछिन्न पत्तों, फूलों या फलों को बेचना अनाज को दलने या पीसने का धंधा करना 'वनजीविका' है।

3. शकटकर्म-छकड़ा, गाड़ी आदि या उनके पहिया आदि अंगों को बनाने, बनवाने, चलाने तथा बेचने का धंधा करना 'शकटजीविका' है।

4. भाटककर्म-गाड़ी, बैल, भैंसा, गधा, ऊँट, खच्चर आदि पर भार लादने की अर्थात् इनमें भाड़ा किराया कमाकर आजीविका चलाना 'भाटकजीविका' है।

5. स्फोटकर्म-तालाब, कूप, बावड़ी आदि खुदवाने और पत्थर फोड़ने-तोड़ने आदि पृथ्वीकाय की प्रचुर हिंसा रूप कर्मों से आजीविका चलाना 'स्फोटजीविका है।

6. दंतवाणिज्य–हाथी के दांत, चमरी गाय के बाल, उलूक आदि के नाखून, शंख आदि की अस्थि, शेर–चीता आदि के चर्म और हंस आदि के रोम और अन्य त्रस जीवों के अंगों को उनके उत्पत्ति स्थान में जाकर लेना या पेशगी द्रव्य देकर खरीदना 'दंतवाणिज्य' कहलाता है।

7. लाक्षावाणिज्य–लाख, मेनसिल, नील, धातकी के फूल, छाल आदि टंकण–खाार आदि पाप के कारण हैं, अत: उनका व्यापार भी पाप का कारण है। यह 'लाक्षावाणिज्य' कर्मादान कहलाता है।

8–9. रस–केश वाणिज्य–मक्खन, चर्बी, मधु और मद्य आदि बेचना 'रसवाणिज्य' कहलाता है। कतिपय आचार्य घी, दूध, दही, शक्कर, गुड़ आदि के व्यापार को भी रसवाणिज्जे में शामिल करते हैं। और द्विपद में दास–नौकर आदि एवं चतुष्पद अर्थात् पशु–पक्षी आदि का विक्रय करने का धंधा करना 'केशवाणिज्य कहलाता है।

10. विषवाणिज्य–विष, शस्त्र, हल, यंत्र, लोहा और हरताल आदि प्राणघातक वस्तुओं का व्यापार करना 'विषवाणिज्य' कहलाता है।

11. यंत्रपीड़नकर्म–तिल, ईख, सरसों और एरंड आदि को पीलने का तथा रहट आदि चलाने का धंधा करना, तिलादि देकर तेल लेने का धंधा करना और इस प्रकार के यंत्रों को बनाकर आजीविका चलना 'यंत्रपीड़नकर्म' कहलाता है।

12. निर्लांछनकर्म–जानवरों के नाक बींधना–नत्थी करना, आंकना–डाम लगाना, बधिया–खस्सी करना, ऊँट आदि की पीठ गालना और कान का तथा गल–कंबल का छेदन करना 'निर्लांछनकर्म' कहा गया है।

13–14. दवदाव तथा सरशोषणकर्म[1]–आदत के वश होकर या पुण्य समझकर दव–जंगल में आग लगाना 'दव–दाव' कहलाता है और तालाब, नदी, द्रह आदि को सुखा देना 'सरशोषणकर्म' है।

15. असतीपोषणकर्म[1]–मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा एवं मयूर को पालना, दासी का पोषण करना, किसी को दास–दासी बनाकर रखना और पैसा कमाने के लिए दुश्शील स्त्रियों को रखना 'असती पोषणकर्म' कहलाता है।

8. आठवाँ अणट्ठादण्ड–विरमण व्रत चउव्विहे अणट्ठादंडे पण्णत्ते तं जहा–अवज्झाणायरिये, पमायायरिये, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड सेवन का पच्चक्खाण, जिसमें आठ आगार–आए वा, राए वा, नाए वा, परिवारे वा, देवे वा, नागे वा, जक्खे वा, भूए वा, एत्तिएहिं आगारेहिं अण्णत्थ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड विरमण व्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

1. योगशास्त्र में क्रम व नाम में कुछ अंतर है।

अन्वयार्थ–आठवाँ अणट्ठादण्ड = बिना प्रयोजन ऐसे काम करना जिसमें जीवों की हिंसा होती है। **विरमण व्रत =** निवृत्ति रूप व्रत लेता हूँ। **चउव्विहे अणट्ठा दंडे पण्णत्ते =** वे अनर्थ कार्य चार प्रकार के हैं। **तं जहा =** जो इस प्रकार हैं–, **अवज्झाणायरिये =** अपध्यान (आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान) का आचरण करने रूप। **पमायायरिये =** प्रमाद का आचरण करने रूप। **हिंसप्पयाणे =** हिंसा का साधन। **पावकम्मोवएसे =** पापकारी कार्य का उपदेश देने रूप। **एवं आठवाँ अणट्ठादण्ड =** इस प्रकार के आठवें व्रत में अनर्थ दंड का। **सेवन का पच्चक्खाण =** सेवन करने का त्याग करता हूँ। (सिवाय आठ आगार रखकर के जैसे) **आए वा =** आत्मरक्षा के लिए। **राए वा =** राजा की आज्ञा से। **नाए वा =** जाति जन के दबाव से। **परिवारे वा =** परिवार वालों के दबाव से, परिवार वालों के लिए। **देवे वा =** देव के उपसर्ग से। **नागे वा =** नाग के उपद्रव से। **जक्खे वा =** यक्ष के उपद्रव से। **भूए वा =** भूत के उपद्रव से। **एत्तिएहिं =** इस प्रकार के अनर्थ दण्ड का सेवन करना पड़े तो। **आगारेहिं =** आगार रखता हूँ। **अण्णत्थ =** उपरोक्त आगारों के सिवाय। **कंदप्पे =** कामविकार पैदा करने वाली कथा की हो, **कुक्कुइए =** भंड-कुचेष्टा की हो, **मोहरिए =** मुखरी वचन बोला हो यानी वाचालता से असभ्य वचन बोलना। **संजुत्ताहिगरणे =** अधिकरण जोड़ रखा हो। **उवभोगपरिभोगाइरित्ते =** उपभोग-परिभोग अधिक बढ़ाया हो।।8।।

भावार्थ–बिना प्रयोजन दोषजनक हिंसाकारी कार्य करना अनर्थदंड है। इसके चार भेद हैं–अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसादान और पापोपदेश। इष्ट संयोग व अनिष्ट वियोग की चिंता करना, दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार करना अर्थात् मन में किसी भी प्रकार का दुर्ध्यान करना अपध्यान है। असावधानी से काम करना, धार्मिक कार्यों को त्यागकर दूसरे कार्यों में लगे रहना प्रमादचर्या है। दूसरों को हल, ऊखल-मूसल, तलवार-बंदूक आदि बिना प्रयोजन हिंसा के उपकरण देना हिंसादान है। पाप कार्यों का दूसरों को उपदेश देना पापोपदेश है।

मैं इन चारों प्रकार के अनर्थदंड का त्याग करता हूँ। (यदि आत्मरक्षा के लिए, राजा की आज्ञा से, जाति के तथा परिवार के, कुटुम्ब के मनुष्यों के लिए, यक्ष, भूत आदि देवों के वशीभूत होकर अनर्थदंड का सेवन करना पड़े तो इनका आगार, अपवाद-छूट, रखता हूँ। इन आगारों के सिवाय) मैं जन्म पर्यंत अनर्थदंड का मन, वचन, काया से स्वयं सेवन नहीं करूँगा और न कराऊँगा। यदि मैंने काम जाग्रत करने वाली कथाएँ की हों, भांडों की तरह दूसरों को हँसाने के लिए हँसी-दिल्लगी की हो या दूसरों की नकल की हो, निरर्थक बकवाद किया हो, तलवार, ऊखल, मूसल आदि हिंसाकारी हथियारों या औजारों का निष्प्रयोजन संग्रह किया हो, मकान बनाने आदि आरंभ-हिंसा का उपदेश दिया हो, अपनी तथा कुटुम्बियों की आवश्यकताओं के सिवाय अन्न, वस्त्र आदि का संग्रह किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और मैं चाहता हूँ कि मेरे सब पाप निष्फल हों।

9. नवमाँ सामायिक व्रत–सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न

करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है सामायिक का अवसर आये, सामायिक करूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं नवमें सामायिक व्रत के पंच-अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ-सावज्जं जोगं = सावद्य (पापकारी) योगों का, **पच्चक्खामि =** प्रत्याख्यान करता हूँ। **जाव नियमं पज्जुवासामि =** जब तक सामायिक के नियम का पालन करूँ तब तक। **मणदुप्पणिहाणे =**मन से अशुभ विचार किये हों। **वयदुप्पणिहाणे =** अशुभ वचन बोले हों। **कायदुप्पणिहाणे =** शरीर से अशुभ कार्य किये हों। **सामाइयस्स सइ-अकरणया =** सामायिक की स्मृति नहीं रखी हो। **सामाइयस्स =** सामायिक को। **अणवट्ठियस्स करणया =** अव्यवस्थित रूप से किया हो।।9।।

भावार्थ-मैं मन, वचन, काया की दुष्ट प्रवृत्ति को त्यागकर जितने काल का नियम किया है, उसके अनुसार सामायिकव्रत का पालन करूँगा मन में बुरे विचार उत्पन्न नहीं होने से, कठोर या पापजनक वचन नहीं बोलने से, काया की हलन-चलन आदि क्रिया को रोकने से आत्मा में जो शांति समाधि उत्पन्न होती है, उसको सामायिक कहते हैं। इसलिये मैं नियम पर्यन्त मन, वचन, काया से पापजनक क्रिया न करूँगा और न दूसरों से करावऊँगा। यदि मैंने सामायिक के समय में बुरे विचार किए हों, कठोर वचन या पापजनक वचन बोले हों, अयतनापूर्वक शरीर से चलना-फिरना, हाथ-पाँव को फैलाना-संकोचना आदि क्रियाएँ की हों, सामायिक करने का काल याद न रखा हो तथा अल्पकाल तक या अनवस्थित रूप से जैसे-तैसे ही सामायिक की हो तो (तस्स मिच्छा मि दुक्कडं) मैं आलोचना करता हूँ। मेरा वह पाप सब निष्फल हो।

10. दसवाँ देसावगासिक व्रत-दिन प्रति प्रभात से प्रारम्भ करके पूर्वादिक छहों दिशाओं में जितनी भूमिका की मर्यादा रखी है, उसके उपरान्त पाँच आस्रव सेवन निमित्त स्वेच्छा काया से आगे जाने तथा दूसरों को भेजने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा तथा जितनी भूमिका की हद्द रखी है उसमें जो द्रव्यादि की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग-परिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं एगविहं तिविहेणं न करेमि, मणसा, वयसा, कायसा एवं दसवें देसावकासिक व्रत के पंच-अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापुग्गलपक्खेवे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ-देसावगासिक = मर्यादाओं का संक्षेप (कम) करना। **जाव अहोरत्तं =** एक दिन-रात पर्यन्त। **आणवणप्पओगे =** मर्यादा किये हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को आज्ञा देकर माँगना। **पेसवणप्पओगे =** परिमाण किये हुए क्षेत्र से आगे की वस्तु को मँगवाने के लिए या लेन-देन करने के लिए अपने नौकर आदि

को भेजना या सेवक के साथ वस्तु को बाहर भेजना। **सद्दाणुवाए =** सीमा से बाहर के मनुष्य को खाँस कर या और किसी शब्द के द्वारा अपना ज्ञान कराना। **रुवाणुवाए =** रूप दिखाकर सीमा से बाहर के मनुष्य को अपने भाव प्रकट किये हों। **बहिया-पुग्गल-पक्खेवे =** बुलाने के लिए कंकर आदि फेंकना।।10।।

भावार्थ-छठे दिग्व्रत के सदा के लिए जो दिशाओं का परिमाण किया है, देशावकाशिक व्रत में उसका प्रतिदिन संकोच किया जाता है। मैं उस संकोच किये गये दिशाओं के परिमाण से बाहर के क्षेत्र में जाने का तथा दूसरों को भेजने का त्याग करता हूँ। एक दिन और एक रात तक परिमाण की गई दिशाओं से आगे मन, वचन, काया से न स्वयं जाऊँगा और न दूसरों को भेजूँगा। मर्यादित क्षेत्र में द्रव्यादि का जितना परिमाण किया है, उस परिमाण के सिवाय उपभोग-परिभोग निमित्त से भेजने का त्याग करता हूँ। मन, वचन, काया से मैं उनका सेवन नहीं करूँगा। देशावकाशिक व्रत की आराधना में यदि मैंने मर्यादा से बाहर की कोई वस्तु मंगाई हो, मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में किसी वस्तु को मंगाने के लिए या लेन-देन करने के लिए किसी को भेजा हो, मर्यादा से बाहर के क्षेत्र में रहने वाले मनुष्य को शब्द करके अपना ज्ञान कराया हो, मर्यादा से बाहर के मनुष्यों को बुलाने के लिए अपना या पदार्थ का रूप दिखाया हो या कंकर आदि फेंककर अपना ज्ञान कराया हो तो मैं आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

11. ग्यारहवाँ पडिपुण्ण पौषध व्रत-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं का पच्चक्खाण, अबंभ सेवन का पच्चक्खाण, अमुकमणि सुवर्ण का पच्चक्खाण, मालावणग्गविलेवण का पच्चक्खाण, सत्थमूसलादिक सावज्जजोग सेवन का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, पौषध का अवसर आये, पौषध करूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं ग्यारहवाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत के पंच-अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं-1. अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सेज्जासंथारए, 2. अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सेज्जा-संथारए, 3. अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चार-पासवण-भूमि, 4. अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चार-पासवण-भूमि, 5. पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

अन्वयार्थ-असणं = दाल-भात, रोटी, अन्न तथा शरबत, दूध आदि विगय। **पाणं =** पानी। **खाइमं =** फल मेवा आदि। **साइमं =** लोंग, सुपारी, इलायची, चूर्ण आदि भोजन के बाद खाने लायक स्वादिष्ट पदार्थ। **अबंभ सेवन =** मैथुन (कुशील-व्यभिचार) सेवन। **अमुकमणि सुवर्ण =** मणि, मोती तथा सोने-चाँदी आभूषण आदि। **माला =** फूल माला। **वणग्ग =** सुगन्धित चूर्ण आदि। **विलेवण =** चन्दन आदि का लेप। **सत्थ =** तलवार आदि शस्त्र। **मूसलादिक =** मूसल आदि औजार। **सावज्जजोग =** पाप सहित व्यापार। **शय्यासंथारा =** शयन आदि का आसन। **अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय- =** पौषध में शय्या संथारा न देखा हो या अच्छी, **सेज्जासंथारए =** तरह से न देखा हो। **अप्पमज्जिय-**

दुप्पमज्जिय– = प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह से न, **सेज्जासंथारए** = किया हो। **अप्पडिलेहिय–दुप्पडिलेहिय–** = उच्चार पासवण की भूमि को न देखी हो, **उच्चार–पासवण–भूमि** = या अच्छी तरह से न देखी हो। **अप्पमज्जिय–दुप्पमज्जिय–** = पूँजी न हो या अच्छी तरह से न पूँजी हो। **उच्चार–पासवण–भूमि पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया** = उपवास युक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।।11।।

भावार्थ–मैं प्रतिपूर्ण पौषधव्रत के विषय में एक दिन एवं रात के लिए अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अब्रह्मचर्य सेवन का, अमुक मणि–सुवर्ण आदि के आभूषण पहनने का, फूलमाला पहनने का चूर्ण और चंदनादि के लेप करने का, तलवार आदि शस्त्र और हल, मूसल आदि औजारों के प्रयोग संबंधी जितने सावद्य व्यापार हैं, उन सबका त्याग करता हूँ। यावत् एक दिन–रात पौषधव्रत का पालन करता हुआ मैं उक्त पाप क्रियाओं को मन, वचन, काया से नहीं करूँगा और न अन्य से करावाऊँगा, ऐसी मेरी श्रद्धा–प्ररूपणा तो है किंतु पौषध का समय आने पर जब उसका पालन करूँगा तब शुद्ध होऊँगा। पौषधव्रत के समय शय्या के लिए जो कुश, कम्बल आदि आसन हैं उनका मैंने प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो, मल–मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन न किया हो अथवा अच्छी तरह से न किया हो तथा सम्यक् प्रकार आगमोक्त मर्यादा के अनुसार पौषध का पालन न किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा सब पाप निष्फल हो।

12. बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत–समणे निग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं, असण–पाण–खाइम–साइम–वत्थ–पडिग्गह–कंबल–पायपुंछणेणं, पडिहारिय–पीढ–फलग–सेज्जासंथारएणं, ओसह–भेसज्जेणं, पडिलाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, साधु–साध्वियों का योग मिलने पर निर्दोष दान दूँ, तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं बारहवें अतिथि संविभाग व्रत के पंच–अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–सचित्त–निक्खेवणया, सचित्त–पिहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।।

अन्वयार्थ–अतिथि संविभाग = जिसके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है ऐसे अतिथि साधु को अपने लिए तैयार किये भोजन आदि में से कुछ हिस्सा देना। **समणे** = श्रमण साधु। **निग्गंथे** = निर्ग्रन्थ पंच महाव्रत धारी को। **फासुयएसणिज्जेणं** = प्रासुक (अचित्त) ऐषणिक (उद्गम आदि दोष रहित)। **असण–पाण–खाइम–साइम–** = असन, पान, खादिम, स्वादिम। **वत्थ–पडिग्गह–कम्बल–** = वस्त्र, पात्र, कंबल। **पायपुंछणेणं** = पादपोंछन (पाँव पोंछने का रजोहरण आदि)। **पाडिहारिय–पीढ–फलग–** = वापिस लौटा देने योग्य। **सेज्जासंथारएणं** = (जिस वस्तु को साधु कुछ काल तक रखकर बाद में वापिस लौटा देते हैं)। चौकी, पट्टा, शय्या के लिए संस्तारक तृण आदि का आसन। **ओसह–भेसज्जेणं**

= औषध और भेषज (कई औषधियों के संयोग से बनी हुई गोलियाँ) आदि। **पडिलाभेमाणे =** देता हुआ (बहराता हुआ)। **विहरामि =** रहूँ। **सचित्त-निक्खेवणया =** साधु को नहीं देने की बुद्धि से अचित्त वस्तु को सचित्त जल आदि पर रखना। **सचित्त-पिहणया =** साधु को नहीं देने की बुद्धि से अचित्त वस्तु को सचित्त से ढक देना। **कालाइक्कमे =** भिक्षा का समय टाल कर भावना भायी हो। **परववएसे =** आप सूझता होते हुए दूसरों से दान दिलाया हो। **मच्छरियाए =** मत्सर भाव से दान दिया हो।।12।।

भावार्थ–मैं अतिथिसंविभागव्रत का पालन करने के लिए निर्ग्रन्थ साधुओं को अचित्त, दोष रहित अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार का, वस्त्र-पात्र, कंबल, पादपोंछन, चौकी, पट्टा, संस्तारक औषधि आदि का साधु-साध्वी का योग मिलने पर दान दूँ तब शुद्ध होऊँ, ऐसी मेरी श्रद्धा प्ररूपणा है। यदि मैंने साधु के योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखा हो, अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढका हो, भोजन के समय से पहले या पीछे साधु को भिक्षा के लिए प्रार्थना की हो, दान देने योग्य वस्तु को दूसरे की बताकर साधु को दान नहीं दिया हो, दूसरे को दान देते ईर्ष्या की हो, दान देने योग्य वस्तु को दूसरे की बताकर साधु को दान नहीं दिया हो दूसरे को दान देते ईर्ष्या की हो, मत्सरभाव से दान दिया हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

बड़ी संलेखना का पाठ

अह भंते ! अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणा, झूसणा, आराहणा, पौषधशाला पूँज पूँज कर, उच्चारपासवण भूमि पडिलेह पडिलेह कर, गमणागमणे पडिक्कम पडिक्कम कर, दर्भादिक संथारा संथार संथार कर, दर्भादिक संथारा दुरूह दुरूह कर, पूर्व तथा उत्तर दिशा सम्मुख पल्यंकादिक आसन से बैठ-बैठ कर, करयल-संपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि-कट्टु एवं वयासी-नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं, ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान को नमस्कार करके, 'नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपाविउकामाणं' जयवन्ते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र में विचरते हुए तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करके अपने धर्माचार्य जी को नमस्कार करता हूँ। साधु प्रमुख चारों तीर्थों को खमा के, सर्व जीव राशि को खमाकर के, पहले जो व्रत आदरे हैं, उनमें जो अतिचार दोष लगे हैं, वे सर्व आलोच के, पडिक्कम करके, निंद के, निःशल्य होकर के, सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिण्णादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, सव्वं कोहं माणं जाव मिच्छादंसणसल्लं सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि, मणसा, वयसा, कायसा, ऐसे अठारह पापस्थान पच्चक्ख के, सव्वं असणं, पाणं,

खाइमं, साइमं, चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, ऐसे चारों आहार पच्चक्ख के जं पियं इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, धिज्जं, विसासियं, सम्मयं, अणुमयं, बहुमयं, भण्डकरण्डगसमाणं, रयणकरण्डगभूयं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसमसगा, मा णं वाइयं, पित्तियं, कप्फियं, संभीमं सण्णिवाइयं विविहा रोगायंका परीसहा उवसग्गा फासा फुसंतु एवं पिय णं चरमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु ऐसे शरीर को वोसिरा के कालं अणवकंखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररुपणा तो है, फरसना करूँ तब शुद्ध होऊँ, ऐसे अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणाए पंच–अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोउं–इहलोगा–संसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणा–संसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।

अन्वयार्थ–अह भंते ! = इसके बाद हे भगवान !, **अपच्छिम–मारणंतिय– =** सबके पश्चात् मृत्यु के समीप होने, **संलेहणावाली संलेखना =** अर्थात् जिसमें शरीर, कषाय, ममत्व आदि कृश (दुर्बल) किये जाते हैं, ऐसे तप विशेष के, **झूसणा =** संलेखना का सेवन करना, **आराहणा =** संलेखना की आराधना, **पौषधशाला =** धर्मस्थान अर्थात् पौषधशाला, **पडिलेहिय =** प्रतिलेखन कर, **उच्चार–पासवण–भूमि =** मलमूत्र त्यागने की भूमि का, **पडिलेह कर =** प्रतिलेखन अर्थात् देखकर के, **गमणागमणे =** जाने आने की क्रिया का, **पडिक्कम कर =** प्रतिक्रमण कर, **दर्भादिक संथारा =** डाभ (तृण, घास) का संथारा, **संथार कर =** बिछाके, **दुरूह कर =** संथारे पर आरूढ़ होकर के, **करयल–संपरिग्गहियं =** दोनों हाथ जोड़कर, **सिरसावत्तं =** मस्तक से आवर्तन (मस्तक पर जोड़े हुए हाथों को तीन बार अपनी बायीं ओर से घुमा) करके, **मत्थए अंजलि–कट्टु =** मस्तक पर हाथ जोड़कर, **एवं वयासी =** इस प्रकार बोले, **नि:शल्य =** माया, निदान (नियाणा) और मिथ्यादर्शन इन तीन शल्यों से रहित, **अकरणिज्जं =** नहीं करने योग्य, **जं पियं इमं सरीरं =** और जो भी यह शरीर, **इट्ठं =** इष्ट, **कंतं =** कान्तियुक्त, **पियं =** प्रिय, प्यारा, **मणुण्णं =** मनोज्ञ, मनोहर, **मणामं =** मन के अनुकूल , **धिज्जं =** धैर्यशाली/धारण करने योग्य, **विसासियं =** विश्वास करने योग्य, **सम्मयं =** मानने योग्य/सम्मत, **अणुमयं =** विशेष सम्मान को प्राप्त, **बहुमयं =** बहुमत (बहुत माननीय) जो देह, **भण्ड–करण्डगसमाणं =** आभूषण के करण्डक (करण्डिया डिब्बा) के समान, **रयण–करण्डगभूयं =** रत्नों के करण्डक के समान जिसे, **मा णं सीयं =** शीत (सर्दी) न लगे, **मा णं उण्हं =** उष्णता (गर्मी) न लगे, **मा णं खुहा =** भूख न लगे, **मा णं पिवासा =** प्यास न लगे, **मा णं वाला =** सर्प न काटे, **मा णं चोरा =** चोरों का भय न हो, **मा णं दंसमसगा =** डांस व मच्छर न सतावें,

वाइयं = वात, **पित्तियं** = पित्त, **कप्फियं** = कफरूप त्रिदोष, **संभीमं** = भयंकर, **सण्णिवाइयं** = सन्निपात रोग न हो, **विविहा** = अनेक प्रकार के, **रोगायंका** = रोग (संबंधी पीड़ाएँ) और आतंक न आवे, **परीसहा** = क्षुधा आदि परीषह, **उवसग्गा** = उपसर्ग। देव, तिर्यंच आदि द्वारा दिये गये कष्ट, **फासा फुसंतु** = स्पर्श न करें ऐसा माना किन्तु अब, **एवं पिय णं** = इस प्रकार के प्यारे देह को, **चरमेहिं** = अन्तिम, **उस्सास-णिस्सासेहिं** = उच्छवास, निःश्वास तक, **वोसिरामि** = त्याग करता हूँ, **त्ति कट्टु** = ऐसा करके, **कालं अणवकंखमाणे** = काल की आकांक्षा (इच्छा) नहीं करता हुआ, **विहरामि** = विहार करता हूँ, विचरता हूँ, **इहलोगासंसप्पओगे** = इस लोक में राजा चक्रवर्ती आदि के सुख की कामना करना, **परलोगासंसप्पओगे** = परलोक में देवता इन्द्र आदि के सुख की कामना करना, **जीवियासंसप्पओगे** = महिमा प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की आकांक्षा करना, **मरणासंसप्पओगे** = कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना, **कामभोगासंसप्पओगे** = कामभोग की अभिलाषा करना।

भावार्थ-इसके बाद हे भगवान ! सबके पश्चात् मृत्यु के समीप होने वाली संलेखना अर्थात् जिसमें शरीर, कषाय, ममत्व आदि कृश (दुर्बल) किये जाते हैं, ऐसे तप विशेष के संलेखना का सेवन करना। संलेखना की आराधना धर्मस्थान अर्थात् पौषधशाला प्रतिलेखन कर मलमूत्र त्यागने की भूमि का प्रतिलेखन अर्थात् देखकर के जाने आने की क्रिया का प्रतिक्रमण कर डाभ (तृण, घास) का संथारा बिछाके संथारे पर आरूढ़ होकर के दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से आवर्तन (मस्तक पर जोड़े हुए हाथों को तीन बार अपनी बायीं ओर से दायें घुमा) करके मस्तक पर हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले-माया, निदान (नियाणा) और मिथ्यादर्शन इन तीन शल्यों से रहित नहीं करने योग्य और जो भी यह शरीर इष्ट कान्तियुक्त प्रिय, प्यारा मनोज्ञ, मनोहर मन के अनुकूल धैर्यशाली। धारण करने योग्य विश्वास करने योग्य मानने योग्य। सम्मत विशेष सम्मान को प्राप्त बहुमत (बहुत माननीय) जो देह आभूषण के करण्डक (करण्डिया डिब्बा) के समान रत्नों के करण्डक के समान जिसे शीत (सर्दी) न लगे, उष्णता (गर्मी) न लगे, भूख न लगे, प्यास न लगे, सर्प न काटे, चोरों का भय न हो, डाँस व मच्छर न सतावें, वात पित्त कफरूप त्रिदोष भयंकर सन्निपात रोग न हो, अनेक प्रकार के रोग (संबंधी पीड़ाएँ) और आतंक न आवे क्षुधा आदि परीषह उपसर्ग (देव, तिर्यंच आदि द्वारा दिये गये कष्ट) स्पर्श न करें ऐसा माना किन्तु अब इस प्रकार के प्यारे देह को अन्तिम उच्छवास, निःश्वास तक त्याग करता हूँ ऐसा करके काल की आकांक्षा (इच्छा) नहीं करता हुआ विहार करता हूँ, विचरता हूँ इस लोक में राजा चक्रवर्ती आदि के सुख की कामना करना परलोक में देवता इन्द्र आदि के सुख की कामना करना, महिमा प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की आकांक्षा करना, कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना, कामभोग की अभिलाषा करना।

तस्स धम्मस्स का पाठ

मूल– **तस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए तिविहेणं पडिक्कंतो वंदामि जिण–चउव्वीसं।**

संस्कृत छाया– तस्य धर्मस्य केवलिप्रज्ञप्तस्य अभ्युत्तिष्ठामि आराधनायै विरतोऽस्मि, विराधनया त्रिविधेन प्रतिक्रामन् वंदामि जिनचतुर्विंशतिम्।

अन्वयार्थ–तस्स धम्मस्स = उस धर्म की जो। **केवलिपण्णत्तस्स =** केवली भाषित है उस ओर। **अब्भुट्ठिओमि =** उद्यत हुआ हूँ। **आराहणाए =** आराधना करने के लिए। **विरओमि =** विरत (अलग) होता हूँ। **विराहणाए =** विराधना से। **तिविहेणं =** मन, वचन, काया द्वारा। **पडिक्कंतो =** निवृत्त होता हुआ। **वंदामि =** वन्दना करता हूँ। **जिण–चउव्वीसं =** चौबीस तीर्थङ्करों को।

अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र का पाठ

ऐसे अढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में तथा बाहर, श्रावक–श्राविका दान देवे, शील पाले, तपस्या करे, शुद्ध भावना भावे, संवर करे, सामायिक करे, पौषध करे, प्रतिक्रमण करे, तीन मनोरथ चिन्तवे, चौदह नियम चितारे, जीवादि नव पदार्थ जाने, ऐसे श्रावक के इक्कीस गुण करके युक्त, एक व्रतधारी जाव बारह व्रतधारी, भगवन्त की आज्ञा में विचरे ऐसे बड़ों से हाथ जोड़, पैर पड़कर, क्षमा माँगता हूँ। आप क्षमा करें, आप क्षमा करने योग्य हैं और शेष सभी को खमाता हूँ।

❑❑❑

परिशिष्ट-3

आवश्यक सम्बन्धी विचारणा

(1) आवश्यक के शब्दार्थ-(अ) अवश्यकरणाद् आवश्यकम् अर्थात् जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है। साधु और श्रावक दोनों ही नित्य प्रति अर्थात् प्रतिदिन क्रमश: दिन और रात्रि के अन्त में सामायिकादि की साधना करते हैं, अत: वह साधना आवश्यक पद वाली है। अनुयोग द्वार सूत्र में भी कहा है-

'समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अंतो अहो णिसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम।।'

(आ) आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्-प्राकृत शैल्या आवस्सयं-प्राकृत भाषा में आधार वाचक उपाश्रय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है, जो गुणों की आधार भूमि हो, वह आवस्सय आ-पाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता, आत्मनिरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है, अत: वह उपाश्रय भी कहलाता है।

(इ) गुणानाम् वश्यमात्मानं करोतीति-जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर गुणों के अधीन करे, वह आवश्यक है अथवा **'ज्ञानादि गुणानाम् आसंमताद् वश्या इन्द्रियकषायादि भावशत्रवो यस्माद् तद् आवश्यकम्।'** आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि इन्द्रिय और कषाय आदि भाव शत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के वश किए जाए अर्थात् पराजित किए जाय, वह आवश्यक है।

(ई) ज्ञानादि गुणकदंबक मोक्षो वा आसमंताद् वश्यं क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम् अर्थात् ज्ञानादि गुण समूह व मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया जाय, वह आवश्यक है।

(उ) गुण शून्यमात्मानं गुणैरावासयति इति आवासकम् अर्थात् गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से वासित करे वह आवश्यक है। गुणों से वासित करने का अर्थ गुणों से युक्त करना है।

(ऊ) गुणैर्वा आवासकं-अनुरंजकं वस्त्र धूपादिवत् अर्थात् जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे वह आवासक है। जैसे वस्त्र, धूपादि से अनुरंजित किया जाता है।

(ए) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति-आच्छादयति इति आवासकम् अर्थात् जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित-आच्छादित करे, वह आवासक है। जब आत्मा ज्ञानादि गुणों के द्वारा आच्छादित रहेगा तो दुर्गुण रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी।

(2) आवश्यक के पर्यायवाची शब्द-एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं। अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के 8 पर्यायवाची शब्द बताए गये हैं-

आवस्सयं अवस्स करणिज्जं, धुव निग्गहो विसोही य।
अज्झयणे छक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो।।

(अ) आवश्यकं-अवश्यं क्रियते इति आवश्यकं अर्थात् जो साधना चतुर्विध संघ के द्वारा अवश्य करने योग्य हो, उसे आवश्यक कहते हैं। (आ) अवश्यकरणीय-मुमुक्षु साधकों के द्वारा नियम पूर्वक अनुष्ठेय (करने योग्य) होने के कारण अवश्य करणीय है। (इ) ध्रुव निग्रह-अनादि होने के कारण कर्मों को ध्रुव कहते हैं। कर्मों का फल जन्म, जरा, मरणादि संसार भी अनादि है। अत: वह भी अनादि कहलाता है। जो कर्म और कर्मफल स्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है। (ई) विशोधि-कर्मों से मलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक विशोधि कहलाता है। (उ) अध्ययन षट्वर्ग-आवश्यक सूत्र के सामायिक आदि 6 अध्ययन हैं, अत: अध्ययन षट्वर्ग है। (ऊ) न्याय-अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है तथा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन (दूर) करने के कारण भी न्याय कहलाता है। (ए) आराधना-मोक्ष की आराधना का हेतु होने से आराधना है। (ऐ) मार्ग-मोक्षपुर का प्रापक (मार्ग-उपाय) होने से मार्ग है।

(3) आवश्यक के छ: प्रकार-अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक के प्रकार बताए गये हैं-'सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सगो पच्चक्खाणं' (1) सामायिक-समभाव की साधना। (2) चतुर्विंशतिस्तव-वीतराग देव की स्तुति। (3) वन्दन-गुरुदेवों को वन्दन। (4) प्रतिक्रमण-संयम में लगे दोषों की आलोचना। (5) कायोत्सर्ग-शरीर के ममत्व का त्याग। (6) प्रत्याख्यान-नये व्रतों का ग्रहण जैसे चौविहार, नवकारसी, पौरुषी आदि का ग्रहण। अनुयोगद्वार सूत्र में 6 आवश्यकों के अर्थाधिकार का उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है-

'सावज्ज जोग-विरई, उक्कित्तणं गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव।।'

(1) सावद्य योग विरति-प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। सावद्य योगों का त्याग करना ही सामायिक है। **(2) उत्कीर्तन**-तीर्थङ्कर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों की आत्मा शुद्धि के लिए सावद्ययोग विरति का उपदेश दे गये हैं। अत: उनके गुणों का कथन करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का अर्थाधिकार है। **(3) गुणवत्प्रतिपत्ति**-अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों के धारक संयमी गुणवान हैं, उनकी वन्दनादि के द्वारा उचित नय प्रतिपत्ति करना गुणवत्प्रतिपत्ति है। यह वन्दन आवश्यक है। **(4) स्खलित निंदना**-संयम क्षेत्र से विचरण करते हुए साधक से प्रमादादि के कारण स्खलना हो जाती है, उनकी शुद्ध बुद्धि से संवेग की परमोत्तम भावना में पहुँचकर निंदा करना स्खलित निंदना है। दोष को दोष मानकर उससे पीछे हटना प्रतिक्रमण अर्थाधिकार है। **(5) व्रण चिकित्सा**-

कायोत्सर्ग का ही दूसरा नाम व्रणचिकित्सा है। स्वीकृत-चारित्र साधना में जब कभी अतिचार रूप दोष लग जाता है तो एक प्रकार का भावव्रण (घाव) हो जाता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो उस भाव व्रण पर चिकित्सा का काम करता है। **(6) गुणधारणा**–प्रत्याख्यान का दूसरा पर्यायवाची गुणधारणा है। कायोत्सर्ग के द्वारा भावव्रण के ठीक हो जाने पर प्रत्याख्यान के द्वारा फिर उस शुद्ध स्थिति को पुरिपुष्ट किया जाता है। किसी भी त्याग रूप गुण को निरतिचार रूप से धारण करना गुण धारणा है।

(4) आवश्यक के भेद–आवश्यक के भेद-नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। द्रव्यावश्यक के दो भेद-आगमतो द्रव्यावश्यक (2) नो आगमतो द्रव्यावश्यक।

आगमतो द्रव्यावश्यक–जस्स णं आवस्सए ति पयं (1) सिक्खियं (2) ठियं (3) जियं (4) मियं (5) परिजियं (6) नामसमं (7) घोससमं (8) अहीणक्खरं (9) अणच्चक्खरं (10) अव्वाइद्धक्खरं (11) अक्खलियं (12) अमिलियं (13) अवच्चामेलियं (14) पडिपुण्णं (15) पडिपुण्णघोसं (16) कंठोट्ठविप्पमुक्कं (17) गुरुवायणोवगयं से णं तत्थ (18) वायणाए (19) पुच्छणाए (20) परियट्टणाए (21) धम्मकहाए णो अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु।

जिस किसी ने आवश्यक ऐसा पद शुद्ध सीखा है, स्थिर किया है, पूछने पर शीघ्र उत्तर दिया है, पद अक्षर की संख्या का सम्यक् प्रकार से जानपना किया है, आदि से अन्त तक तथा अन्त से आदि तक पढ़ा है, अपने नाम सदृश पक्का किया है। उदात्त-अनुदात्तादि घोष रहित अक्षर, बिन्दु, मात्रा हीन नहीं, अधिक नहीं, अधिक अक्षर तथा उलट पुलटकर न बोले हो, बोलते समय अटके नहीं हो, मिले हुए अक्षर नहीं बोले हों, एक पाठ को बार-बार नहीं बोला है, सूत्र सदृश पाठ को अपने मन से बनाकर सूत्र से जोड़कर नहीं बोला हो, काना मात्रादि परिपूर्ण हो, कानामात्रादि परिपूर्ण घोष सहित हो, कण्ठ ओष्ठ से न मिला हुआ यानि प्रकट हो, गुरु की दी हुई वाचना से पढ़ा हो, दूसरों को वाचना देता हो, प्रश्न पूछता हो, बारंबार याद करता हो, धर्मोपदेश देता हो, इन 21 बोलों सहित है, परन्तु उसमें उपयोग नहीं है, उसे आगम से द्रव्यावश्यक कहते हैं, क्योंकि जो उपयोग रहित होता है वह द्रव्यावश्यक कहा जाता है।

नैगम नय के मत से एक पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे तो एक द्रव्यावश्यक, दो पुरुष करे तो दो द्रव्यावश्यक इत्यादि जितने पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे उनको उतने ही द्रव्यावश्यक कहता है। इसी प्रकार व्यवहार नय भी कहता है। संग्रह नय के मत से एक पुरुष या बहुत पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे, उन सबको आगम से एक द्रव्यावश्यक कहता है। ऋजुसूत्र नय के अभिप्राय से एक पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे उसे द्रव्यावश्यक परन्तु जुदे-जुदे उपयोग रहित आवश्यक करने वालों को यह नय आगम से द्रव्यावश्यक नहीं मानता है। क्योंकि यह नय अतीत अनागत को छोड़कर केवल वर्तमान को ही मुख्य कर उपयोग रहित अपने ही आवश्यक को आगम से एक द्रव्यावश्यक मानता है। जैसे स्वधन (अपना धन) शब्द,

समभिरुढ, एवंभूत ये तीन नय वाले जो आवश्यक जानकार हैं और उपयोग रहित हो, उसे आवश्यक नहीं मानते हैं। क्योंकि जानकार है वह उपयोग रहित नहीं होता और जो उपयोग रहित है वह जानकार नहीं होता इसलिये ये आगम से द्रव्यावश्यक ही नहीं मानते हैं।

नो आगमतो द्रव्यावश्यक–(1) ज्ञ शरीर नोआगम से द्रव्यावश्यक–जैसे कोई पुरुष आवश्यक इस सूत्र के अर्थ का जानकार था, वह काल धर्म को प्राप्त हो गया। उसके मृतक शरीर द्वारा जिनोपदिष्ट भाव से आवश्यक इस सूत्र के अर्थ का जानकार था, वह काल धर्म को प्राप्त हो गया। उसके मृतक शरीर द्वारा जिनोपदिष्ट भाव से आवश्यक इस सूत्र का अर्थ सामान्य या विशेष या समस्त प्रकार के भेदानुभेदों द्वारा प्ररूपता था, तथा क्रिया विधि द्वारा सम्यक् प्रकार दिखलाता था, जैसे किसी घड़े में पहले शहद या घी रखा था, अब खाली हो जाने पर भी उस घड़े को देखकर कोई कहे कि वह शहद या घी का घड़ा था इत्यादि।

(2) भव्य शरीर नोआगम से द्रव्यावश्यक–जैसे किसी श्रावक के घर पर लड़के का जन्म हुआ, उसे देखकर कोई कहे कि यह लड़का इस शरीर से जिनोपदिष्ट भाव वाले आवश्यक इस सूत्र का जानकार भविष्यकाल में होगा। जैसे नये घड़े को देखकर कोई कहे कि यह शहद या घी का घड़ा होगा इत्यादि।

(3) तद् (ज्ञ शरीर, भव्य शरीर) व्यतिरिक्त नोआगम से द्रव्यावश्यक–इसके तीन भेद–**(अ) लौकिक–**जैसे कोई राजेश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति आदि का प्रभात यावत् जाज्वल्यमान सूर्य उदय के समय मुँह धोना, दंत प्रक्षालन, तेल लगाना, स्नान, मज्जन करना, सर्षप, दूब आदि मांगलिक उपचारों का करना, आरिसे में मुख देखना, धूप, पुष्प माला, सुगन्ध, ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण सब वस्तुओं द्वारा शरीर का शृङ्गार करके नित्य प्रति राजसभा, पर्वत या बाग–बगीचे में जाना, ये लौकिक तद् व्यतिरिक्त नो आगमत: द्रव्यावश्यक है। **(ब) कुप्रावचनिक ज्ञ शरीर–** 'चरग चीरिग चम्म खंडिअभिक्खोडं–पंडुरग गोअम गोव्वइय गिहिधम्म धम्मचिंतग अविरुद्ध विरुद्ध वुड्ढ सावगप्पभिइओ पासउत्था कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलंते इंदस्स वा खंदस्स वा रुंदस्स वा सिवस्स वा वेसमणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जक्खस्स वा भूयस्स वा मुगंदस्स वा अज्जाए वा दुग्गाए वा, कोट्टकिरियाए वा उवलेवणसंमज्जणआवरि–सणधूवपुप्फगंधमल्लाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेंति से ते कुप्पावणियं दव्वावस्सयं (अनु. 20)। (1) खाते हुए फिरने वाले (2) रास्ते में पड़े हुए चीथड़ों को पहनने वाले (3) चर्म के पहनने वाले (4) भिक्षा माँगकर खाने वाले (5) त्वचा पर भस्म लगाने वाले (6) बैल को रमाकर आजीविका करने वाले (7) गाय की वृत्ति से चलने वाले (8) गृहस्थ धर्म को ही कल्याणकारी मानने वाले (9) यज्ञादि धर्म की चिन्ता करने वाले (10) विनयवादी (11) नास्तिकवादी (12) तापस (13) ब्राह्मण प्रमुख (14) पाखण्ड मार्ग पर चलने वालों का प्रभात पहले यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय के समय इन्द्र के स्थान पर, स्कन्द (कार्तिकेय) के स्थान पर, महादेव के स्थान पर, व्यन्तर विशेष के स्थान पर, वैश्रमण के स्थान पर, यक्ष व भूत (व्यंतर विशेष) के स्थान पर, बलदेव के स्थान पर, आर्या प्रशान्त रूप देवी के स्थान पर, महिषारुढ़ देवी के

स्थान पर गोबरादि से लीपना, संमार्जन करना, सुगन्धि जल छिड़कना, धूप देना, पुष्प चढ़ाना, गंध देना, सुगन्ध माल्य पहिनाना इत्यादि द्रव्यावश्यक करते हैं। इति कुप्रावचनिक ज्ञ शरीर द्रव्यावश्यक। **(स) लोकोत्तर ज्ञ शरीर** = 'जे इमे समणगुणमुक्कजोगी, छक्कायणिरणुकंपा, हया इव उद्दामा, गया इव णिरंकुसा, छट्टा, मट्ठा, तुपोट्ठा, पंडरपडपाउरणा, जिणाण मणाणाए सच्छंदं विहरिऊण उभओ कालं आवस्सयस्स उवट्ठंति। से तं लोगुत्तरियं दव्वावस्सयं' = जो ये साधु के 27 गुणों तथा शुभयोगों से रहित हैं। षट्काय की अनुकम्पा से रहित हैं, बिना लगाम के घोड़े की तरह उतावले चलने वाले हैं, अंकुश रहित हस्तिवत् मदोन्मत्त हैं, फेनादि किसी द्रव्य से सुहाली करने के लिए जंघाओं को घिसने वाले हैं, तेल जल्ल आदि से शरीर के केशों की रक्षादि के लिए मदन (मेण) से होठों को वेष्टित रखने वाले हैं, धोए हुए सफेद वस्त्रों को पहिनने वाले हैं, तीर्थङ्करों की आज्ञा से बाहर हैं, स्वच्छन्द मति से विचरते हुए जो दोनों वक्त आवश्यक करते हैं। लोकोत्तर तद्व्यतिरिक्त नोआगमत: से द्रव्यावश्यक। इति द्रव्यावश्यक सम्पूर्ण।

भावावश्यक–इसके दो भेद (1) आगम से (2) नो आगम से भावावश्यक। (1) आगम से भावावश्यक–जिसने आवश्यक इस सूत्र के अर्थ का ज्ञान किया है और उपयोग सहित है। उसको आगम से भावावश्यक कहते है।

(2) नोआगम से भावावश्यक–इसके तीन भेद **(1) लौकिक नो आगम से भावावश्यक**–जो लोग पूर्वार्ध (प्रभात-समय) में उपयोग सहित रामायण को बांचे तथा श्रवण करे। **(2) कुप्रावचनिक-नोआगम से भावावश्यक**–जो ये पूर्वोक्त चरक, चीरिक यावत् पाखंड मार्ग में चलने वाले यथावसर 'रज्जंजंलिहोमजपोन्द-रुक्कणमोक्कण········ क्कारमाइयाइ भावावस्सयाइं करेंति से तं कुप्पावणियं भावावश्ययं।' ·······जलांजलि को देना या सन्ध्यार्चन समय जलांजलि को देना या देवी के सम्मुख हाथ जोड़ना, अग्नि हवन करना, मंत्रादि का जप करना देवतादि के सम्मुख वृषभवत् शब्द करना 'नमो भगवते दिवसनाथाय' इत्यादि नमस्कार का करना आदि, ये पूर्वोक्त कृत्य जो भाव से उपयोग सहित करे।

(3) लोकोत्तर नोआगम से भावावश्यक– 'जण्णं इमे समणे वा समणी वा, सावओ वा, साविओ वा तचित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झ-वसाणे, तदट्ठोवओ, तप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभाओकालं आवस्सयं करेंति, से तं लोगुत्तरिअं भावावस्सयं।

जो ये शान्त स्वभाव रखने वाले साधु-साध्वी, साधु के समीप जिन प्रणीत समाचारी को सुनने वाले श्रावक, श्राविका उसी आवश्यक में सामान्य प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में शुभ परिणाम रूप लेश्या वाले, तच्चित्तादि भाव युक्त उसी आवश्यक की विधि पूर्वक क्रिया करने के अध्यवसाय वाले। उसी आवश्यक में प्रारम्भकाल से लेकर प्रतिक्षण चढ़ते-चढ़ते प्रयत्न विशेष के अध्यवसाय रखने वाले। उसी आवश्यक के अर्थ के विषय में उपयोग सहित (तीव्रतर वैराग्य को रखने वाले) उसी आवश्यक में सब इन्द्रियों को लगाने वाले, उसी आवश्यक के विषय में अव्यवच्छिन्न उपयोग सहित अनुष्ठान

से उत्कृष्ट सूत्र भाव द्वारा परिणत ऐसे आवश्यक के परिणाम रखने वाले उसी आवश्यक के सिवाय अन्यत्र किसी स्थान पर मन, वचन और काया के योगों को न करते हुए चित्त की एकाग्रता रखने वाले दोनों समय उपयोग सहित आवश्यक करे, उसको लोकोत्तर नो आगम से भावावश्यक कहते हैं।

(5) आवश्यक की महत्ता–

जइ दोसो तं छिंदइ, असंतदोसम्मि णिज्जरं कुणइ।
कुसल तिगिच्छरसायण–मुवणीयमिंद पडिक्कमणं।।

उभयकाल आवश्यक (भाव सहित) करना कुशल चिकित्सक के उस रसायन के समान है, जो रोग होने पर उसका उपशमन कर देता है और नहीं होने पर शरीर में बल वृद्धि (तेज, कान्ति) कर देता है। इसी प्रकार आवश्यक करने से अगर व्रतों में अतिचार = दोष लगे हो तो उसकी शुद्धि हो जाती है, और नहीं लगे हो तो स्वाध्याय रूप होने से कर्मों की निर्जरा होती है और बराबर स्मृति बने रहने से भविष्य में अतिचार न लगे, इसकी सजगता बनी रहती है। अत: आवश्यक करना हर दृष्टि से उपयोगी है।

श्रमण–श्रमणी के आवश्यक सूत्र में अन्तर

श्रमण और श्रमणी के निम्न पाठों में भिन्नता है–(i) शय्या सूत्र में 'इत्थीविप्परिया सियाए' के स्थान पर श्रमणी 'पुरिसविप्परिया सियाए' पढ़ेगी। (ii) 33 बोल में (1) विकथा सूत्र में श्रमणी स्त्रीकथा की जगह पुरुषकथा पढ़ेगी। (2) नवमें बोल में नववाड़ में जहाँ–जहाँ भी श्रमण स्त्री शब्द उच्चारण करता है, उसके स्थान पर श्रमणी पुरुष शब्द का उच्चारण करेगी या ऐसा समझेगी। (3) 22 परीषह में श्रमणी स्त्री परीषह के स्थान पर पुरुष परीषह कहेगी। (4) 25 भावना में भी चौथे महाव्रत की भावना में स्त्री के स्थान पर पुरुष शब्द आयेगा। (5) तेतीसवें बोल में जहाँ भी गुरु–शिष्य श्रमण के लिए आता है, श्रमणी के लिए गुरुणी–शिष्या ऐसा पाठ आयेगा। (iii) प्रतिज्ञा सूत्र नामक पाँचवीं पाटी में जहाँ भी समणो अहं पाठ आता है, वहाँ समणी अहं ऐसा पाठ कहेगी। (iv) चौथे महाव्रत में साधु जी स्त्री सम्बन्धी मैथुन से 3 करण और 3 योग से पूर्ण विरत होते हैं, वहीं साध्वी जी पुरुष सम्बन्धी मैथुन से विरत होते हैं। वह मनुष्य, स्त्री, तिर्यञ्चनी के स्थान पर पुरुष तथा तिर्यञ्च शब्द बोलेगी। (v) एषणा–समिति में माण्डला के पाँच दोष है, जिसमें से एक दोष परिमाण का है। साधु जी के लिए शास्त्रकारों ने 32 कवल का परिमाण, तो साध्वी जी के लिए 28 कवल का विधान किया है। (vi) वचन गुप्ति में स्त्री कथा के स्थान पर पुरुष कथा पढ़ेगी।

विधि में अन्तर–श्रमण श्रमणी के लिए कायोत्सर्ग खड़े–खड़े जिन मुद्रा में करने का विधान है, यदि खुला स्थान हो तो श्रमणी के लिए कायोत्सर्ग सुखासन में बैठे–बैठे ही करने का विधान है।

❑❑❑

परिशिष्ट–4

प्रतिक्रमण-संबंधी विशेष प्रश्नोत्तर

प्रश्न 1. मन्त्र किसे कहते हैं?

उत्तर जिसमें कम शब्दों में अधिक भाव और विचार हों और जो कार्यसिद्धि में सहायक हो, जिसके मनन से जीव को रक्षण प्राप्त हो, उसे मन्त्र कहते हैं।

प्रश्न 2. नवकार मन्त्र का क्या महत्त्व है?

उत्तर नवकार मन्त्र का अर्थ है–नमस्कार मन्त्र। प्राकृत भाषा में नमस्कार को 'णमोक्कार' कहते हैं। इसमें पाँच पदों को नमन किया गया है। इनमें से दो देवपद (अरिहंत और सिद्ध) एवं शेष तीन गुरु पद (आचार्य, उपाध्याय एवं साधु) हैं। ये पाँचों पद अपने आराध्य या इष्ट होने के साथ हमेशा परम (श्रेष्ठ) भाव में स्थित रहते हैं, इसलिए इन्हें पंच परमेष्ठी भी कहा गया है। इस मंत्र के उच्चारण से पापों का नाश होता है। यह मंगलकारी है।

प्रश्न 3. नवकार मन्त्र मंगल रूप क्यों है?

उत्तर 'मं' का अर्थ है–पाप, और 'गल' का अर्थ है–गलाना। जो पाप को गलावे, वह मंगल है। नवकार मंत्र से पाप का क्षय होता है, पाप रुकते हैं, इसलिए नवकार मंत्र मंगल रूप है।

प्रश्न 4. नवकार मंत्र में कितने पद और अक्षर हैं?

उत्तर नवकार मंत्र में 5 पद व 35 अक्षर हैं। चूलिका को मिलाने पर कुल 9 पद और 68 अक्षर होते हैं।

प्रश्न 5. नवकार मंत्र में धर्मपद कौन सा है?

उत्तर नवकार मंत्र में 'णमो' शब्द धर्म पद है, क्योंकि 'णमो' विनय का प्रतिपादक है। विनय ही धर्म का मूल है।

प्रश्न 6. नवकार मंत्र किस भाषा में है?

उत्तर नवकार मंत्र प्राकृत (अर्धमागधी प्राकृत) भाषा में है।

प्रश्न 7. अरिहन्त किसे कहते हैं?

उत्तर जिन्होंने चार घाती कर्मों–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का क्षय करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त बल वीर्य नामक चार मूल गुणों को परिपूर्ण रूप से प्रकट कर लिया है, उन्हें अरिहन्त कहते हैं, इन्हें तीर्थङ्कर या जिन भी कहते हैं।

प्रश्न 8. सिद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर जो आठों कर्मों का क्षय कर चुके हैं तथा जिन्होंने आत्मा के आठों गुणों को हमेशा के लिए सम्पूर्ण रूप से प्रकट कर लिया है, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

प्रश्न 9. अरिहन्त और सिद्ध में क्या अन्तर है ?

उत्तर अरिहन्त भगवान चार घाती कर्मों–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय का क्षय कर चुके हैं। अरिहन्त सशरीरी होने से तीर्थ की स्थापना करते हैं, उपदेश देते हैं और धर्म से गिरते हुए साधकों को स्थिर करते हैं, जबकि सिद्ध आठ कर्मों (1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अन्तराय) को क्षय करके सिद्ध हो गये हैं और वे सुखरूप सिद्धालय में विराजमान हैं। वे अशरीरी होने से उपदेश आदि की प्रवृत्ति नहीं करते।

प्रश्न 10. सिद्ध मुक्त हैं, फिर भी सिद्धों के पहले अरिहन्तों को नमस्कार क्यों किया गया ?

उत्तर अरिहन्त धर्म को प्रकट कर मोक्ष की राह दिखाने वाले और सिद्धों की पहचान कराने वाले हैं। अरिहन्त सशरीरी हैं और सिद्ध अशरीरी। परम उपकारी होने के कारण सिद्धों के पहले अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है।

प्रश्न 11. आचार्य किसे कहते हैं ?

उत्तर चतुर्विध संघ के वे श्रमण, जो संघ के नायक होते हैं और जो स्वयं पंचाचार का पालन करते हुए साधु–संघ में भी आचार पलवाते हैं, उन्हें आचार्य कहते हैं। ये 36 गुणों के धारक होते हैं।

प्रश्न 12. उपाध्याय किसे कहते हैं ?

उत्तर वे श्रमण, जो स्वयं शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और दूसरों को अध्ययन करवाते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। ये 25 गुणों के धारक होते हैं।

प्रश्न 13. साधु किसे कहते हैं ?

उत्तर गृहस्थ धर्म का त्याग कर जो पाँच महाव्रत–1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह को पालते हैं एवं शास्त्रों में बतलाये गये समस्त आचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं। ये 27 गुणों के धारक होते हैं।

प्रश्न 14. संख्या की दृष्टि से न्यूनतम गुण वाले गुणात्मक रूप से श्रेष्ठ कैसे?

उत्तर पंच परमेष्ठी में 108 गुण होते हैं। अरिहंत में 12, सिद्ध में 8, आचार्य में 36, उपाध्याय में 25, साधु में 27 = कुल 108। गुणात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो सबसे श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। संख्या की दृष्टि से देखने पर तो सबसे कम गुण सिद्ध भगवान में होते हैं। गहराई से अवलोकन

व चिन्तन किया जाए तो प्रतीत होता है– महत्त्व संख्या का नहीं है, गुणों की महानता का है। उपाध्याय के 25 गुण सिद्ध भगवान के अनन्त ज्ञान के आगे बूँद के समान भी नहीं हैं। साधु के 27 गुण, चरणसत्तरी, करणसत्तरी को मिला देने पर भी सिद्धों के आत्मसामर्थ्य के आगे नगण्य हैं। अरिहंत के 12 गुणों में 8 तो पुद्गलों पर ही आधारित हैं, मात्र 4 ही आत्मिक गुण हैं। यह तो सिद्ध भगवान के गुणों की संख्या से भी कम तथा गुणात्मक दृष्टि से भी न्यून हैं। केवलज्ञान, केवलदर्शन में समानता होने पर 4 अघातीकर्म शेष रहने से वे आत्माएँ पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई हैं।

व्यावहारिक जगत् में जैसे सिक्के कई होने पर भी 500 के एक नोट की बराबरी नहीं कर सकते। संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो 500 का नोट तो एक ही है और सिक्के बहुत से हैं। पर महत्त्व उन सिक्कों से एक नोट का ज्यादा है। वैसे ही, सिद्धों में गुण संख्या की दृष्टि से न्यून हैं, पर गुणात्मक रूप से तो सर्वश्रेष्ठ ही हैं। अरिहंतों के 12 गुण तथा आचार्यों के 36 गुण संख्या की दृष्टि से तो ज्यादा हैं, पर अरिहंतों के अष्ट महाप्रातिहार्य के आगे आचार्य की सम्पदा न्यून है और शेष 4 गुणों में आचार्य के सभी गुण स्वतः ही समाहित हो जाते हैं, जैसे–एक किलोमीटर में कई मिलीमीटर समा जाते हैं।

प्रश्न 15. तिक्खुत्तो के पाठ का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर यह गुरुवन्दन सूत्र है। आध्यात्मिक साधना में गुरु का पद सबसे ऊँचा है। संसार के प्राणिमात्र के मन में रहे हुए अज्ञान अन्धकार को दूर करके ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाने वाले गुरू हैं। मुक्ति के मार्ग पर गुरु ही ले जाते हैं। ऐसे गुरूदेव की विनयपूर्वक वन्दना करना ही इस पाठ का प्रयोजन है।

प्रश्न 16. तिक्खुत्तो के पाठ का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर तिक्खुत्तो के पाठ का दूसरा नाम गुरुवन्दन सूत्र है।

प्रश्न 17. वंदना कितने प्रकार की होती है?

उत्तर वन्दना जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के रूप में तीन प्रकार की होती है। जघन्य वन्दना का दूसरा नाम फेटा वन्दन, मध्यम वन्दना का दूसरा नाम थोभ वन्दन तथा उत्कृष्ट वन्दना का दूसरा नाम द्वादशावर्त्त वन्दन भी कहा जाता है।

जघन्य वन्दना मार्ग में चलते हुए गुरु भगवन्तों को 'मत्थएण वंदामि' कहकर, दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर की जाती है। स्थानकादि में प्रवेश करते जब सन्त–सतियों के दर्शन होते हैं, तब यदि मध्यम वन्दना की अनुकूलता न हो तो यह वन्दना की जाती है।

तिक्खुत्तो के पाठ से आवर्तन देते हुए दो हाथ, दो घुटने और मस्तक, ये पाँच अंग भूमि पर झुकाकर मध्यम वन्दना की जाती है। सामायिक, प्रतिकमण, वाचना, प्रश्नोत्तर, तत्त्वचर्चा आदि के पूर्व भी यह वन्दना की जाती है।

प्रात: सायं छह आवश्यक करते (प्रतिक्रमण करते) 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ से छह-छह आवर्तन देते हुए वन्दना करना उत्कृष्ट वन्दना कहलाती है।

प्रश्न 18. तिक्खुत्तो के पाठ से तीन बार वन्दना करने का क्या प्रमाण है?

उत्तर भगवतीसूत्र शतक 3 उद्देशक 1 (सूत्र संख्या 40 से 42 तक, पृष्ठ संख्या-288-289, युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी कृत) में उल्लेख है कि बलिचंचा राजधानी के अनेक असुरों, देवों तथा देवियों ने तामली तापस की तिक्खुत्तो के पाठ से आवर्तन देते हुए वन्दना की। दूसरी बार तथा तीसरी बार भी इनके द्वारा इसी प्रकार आवर्तन देते हुए तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना की गई। इससे स्पष्ट है कि तीन बार वन्दना करने की प्राचीन परम्परा रही है, जन-सामान्य में यही विधि प्रचलित रही है। इसके साथ ही हमारे गुरु भगवन्त सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र इन तीन रत्नों के धारक होते हैं। इन तीन रत्नों के प्रति आदर-बहुमान प्रकट करने तथा वे तीन रत्न हमारे जीवने में भी प्रकट हों, इसलिए भी तीन बार वन्दना की जाती है।

प्रश्न 19. तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करते समय आवर्तन किस प्रकार दिये जाने चाहिए?

उत्तर तिक्खुत्तो का पाठ बोलते तिक्खुत्तो शब्द के उच्चारण के साथ ही दोनों हाथ मस्तक (ललाट) के बीच में रखने चाहिए। आयाहिणं शब्द के उच्चारण के साथ अपने दोनों हाथ अपने मस्तक के बीच में से अपने स्वयं के दाहिने (Right) कान की ओर ले जाते हुए गले के पास से होकर बायें (Left) कान की ओर घुमाते हुए पुन: ललाट के बीच में लाना चाहिए। इस प्रकार एक आवर्तन पूरा करना चाहिए। इसी प्रकार से पयाहिणं और करेमि शब्द बोलते हुए भी एक-एक आवर्तन पूरा करना, इस प्रकार तिक्खुत्तो का एक बार पाठ बोलने में तीन आवर्तन देने चाहिए। तीनों बार तिक्खुत्तो के पाठ से इसी प्रकार तीन-तीन आवर्तन देने चाहिए।

प्रश्न 20. आवर्तन देने की विधि को सरल तरीके से कैसे समझ सकते हैं?

उत्तर आवर्तन देने की विधि को सरलता से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जैसे हम उत्तर या पूर्व दिशा में मुँह करके खड़े हैं अथवा गुरुदेव के सम्मुख खड़े हैं, तब हमारे सामने घड़ी मानकर जिस प्रकार घड़ी में सूई घूमती है ठीक इसी प्रकार हमें भी आवर्तन देने चाहिए। जिस प्रकार मांगलिक कार्यों में आरती उतारी जाती है, मन्दिरों में परिक्रमा दी जाती हैं, इसी क्रम से आवर्तन देने चाहिए। अन्य भी लौकिक उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि जैसे-घट्टी चलाने की क्रिया, चरखा घुमाने की क्रिया, रोटी बेलने का क्रम, वाहनों की गति दर्शाने वाला मीटर, सूर्य के घूमने का तरीका आदि-आदि जिस क्रम से आगे बढ़ता है, ठीक इसी प्रकार आवर्तन हमें अपने ललाट के मध्य से प्रारंभ करते हुए अपने दाहिनी ओर ले जाते हुए देने चाहिए।

प्रश्न 21. वन्दन करने वाले को अपने बायें से दाहिनी ओर (Left to Right) ही आवर्तन प्रारंभ क्यों करने चाहिए?

उत्तर अपने बायें से दाहिनी ओर आवर्तन करना गुरुदेव के प्रति विनम्रता एवं समर्पण भाव का सूचक है, क्योंकि बायाँ अंग विनम्रता का प्रतीक माना जाता है। इसी कारण से नमोत्थुणं का पाठ बोलते समय भी नीचे बैठकर बायाँ घुटना ही खड़ा किया जाता है। अत: वन्दन करने वाले को दोनों हाथ ललाट के बीच में रखकर अपने बायीं ओर से प्रारंभ करते हुए दाहिनी ओर (Left to Right) घुमाते हुए आवर्तन देने चाहिए। पाँच पदों की भाव वन्दना के अन्तर्गत भी तिक्खुत्तो का पाठ बोलते समय आवर्तन इसी प्रकार देने चाहिए।

प्रश्न 22. आवर्तन किसका करना चाहिए?

उत्तर करयल-परिग्गहियं दसण्हं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-(रायप्पसेणीय सूत्र), राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभ देव के वर्णन से स्पष्ट है कि आवर्तन अपने मस्तक के चारों ओर दोनों हाथों को घुमाकर देना चाहिए, तभी सिरसावत्तं शब्द की सार्थकता सिद्ध होगी। इसीलिए स्थानकवासी परम्परा में मन्दिर अथवा मूर्ति की परिक्रमा रूप आवर्तन नहीं मानकर सिरसावत्तं रूप आवर्तन देना माना जाता है।

प्रश्न 23. अपने बायें से दाहिनी ओर दोनों हाथों को घुमाते हुए आवर्तन देना चाहिए, इसके क्या-क्या आगम प्रमाण हैं?

उत्तर निम्नांकित आगम प्रमाणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हमें आवर्तन अपने बायीं (Left) ओर से प्रारंभ करते हुए तथा गुरुदेव के दाहिनी (Right) ओर से प्रारंभ करते हुए दोनों हाथों को घुमाते हुए देने चाहिए-

1. श्रावक प्रतिक्रमण (आवश्यक) सूत्र-आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा., लुधियाना-सप्तम आवृत्ति- विक्रम सम्वत् 2056, पृष्ठ 2, गुरु महाराज के दक्षिण की ओर से लेकर तीन बार प्रदक्षिणा कर के नमस्कार करें।
2. अपनी परम्परा-भाग-1 (आचार्य श्री उमेशमुनिजी म.सा.) पृष्ठ 129 पर दोनों हाथों से तीन बार वन्दनीय की दाहिनी ओर से बायीं ओर नीचे तक आवर्तन दिया जाता है।
3. रायप्पसेणीय सूत्र-युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म.सा., पृष्ठ 40 पर, श्रमण भगवान महावीर की दाहिनी ओर से प्रारंभ कर तीन बार प्रदक्षिणा की गई।
4. औपपातिक सूत्र-युवाचार्य मधुकरमुनिजी म.सा., पृष्ठ 104, पर भगवान को तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वन्दन नमस्कार किया।

5. आचारांग सूत्र में दिशाओं का क्रम भी आवर्तन के क्रम पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर को सूचित कर रहा है।
6. सामायिक सूत्र-उपाध्याय अमरमुनिजी, पृष्ठ 183, गुरुदेव के दाहिनी ओर से बायीं ओर (Right to Left) तीन बार अंजलिपुट हाथ-घुमाकर आवर्तन करने का नाम ही प्रदक्षिणा है।
7. भगवती सूत्र शतक 1.1.20 की टीका के अनुसार वन्दनीय के दाहिनी तरफ से प्रदक्षिणा करनी चाहिए।

उक्त प्रमाणों में गुरुदेव के दाहिनी ओर से आवर्तन प्रारंभ करने का उल्लेख है, जो कि वन्दनकर्ता के बायीं ओर से प्रारंभ करने की सूचना देता है। ललाट के मध्य में दोनों हाथ रखकर अपने बायीं ओर से आवर्तन प्रारंभ करने चाहिए अर्थात् अपने स्वयं के बायें से दाहिनी ओर (Left to Right) दोनों हाथों को घुमाते हुए आवर्तन देना चाहिए।

प्रश्न 24. क्या आवर्तन का प्रारंभ ललाट के बीच से न करके दाहिने कान से भी किया जा सकता है?

उत्तर यद्यपि कुछ परम्पराओं में आवर्तन का प्रारंभ दाहिने कान से भी किया जाता है। वे दाहिने कान से ललाट पर लाते हुए बायें कान की ओर ले जाते हुए वापस दाहिने कान से ललाट तक आते हैं। किन्तु आवर्तन का समापन तो ललाट के मध्य में ही किया जाना चाहिए। यदि ललाट के मध्य में समापन करेंगे तो आवर्तन तीन से अधिक अर्थात् लगभग सवा तीन होंगे। अत: उपयुक्त यही है कि आवर्तन का प्रारंभ तथा समापन दोनों ही सिरसावत्तं मानकर ललाट के मध्य में होना चाहिए।

तेजो लेश्या छोड़ने पर (भगवती शतक 15) इसकी किरणें रूप अजीव द्रव्य भी आत्म-प्रतिष्ठित होने से सचित्त होता है। यह भी वंदनीय के दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा करता है। सुखविपाक आदि में भी सम्यक्त्व के अभाव में भी इसी प्रकार से वंदना का उल्लेख है। भगवती शतक 12 उद्देशक 1 में उत्पला भार्या द्वारा पुष्कलीजी के लिये 'वंदइ नमंसइ' व पुष्कलीजी द्वारा शंखजी के लिये भी मात्र 'वंदइ नमंसइ' शब्द आया, अर्थात् श्राविकाजी द्वारा श्रावकजी को और श्रावकजी द्वारा श्राविकाजी को तीन बार आवर्तन बिना ही वंदना नमस्कार का उल्लेख है। वे ही श्रमणोपासक भगवान की तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा पूर्वक वंदन करते हैं। अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि श्रावक व साधुओं के साथ देवगण व इन्द्र भी एक समान आवर्तन करते रहे हैं, वह आवर्तन लोक प्रचलित धारणा के अनुरूप अपने दाहिनी ओर से नीचे-उतर बायें कान की ओर से ऊपर चढ़ने पर वंदनीय को दक्ष मान, दक्षता प्राप्ति के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रश्न 25. शुद्ध भावों से वन्दना करने से क्या-क्या लाभ होते हैं?

उत्तर उत्तराध्ययन सूत्र के 29वें अध्ययन में बतलाया कि वन्दना करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है। उच्च गोत्र का बन्ध होता है। दाक्षिण्य भाव प्राप्त होता है। लोकप्रियता प्राप्त होती है। अखण्ड सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

वन्दन करने से अहंकार नष्ट होता है। विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। तीर्थङ्करों की आज्ञा पालन करने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है।

अपने से अधिक सद्गुणों और विकसित आत्माओं को नमन करने से चित्त में प्रमोद भाव उत्पन्न होता है। प्रमोद भावना से सद्गुणों की प्राप्ति होती है। ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर आदि दुर्गुणों का समूल नाश होता है। साधक का हृदय विशाल, उदात्त और उदार बनता है। साधक के विचार पवित्र होते हैं। आत्मा में साहस और शक्ति का संचार होता है। दृढ़ संकल्प के साथ आराध्य जैसा बनने का प्रयास करता है। सद्गुणों को पाने की प्रबल प्रेरणा प्राप्त होती है। कर्मों की महती निर्जरा होती है। तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन भी हो सकता है। श्री कृष्ण महाराज को शुद्ध भावों से अरिष्टनेमि भगवान एवं इनके शिष्यों को वन्दना करने पर क्षायिक समकित की प्राप्ति होने का उल्लेख भी ग्रन्थों में मिलता है।

प्रश्न 26. वन्दना करते समय किन-किन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर वन्दना करते समय निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए-

1. वन्दना गुरुदेव के सामने खड़े होकर करना चाहिए। जहाँ तक हो सके इनके पीछे खड़े होकर वन्दना नहीं करना चाहिए।
2. यदि गुरुदेव सामने नहीं हों तो पूर्व दिशा, उत्तर दिशा अथवा ईशान कोण (उत्तर पूर्व दिशा के बीच में) में मुख करके खड़े होकर वन्दना करना चाहिए।
3. आसन से नीचे उतरकर वन्दना करना चाहिए, आसनादि पर खड़े होकर वन्दना नहीं करना चाहिए।
4. गुरुदेव सामने हों अथवा नहीं हों आवर्तन देने का तरीका एक समान ही अर्थात् ललाट के मध्य में दोनों हाथ रखकर अपने स्वयं के बाँये से दाहिनी ओर दोनों हाथों को घुमाते हुए आवर्तन देने चाहिए।
5. तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करते समय आवर्तन देने के पश्चात् 'वंदामि' शब्द नीचे बैठकर दोनों हाथ जोड़ते हुए बोलना चाहिए। 'नमंसामि' शब्द का उच्चारण करते पाँचों अंग (दोनों हाथ, दोनों घुटने और मस्तक) गुरुदेव के चरणों में झुकाना चाहिए। इसी प्रकार इस

पाठ का अन्तिम शब्द 'मत्थएण वंदामि' बोलते समय भी पंचांग गुरुदेव के चरणों में झुकाना चाहिए।

6. अनुशासित रहकर, विवेकपूर्वक, विनम्रतापूर्वक वन्दन करने का पूरा ध्यान रखना चाहिए।
7. गुरुदेव को स्वाध्याय में, वाचना में, कायोत्सर्ग में, साधनादि संयमचर्या में व्यवधान नहीं हो, इस बात का ध्यान रखते हुए दूर से ही वन्दना करनी चाहिए।
8. जब गुरु भगवन्त गोचरी कर रहे हों, तपस्या, वृद्धावस्था, बीमारी अथवा अन्य किसी भी कारण से सोये हुए हों, आवश्यक क्रिया कर रहे हों, गोचरी लेने जा रहे हों, तब गुरुदेव के निकट जाकर वन्दना करना विवेकपूर्ण नहीं माना जाता है।
9. श्रावक-श्राविकाओं के ज्ञान-ध्यान में, प्रवचन-श्रवण आदि में बाधा नहीं हो, इसका पूरा विवेक रखते हुए वन्दना करनी चाहिए।

प्रश्न 27. अनेक परम्पराओं में आवर्तन देने की अलग-अलग विधियाँ प्रचलित हैं, ऐसी स्थिति में श्रावक-श्राविकाओं को क्या करना चाहिए?

उत्तर सैद्धान्तिक व्याख्या ग्रन्थों में आवर्तन देने की विभिन्न विधियाँ मिलती हैं। जिस संघ के आचार्यादि को जो विधि अधिक उपयुक्त लगती है वे इसे स्वीकार करते हैं तथा अपने संघ में लागू करते हैं। अत: आवर्तन की विधियों में अन्तर दिखाई देना सहज है। फिर भी इतना अवश्य है कि जो श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी जिस संघ में, जिस आचार्यादि के नेतृत्व में अपनी साधना-आराधना कर रहे हैं, इनके आचार्यादि संघ प्रमुख जिस किसी भी विधि को मान्य करें, स्वीकृत करें, इस विधि को पूरी श्रद्धा और समर्पण के साथ अपनाना चाहिए। ऐसा करने से वह साधक, आराधक बन सकता है, अपने लक्ष्य को प्राप्तकर सकता है।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. अपने स्वयं के बायें से दाहिनी ओर (Left to Right) हाथ घुमाने की विधि को सही मानकर आवर्तन देते थे। आचार्य प्रवर श्री हीराचन्द्रजी म.सा. भी वर्तमान में इसी विधि को उपयुक्त मानकर वन्दनादि करते हैं।

प्रश्न 28. आवर्तन तीन बार क्यों किये जाते हैं ?

उत्तर मन, वचन और काया से वन्दनीय की पर्युपासना करने के लिए तीन बार आवर्तन किये जाते हैं।

प्रश्न 29. तिक्खुत्तो के पाठ में 'वंदामि' और 'नमंसामि' शब्दों का साथ-साथ प्रयोग क्यों किया है ?

उत्तर तिक्खुत्तो के पाठ में 'वंदामि' का अर्थ है वन्दना करता हूँ और 'नमंसामि' का अर्थ है-नमस्कार करता हूँ। वन्दना में वचन द्वारा गुरुदेव का गुणगान किया जाता है, किन्तु नमस्कार में पाँचों अंगों को नमाकर काया द्वारा नमन किया जाता है।

प्रश्न 30. तिक्खुत्तो के पाठ में आये हुए 'सक्कारेमि' और 'सम्माणेमि' का क्या अर्थ है ?

उत्तर 'सक्कारेमि' का अर्थ है-गुणवान पुरुषों को वस्त्र, पात्र, आहार, आसन आदि देकर उनका सत्कार करना। 'सम्माणेमि' का अर्थ है-गुणवान पुरुषों का मन और आत्मा से बहुमान करना।

प्रश्न 31. पर्युपासना कितने प्रकार की होती है ?

उत्तर पर्युपासना तीन प्रकार की होती है-1. विनम्र आसन से सुनने की इच्छा सहित वन्दनीय के सम्मुख हाथ जोड़कर बैठना, कायिक पर्युपासना है। 2. उनके उपदेश के वचनों का वाणी द्वारा सत्कार करते हुए समर्थन करना, वाचिक पर्युपासना है। 3. उपदेश के प्रति अनुराग रखते हुए मन को एकाग्र रखना, मानसिक पर्युपासना हैं।

प्रश्न 32. पर्युपासना से क्या-क्या लाभ हैं ?

उत्तर सम्यक् चारित्र पालने वाले श्रमण-निर्ग्रन्थों की पर्युपासना करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है और महान् पुण्य का उपार्जन होता है।

प्रश्न 33. वन्दन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ?

उत्तर वन्दन करने से जीव नीच गोत्रकर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्रकर्म का बन्ध करता है, फिर वह स्थिर सौभाग्यशाली होता है, उसकी आज्ञा सफल होती है तथा वह दाक्षिण्यभाव अर्थात् लोकप्रियता को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न 34. 'इरियावहिया' के पाठ का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर 'आलोचना सूत्र' या 'इरियावहिया' के पाठ से गमनागमन के दोषों की शुद्धि की जाती है। गमनागमन करते हुए प्रमादवश यदि किसी जीव को पीड़ा पहुँची हो, तो इस पाठ के द्वारा खेद प्रकट किया जाता है।

प्रश्न 35. 'इरियावहिया' के पाठ में कितने प्रकार के जीवों की विराधना का उल्लेख है ?

उत्तर इरियावहिया के पाठ में पाँच प्रकार के जीव-एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की विराधना का उल्लेख है।

प्रश्न 36. 'इरियावहिया' के पाठ में विराधना (जीव-हिंसा) के कितने प्रकार बतलाये हैं और कौन-कौन से हैं ?

उत्तर 'इरियावहिया' के पाठ में विराधना दस प्रकार की बतलायी हैं, यथा-1. अभिहया, 2. वत्तिया, 3. लेसिया, 4. संघाइया, 5. संघट्टिया, 6. परियाविया, 7. किलामिया, 8. उद्दविया, 9. ठाणाओ ठाणं संकामिया और 10. जीवियाओ ववरोविया।

प्रश्न 37. 'तस्सउत्तरी' पाठ का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर 'तस्सउत्तरी' पाठ को 'उत्तरीकरण सूत्र' एवं 'आत्म-शुद्धि' का पाठ भी कहते हैं।

प्रश्न 38. 'तस्सउत्तरी' के पाठ का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर 'तस्सउत्तरी' के पाठ से साधक कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा करता है, जिससे वह आत्मा को शरीर की आसक्ति से पृथक् कर (आत्मा को) कषायों से मुक्त कर सके।

प्रश्न 39. कायोत्सर्ग की क्या काल मर्यादा है ?

उत्तर कायोत्सर्ग की कोई निश्चित काल मर्यादा नहीं है। इसकी पूर्ति 'णमो अरिहंताणं' शब्द बोलकर की जाती है। कायोत्सर्ग काया को स्थिर करके, मौन धारण करके और मन को एकाग्र करके किया जाता है।

प्रश्न 40. कायोत्सर्ग किन-किन कारणों से किया जाता है?

उत्तर

1. **काउस्सग्गं-**''तस्सउत्तरी'' पाठ के अनुसार संयम को अधिक उच्च बनाने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिये, विशुद्धि करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित करने के लिए और पाप कर्मों का समूल नाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।
2. **चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं-**''इच्छामि णं भंते'' पाठ के अनुसार दिनभर में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।
3. **इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**'''**-**दिवस संबंधी ज्ञानादि के 14 अतिचारों का मन-वचन-काया से जो सेवन किया गया, उनका कायोत्सर्ग किया जाता है।
4. **देवसियं''''काउस्सग्गं-**दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।

प्रश्न 41. 'तस्स उत्तरीकरणेणं' में वर्णित कायोत्सर्ग के 5 कारणों के क्रम का क्या हेतु है?

उत्तर कायोत्सर्ग हेतु तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहिकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि'''' ये पाँच कारण प्रतिपादित हैं।

उस आत्मा की उत्कृष्टता के लिए अर्थात् ऊपर उठाने के लिए कायोत्सर्ग करना है। शास्त्र में कई स्थानों पर आत्मा के लिए 'वह' और शरीर के लिए 'यह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन 5 कारणों में कायोत्सर्ग का हेतु प्रकट किया गया है। इनके क्रम को जानने के लिए द्रव्य दृष्टान्त का आलम्बन- जैसे 1. किसी के पैर में काँटा लग गया। 2. उस काँटे की वेदना असह्य हो जाती है और उसको बाहर निकालने की तीव्र भावना जगती है 3. परन्तु गंदे पैर में काँटा नजर

नहीं आता, इसलिए उसे पहले जल आदि के द्वारा स्वच्छ किया जाता है। 4. तत्पश्चात् काँटे को बाहर निकाला जाता है। 5. उस काँटे को निकालने पर भी कुछ मवाद-गंदा खून आदि रह जाता है तो उसे भी दबाकर बाहर निकाल दिया जाता है। यही हेतु आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित होता है-सर्वप्रथम साधक के अन्तर में आत्मा को ऊपर उठाने के भाव जगते हैं- **'तस्स उत्तरीकरणेणं'** जब वह आत्मा को देखता है तो दोषों का दलदल नजर आता है। उस दलदल का कारण उसी के कषाय एवं अशुभ योग हैं। अतः उसके प्रायश्चित्त के भाव जगते हैं। **'पायच्छित्तकरणेणं'** प्रायश्चित्त करने से पुराना दलदल तो कम हुआ, पर झाड़ू के बाद पोचे (पानी की धुलाई) से अधिक स्वच्छता आ जाती है, इसी कारण से कहा- **'विसोहिकरणेणं।'** जब कपड़ा धुलकर स्वच्छ हो जाता है तब उसमें कई दाग दिखते हैं, साधक को भी गहराई से अवलोकन करने पर शल्य दिखाई देते हैं- वही **विसल्लीकरणेणं।** अब तो शीघ्रातिशीघ्र इन धब्बों की भी शुद्धि अर्थात् शल्यों का निराकरण। कपड़े को धो लेने पर प्रेस द्वारा उसमें और चमक आ जाती है, वैसे ही साधक लेशमात्र रह गये पाप-कर्मों की शुद्धि के लिए तत्पर होता है। **'पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए'** अतः परस्पर सूक्ष्मता की दृष्टि से ही इनका यह क्रम रखा गया है।

प्रश्न 42. कायोत्सर्ग के कितने आगार हैं?

उत्तर कायोत्सर्ग के 1. ऊससिएणं, 2. नीससिएणं, 3. खासिएणं, 4. छीएणं, 5. जंभाइएणं, 6. उड्डुएणं, 7. वायनिसग्गेणं, 8. भमलीए, 9. पित्तमुच्छाए, 10. सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, 11. सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं और 12. सुहुमेहिं दिट्ठि-संचालेहिं, ये 12 आगार हैं।

प्रश्न 43. 'तस्सउत्तरी' पाठ में 'अभग्गो-अविराहिओ' का क्या अर्थ है?

उत्तर तस्स उत्तरी पाठ में 'अभग्गो' का अर्थ है-काउस्सग्ग खण्डित नहीं होना और अविराहिओ का अर्थ है-काउस्सग्ग भंग नहीं होना। काउस्सग्ग में सर्व विराधना न होना 'अभग्गो' तथा आंशिक विराधना न होना 'अविराहिओ' कहलाता है।

प्रश्न 44. 'लोगस्स' पाठ क्या प्रयोजन है?

उत्तर 'लोगस्स' पाठ में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। ये हमारे इष्टदेव हैं। इन्होंने अहिंसा और सत्य का मार्ग बताया है। इनकी भाव पूर्वक स्तुति करने से जीवन पवित्र और दिव्य बनता है।

प्रश्न 45. 'लोगस्स' पाठ का दूसरा नाम क्या है?

उत्तर 'लोगस्स' पाठ का दूसरा नाम 'उत्कीर्त्तन सूत्र' और 'चतुर्विंशतिस्तव' है।

प्रश्न 46. 'करेमि भंते' पाठ का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर 'करेमि भंते' पाठ से सभी पापों का त्याग कर सामायिक व्रत लेने की प्रतिज्ञा की जाती है। इसे सामायिक-प्रतिज्ञा सूत्र भी कहते हैं।

प्रश्न 47. 'करेमि भंते' पाठ को प्रतिक्रमण करते समय पुनः पुनः क्यों बोला जाता है?

उत्तर समभाव की स्मृति बार-बार बनी रहे, प्रतिक्रमण करते समय कोई सावद्य प्रवृत्ति न हो, राग-द्वेषादि विषम भाव नहीं आए, इसके लिए प्रतिक्रमण में करेमि भंते का पाठ पहले, चौथे व पाँचवें आवश्यक में कुल तीन बार बोला जाता है।

प्रश्न 48. 'करेमि भंते' में सांकेतिक रूप से छः आवश्यक कैसे आते हैं?

उत्तर 1. सामायिक आवश्यक-सामाइयं (''समस्य आयः समायः, सः प्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्।'') पद से सामायिक आवश्यक का ग्रहण होता है। 2. चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक - 'भंते!' पद से दूसरा आवश्यक गृहीत हो जाता है। 3. वन्दना आवश्यक-''पज्जुवासामि'' से तीसरा आवश्यक आता है। पर्युपासना तिक्खुत्तो में भी आता है। भंते-''सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रैर्दीप्यते इति भान्तः स एव भदन्तः'' सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रत्नत्रय के धारक गुरु होते हैं, अतः 'भंते' से भी तीसरे आवश्यक का संकेत मिलता है। 4. प्रतिक्रमण आवश्यक-पडिक्कमामि-''पडिक्कमामि इत्यस्य प्रतिक्रमामि।'' से चतुर्थ आवश्यक गृहीत होता है। 5. कायोत्सर्ग आवश्यक-'वोसिरामि' (''विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि'') पद से पाँचवें आवश्यक का ग्रहण होता है। 6. प्रत्याख्यान आवश्यक - सावज्जं जोगं पच्चक्खामि-(''पापसहितं व्यापारं प्रत्याख्यामि।'') पदों से प्रत्याख्यान आवश्यक स्वीकृत होता है।

प्रश्न 49. सामायिक से क्या लाभ है ?

उत्तर सामायिक द्वारा पापों के आस्रव को रोककर संवर की आराधना होती है और सामायिक काल में स्वाध्याय करने से कर्मों की निर्जरा होती है। इसके फल के बारे में कहा गया है कि प्रतिदिन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करने वाला व्यक्ति एक शुद्ध सामायिक करने वाले की समानता नहीं कर सकता।

प्रश्न 50. सामायिक व्रत कितने काल, कितने करण और कितने योग से किया जाता है ?

उत्तर सामायिक व्रत एक मुहूर्त यानी 48 मिनट के लिए, 2 करण (पाप स्वयं नहीं करना और दूसरे से नहीं कराना) और 3 योग (मन, वचन और काया) से किया जाता है।

प्रश्न 51. 'नमोत्थु णं' पाठ का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर इस पाठ के द्वारा सिद्ध और अरिहन्त देवों के अनेक गुणों का भाव पूर्वक वर्णन करते हुए उनकी स्तुति की जाती है तथा उनके गुण हमारी आत्मा में भी प्रकट करना, मुख्य प्रयोजन है।

प्रश्न 52. 'नमोत्थु णं' पाठ का दूसरा नाम क्या है ?

उत्तर इस पाठ को 'शक्रस्तव' पाठ भी कहते हैं, क्योंकि प्रथम देवलोक के इन्द्र-शक्रेन्द्र भी तीर्थङ्करों-अरिहन्तों की इसी पाठ से स्तुति करते हैं। इसका एक और नाम 'प्रणिपात सूत्र' भी है। प्रणिपात का अर्थ-अत्यन्त विनम्रता एवं बहुमानपूर्वक अरिहन्त-सिद्ध की स्तुति करना है।

प्रश्न 53. पहला 'नमोत्थु णं' किसको दिया जाता है ?

उत्तर पहला 'नमोत्थु णं' सिद्ध भगवन्तों को दिया जाता है।

प्रश्न 54. दूसरा 'नमोत्थु णं' किसको दिया जाता है ?

उत्तर दूसरा 'नमोत्थु णं' अरिहंत भगवंतों को दिया जाता है।

प्रश्न 55. नवकार मन्त्र में पहले अरिहन्तों को नमस्कार किया गया पर 'नमोत्थु णं' में पहले सिद्धों को नमस्कार क्यों किया गया ?

उत्तर नवकार मन्त्र में जीवों पर उपकार की दृष्टि से पहले अरिहन्तों को नमस्कार किया गया, किन्तु 'नमोत्थु णं' में शक्रेन्द्र महाराज ने आत्मिक गुणों में बड़े की दृष्टि से पहले सिद्धों को नमस्कार किया है।

प्रश्न 56. सामायिक लेने से पूर्व तीन बार विधिवत् वंदन करते हैं, पारते समय नहीं करते हैं। ऐसा क्यों?

उत्तर सामायिक लेने से पूर्व उद्देश्य यह है कि हम गुरु महाराज से आज्ञा लेकर आस्रव को छोड़कर संवर में जा रहे हैं। जबकि सामायिक पारते हैं तो संवर को छोड़कर पुनः आस्रव की ओर बढते हैं, इसीलिए पारते समय वंदन नहीं करते हैं। क्योंकि संवर से आस्रव की ओर जाने के लिये गुरु-भगवंतों की आज्ञा नहीं है।

प्रश्न 57. संज्ञा किसे कहते हैं?

उत्तर चारित्र मोहनीय कर्मोदय की प्रबलता से होने वाली अभिलाषा, इच्छा 'संज्ञा' कहलाती है। आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा व परिग्रह संज्ञा के रूप में ये चार प्रकार की होती हैं।

प्रश्न 58. विकथा किसे कहते हैं?

उत्तर जीवन को दूषित करने वाली कथा को 'विकथा' कहते हैं। स्त्री कथा, भक्त कथा, देशकथा और राज कथा के भेद से विकथा चार प्रकार की होती हैं।

प्रश्न 59. अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार किसे कहते हैं?

उत्तर **अतिक्रम**-व्रत की प्रतिज्ञा के विरुद्ध व्रत के उल्लंघन करने के विचार को अतिक्रम कहते हैं।

व्यतिक्रम–व्रत का उल्लंघन करने के लिये कायिकादि व्यापार प्रारंभ करने को व्यतिक्रम कहते हैं।

अतिचार–व्रत को भंग करने की सामग्री इकट्ठी करना, व्रत भंग के निकट पहुँच जाना अतिचार है।

अनाचार–व्रत का सर्वथा भंग करना अनाचार है।

प्रश्न 60. प्रतिक्रमण का सार किस पाठ में आता है? कारण सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर प्रतिक्रमण का सार 'इच्छामि ठामि पडिक्कमिउं' के पाठ में आता है। क्योंकि पूरे प्रतिक्रमण में ज्ञान, दर्शन, चारित्राचारित्र तथा तप के अतिचारों की आलोचना की जाती है। इच्छामि ठामि में भी इनकी संक्षिप्त आलोचना हो जाती है, इस कारण इसे प्रतिक्रमण का सार पाठ कहा जाता है।

प्रश्न 61. 'इच्छामि ठामि' के पाठ में कभी तो 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' कभी 'इच्छामि आलोउं' एवं कभी 'इच्छामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है। यह अंतर क्यों?

उत्तर कायोत्सर्ग की साधना के पूर्व में 'इच्छामि ठामि काउस्सग्गं' बोला जाता है क्योंकि कायोत्सर्ग की साधना की जाती है। ध्यान के अंदर 'इच्छामि आलोउं' बोलते हैं क्योंकि दोषों/अतिचारों की आलोचना की जाती है एवं प्रतिक्रमण आवश्यक में प्रतिक्रमण की प्रधानता के कारण 'इच्छामि पडिक्कमिउं' बोला जाता है।

प्रश्न 62. 'इच्छामि ठामि' के पाठ में योगों का क्रम काइओ, वाइओ, माणसिओ इस प्रकार से क्यों रखा गया है?

उत्तर मन के योग में चिंतन-मनन की, वचन योग में कीर्तन-गुणगान की एवं काय योग में शारीरिक प्रवृत्तियों की प्रधानता होती है। जिस पाठ में प्रधानता मन की हो, यानी चिंतन-मनन-निंदा-आलोचना की हो वहाँ प्रथम स्थान मनोयोग को दिया जाता है जैसे बारह वतों के अतिचारों की आलोचना के समय मणसा-वयसा-कायसा बोला जाता है तथा लोगस्स के पाठ में चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। वहाँ कित्तिय-वंदिय- महिया कहा गया, क्योंकि वचन योग से कीर्तन, काय योग से वन्दन एवं मन योग से पूजन किया गया है। अतः वहाँ वचन योग को प्रधानता दी गई है।

'इच्छामि ठामि' के पाठ को कायोत्सर्ग की साधना के पूर्व में बोला जाता है और कायोत्सर्ग में काया के व्यापार के उत्सर्ग की प्रधानता है। अतः यहाँ काइओ-वाइओ-माणसिओ कहा गया। इसी प्रकार 'तस्स उत्तरी' का पाठ भी कायोत्सर्ग से पूर्व बोला जाता है वहाँ भी सर्वप्रथम 'ठाणेणं' यानी शरीर को स्थिर करके फिर 'मोणेणं' यानी वचन योग को एवं तब 'झाणेणं' यानी ध्यान लगाकर मनोयोग को नियंत्रित किया जाता है।

प्रश्न 63. अकल्पनीय व अकरणीय में क्या अन्तर है ?

उत्तर सावद्य भाषा बोलना आदि प्रवृत्तियाँ ''अकल्पनीय'' हैं तथा अयोग्य सावद्य आचरण करना ''अकरणीय'' हैं। इस प्रकार अकल्पनीय में अकरणीय का समावेश हो सकता है, पर अकल्पनीय का समावेश अकरणीय में नहीं होता।

प्रश्न 64. आगम किसे कहते हैं ?

उत्तर जो आप्त अर्थात् सर्वज्ञों की वाणी हो, उसे आगम कहते हैं। आगम आप्त पुरुषों द्वारा कथित, गणधरों द्वारा ग्रथित तथा मुनियों द्वारा आचरित होते हैं।

प्रश्न 65. आगम कितने प्रकार के व कौन-कौनसे हैं?

उत्तर आगम तीन प्रकार के हैं-1. सुत्तागमे (सूत्रागम) 2. अत्थागमे (अर्थागम) 3. तदुभयागमे (तदुभयागम)।

प्रश्न 66. सूत्रागम किसे कहते हैं?

उत्तर तीर्थङ्कर भगवन्तों ने अपने श्रीमुख से जो भाव फरमाए, उन्हें सुनकर गणधर भगवन्तों ने जिन आचारांग आदि आगमों की रचना की, उस सूत्र रूप आगम को 'सूत्रागम' कहते हैं।

प्रश्न 67. अर्थागम किसे कहते हैं?

उत्तर तीर्थङ्कर परमात्मा ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किए, उस भाव रूप आगम को 'अर्थागम' कहते हैं। अथवा सूत्रों के जो हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद किये गए हैं, उन्हें भी अर्थागम कहते हैं।

प्रश्न 68. तदुभयागम किसे कहते हैं?

उत्तर सूत्रागम और अर्थागम ये दोनों मिलाकर तदुभयागम कहलाते हैं।

प्रश्न 69. उच्चारण की अशुद्धि से क्या-क्या हानियाँ हैं?

उत्तर 1. उच्चारण की अशुद्धि से कई बार अर्थ सर्वथा नष्ट हो जाता है। 2. कई बार विपरीत अर्थ हो जाता है। 3. कई बार आवश्यक अर्थ में कमी रह जाती है। 4. कई बार सत्य किन्तु अप्रासंगिक अर्थ हो जाता है, इस प्रकार अनेक हानियाँ हैं।

उदाहरण-'संसार' शब्द में एक बिन्दु कम बोलने पर ससार (सार सहित) शब्द हो जाता है या शास्त्र में से एक मात्रा कम कर देने पर शस्त्र हो जाता है। अतः उच्चारण अत्यन्त शुद्ध करना चाहिए।

प्रश्न 70. अकाल में स्वाध्याय और काल में अस्वाध्याय से क्या हानि है?

उत्तर जैसे जो राग या रागिनी जिस काल में गाना चाहिए, उससे भिन्न काल में गाने से अहित होता है,

वैसे ही अकाल में स्वाध्याय करने से अहित होता है। यथाकाल स्वाध्याय न करने से ज्ञान में हानि तथा अव्यवस्थितता का दोष उत्पन्न होता है। अकाल में स्वाध्याय करने एवं काल में स्वाध्याय न करने में शास्त्राज्ञा का उल्लंघन होता है। अतः इन अतिचारों का वर्जन करके यथासमय व्यवस्थित रीति से स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रश्न 71. ज्ञान एवं ज्ञानी की सेवा क्यों करनी चाहिए?

उत्तर ज्ञान एवं ज्ञानी की सेवा पाँच कारणों से करनी चाहिए-1. हमें नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। 2. हमारे संदेह का निवारण होता है। 3. सत्यासत्य का निर्णय होता है। 4. अतिचारों की शुद्धि होती है। 5. नवीन प्रेरणा से हमारे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप शुद्ध तथा दृढ़ बनते हैं।

प्रश्न 72. सम्यक्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर सुदेव, सुगुरु, सुधर्म पर श्रद्धा रखना सम्यक्त्व कहलाता है। जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्वों में यथार्थ विश्वास करना सम्यक्त्व है। मिथ्यात्व मोहनीय आदि सात प्रकृतियों में क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मा के श्रद्धा रूप परिणामों को 'सम्यक्त्व' कहते हैं।

प्रश्न 73. सुदेव कौन हैं?

उत्तर जो राग-द्वेष से रहित हैं, अठारह दोष रहित और बारह गुण सहित हैं। सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। जिनकी वाणी में जीवों का एकान्त हित है। जिनकी कथनी व करनी में अन्तर नहीं है। जो देवों के भी देव हैं। ऐसे तीन लोक के वंदनीय, पूजनीय, परम आराध्य, परमेश्वर प्रभु अरिहंत और सिद्ध हमारे सुदेव हैं।

प्रश्न 74. सुगुरु कौन हैं?

उत्तर जो तीन करण तीन योग से अहिंसादि पंच महाव्रत का पालन करते हैं। कंचन-कामिनी के त्यागी हैं। पाँच समिति, तीन गुप्ति का निर्दोष पालन करते हैं। भिक्षाचर्या द्वारा जीवन-निर्वाह करते हुए स्वयं संसार-सागर से तिरते हैं, अन्य जीवों को भी तिरने हेतु जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म का उपदेश देते हैं, वे साधु ही सुगुरु हैं।

प्रश्न 75. सच्चा धर्म कौनसा है?

उत्तर आत्मा को दुर्गति से बचाकर मोक्ष की ओर ले जाने वाले विशुद्ध मार्ग को सुधर्म कहते हैं। जिनेश्वर भगवान द्वारा प्ररूपित अहिंसा, संयम और तप का समन्वित रूप सच्चा धर्म है। जीवात्मा द्वारा सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि निजगुणों का आराधन करना भी सच्चा धर्म है।

प्रश्न 76. मिथ्यात्व किसे कहते हैं?

उत्तर मोह के उदय से तत्त्वों की सही श्रद्धा नहीं होना या विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व है। अथवा देव-गुरु-धर्म एवं आत्म-स्वरूप सम्बन्धी विपरीत श्रद्धान होना 'मिथ्यात्व' कहलाता है।

प्रश्न 77. जिनवचन में शंका क्यों होती है, उसे कैसे दूर किया जा सकता है?

उत्तर श्री जिनवचन में कई स्थानों पर सूक्ष्म तत्त्वों का विवेचन हुआ है। कई स्थानों पर नय और निक्षेप के आधार पर वर्णन हुआ है। वह हमारी स्थूल बुद्धि से समझ में नहीं आता, इस कारण शंकाएँ हो जाती हैं। अतः हमें अरिहन्त भगवान के केवलज्ञान व वीतरागता का विचार करके तथा अपनी बुद्धि की मंदता का विचार करके, गुरुजनों आदि से समाधान प्राप्त कर ऐसी शंकाओं को दूर करना चाहिए।

प्रश्न 78. प्रतिक्रमण में 'इच्छामि खमासमणो' पाठ का उद्देश्य क्या है?

उत्तर इस पाठ का उद्देश्य शिष्य को गुरु के प्रति कर्त्तव्य की जानकारी प्रदान करना, उनकी सुखसाता की पृच्छा करना, अपने से हुई जानी-अनजानी अविनय आशातना की क्षमायाचना, दिवस भर में लगे अतिचारों की निंदा करना, स्वयं में उन जैसे गुण विकसित हो ऐसी कामना करना आदि है। इसे वंदना का उत्कृष्ट रूप बताया है।

प्रश्न 79. उत्कृष्ट वंदना में दोनों घुटनों को ऊँचा क्यों किया जाता है?

उत्तर यह आसन गर्भाशयवत् कोमलता एवं विनय का प्रतीक है। इसलिए विनयसम्पन्नता के प्रकटीकरण की भावना से ऐसे आसन का कथन पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया है।

प्रश्न 80. खमासमणो और भाव वन्दना का आसन किसका प्रतीक है?

उत्तर खमासमणो का आसन कोमलता व नम्रता का प्रतीक है तथा वन्दना का आसन शरणागति व विनय का प्रतीक है।

प्रश्न 81. इच्छामि खमासमणो के द्वारा की जाने वाली वंदना कब पूर्ण होती है?

उत्तर इच्छामि खमासमणो द्वारा की जाने वाली वंदना 25 आवश्यकों को करने से पूर्ण होती है। श्री समवायांग सूत्र में बारह आवर्त वाले कृति कर्म का वर्णन करते हुए वंदना के 25 आवश्यक बताये हैं। उनकी व्याख्या निम्न प्रकार से है-

1-2. दो अवनत-(दो बार नमस्कार-झुकना) अणुजाणह मे मिउग्गहं कहते हुए कर-मस्तक झुकाते हुए गुरु के अवग्रह में प्रवेश करने की अनुज्ञा माँगना, प्रत्येक खमासमणो का एक-एक अवनत, इस प्रकार दो खमासमणो के दो अवनत होते हैं।

3. यथाजात-जन्मते हुए बालक के समान मुद्रा किये हुए दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर लगाते हुए।

4-15. बारह आवर्तन-अहो, कायं, काय के तीन, ज त्ता भे/ ज व णिज / जं च भे के तीन- ये छः आवर्तन प्रथम खमासमणो के व छः दूसरे खमासमणो के।

16-19. चार सिर-चार बार सिर झुकाना-दो खमासमणो के दो बार 'संफासं' कहते हुए एवं

दो बार 'खामेमि खमासमणो' कहते हुए शिष्य गुरु के चरणों में सिर झुकाता है-ये 'चार सिर' कहलाते हैं।

20-22. तीन गुप्तियों से गुप्त-तीन गुप्तियों से गुप्त होकर अर्थात् मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों का निषेध कर वंदन करता है।

23-24. दो प्रवेश-दो खमासमणो में कुल दो बार निसीह कहकर गुरु अवग्रह में प्रवेश करता है।

25. एक निष्क्रमण-प्रथम खमासमणो में आवस्सियाए शब्द कहकर गुरु अवग्रह से बाहर आना निष्क्रमण है। द्वितीय खमासमणो में गुरु के समीप बैठे-बैठे ही वंदन पूर्ण कर लिया जाता है। बाहर आना नहीं होता है अत: निष्क्रमण एक ही होता है।

प्रश्न 82. इच्छामि खमासमणो दो बार क्यों बोला जाता है?

उत्तर जिस प्रकार दूत राजा को नमस्कार कर कार्य निवेदन करता है और राजा से विदा होते समय फिर नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य कार्य को निवेदन करने के लिये अथवा अपराध की क्षमायाचना करने के लिए गुरु को प्रथम वंदना करता है, खमासमणो देता है और जब गुरु महाराज क्षमा प्रदान कर देते हैं, तब शिष्य वंदना करके दूसरा खमासमणो देकर वापस चला जाता है। बारह आवर्तन पूर्वक वन्दन की पूरी विधि दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने से ही संभव है। अतः पूर्वाचार्यों ने दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने की विधि बतलायी है।

प्रश्न 83. 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में आए 'आवस्सियाए पडिक्कमामि' दूसरे खमासमणो में क्यों नहीं बोलते हैं?

उत्तर जिस प्रकार प्रतिक्रमण की अन्य पाटियों के उच्चारण की अपनी-अपनी विधियाँ एवं मुद्राएँ हैं उसी प्रकार खमासमणो में पहली बार गुरु के अवग्रह (गुरु के समीप देह प्रमाण क्षेत्र) में प्रवेश करके निकलने की एवं दूसरी बार अवग्रह में प्रवेश करने एवं नहीं निकलने की विधि बतलाई है। श्री समवायांग सूत्र में वंदन विधि में इसी प्रकार निर्देश है।

प्रश्न 84. 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में आवर्तन किस प्रकार देने चाहिए?

उत्तर 'इच्छामि खमासमणो' के पाठ में छह आवर्तन होते हैं। 1. अ हो, 2. का यं, 3. का य, 4. ज त्ता भे, 5. ज्ज व णि, 6. ज्जं च भे।

इनमें पहले, दूसरे, तीसरे आवर्तन में प्रथम अक्षर के उच्चारण में दोनों हाथों की दसों अँगुलियाँ गुरु चरणों का स्पर्श करें तथा दूसरे अक्षर में दोनों हाथों की दसों अँगुलियाँ अपने मस्तक का स्पर्श करें, इस प्रकार आवर्तन दिये जाते हैं।

चौथे, पाँचवें, छठे आवर्तन में प्रथम अक्षर के उच्चारण में दोनों हाथों की अँगुलियों से गुरु

चरणों का स्पर्श करें, दूसरे अक्षर के उच्चारण में दोनों हाथ हृदय कमल पर लगायें तथा तीसरे अक्षर के उच्चारण में दोनों हाथों को अपने मस्तक पर लगाना चाहिए।

अथवा दूसरी तरह से तिक्खुत्तो के पाठ के समान भी अपने दोनों हाथों को ललाट के मध्य से अपने बायें से दाहिनी ओर (Left to Right) घुमाते हुए भी चौथा, पाँचवाँ, छठा आवर्तन दिया जा सकता है। वर्तमान में रत्नसंघ में प्राय: प्रथम विधि से ही इच्छामि खमासमणो के पाठ में आवर्तन दिये जाते हैं।

प्रश्न 85. खमासमणो का पाठ उत्कृष्ट वंदना के रूप में मान्य है। तिक्खुत्तो के पाठ को मध्यम वन्दना तथा 'मत्थएण वंदामि' को जघन्य वंदना कहा गया है, किन्तु आगम में जहाँ कहीं भी तीर्थङ्कर भगवन्तों और संतों को वन्दना का वर्णन आया है वहाँ तिक्खुत्तो के पाठ से वंदना का उल्लेख है। जब तीर्थङ्कर भगवन्तों को तिक्खुत्तो से वन्दना की जाती है तो उत्तम वन्दना किसके लिए? मत्थएण वंदामि का भी क्या औचित्य है?

उत्तर उत्कृष्ट वंदना, मध्यम वंदना और जघन्य वंदना-यह आगम में नहीं है। वहाँ तो द्रव्य-भाव आदि का भेद है। यह पश्चाद्वर्ती महापुरुषों की प्रश्नशैली की देन है। भावपूर्वक करने पर तीनों ही आत्महितकारी हैं। उत्कृष्ट वंदना उभयकाल होती है, जो प्रत्येक प्रतिक्रमण में 36 आवर्तन सहित भाव विभोर करने वाली है।

आवश्यक की वन्दना के लिए भी तीन बार तिक्खुत्तो से वंदना की जाती है, अस्तु उत्कृष्ट और मध्यम वंदना अपेक्षा से कहना अयुक्त नहीं।

नमस्कार सर्वपाप प्रणाशक है, वंदामि से वंदना गृहीत होती है, अतः नमस्कार को वंदना नहीं कहा। यूँ तो लोगस्स, नमोत्थुणं भी स्तुति, भक्ति, विनय के ही सूत्र हैं, पर वंदना में सम्मिलित नहीं। अस्तु नवकार, भक्ति, स्तुति को वंदना में नहीं कह, 'मत्थएण वंदामि' के शब्दों की अल्पता से जघन्य में कह दिया।

प्रायः 'नमंसामि वंदामि' एकार्थक भी हैं, साथ-साथ होने पर काया से नमस्कार व मुख से गुणगान अर्थ करना होता है। संस्कृत में मूलतः 'वदि-अभिवादनस्तुत्योः' (To bow down and to praise) धातु से वंदामि शब्द बनता है। अतः इस एक में दोनों 'स्तुति और नमस्कार' सम्मिलित हैं। तिक्खुत्तो में भी दोनों बार अलग-अलग अर्थ कर इन दोनों को सूचित किया है। अतः बड़ी संलेखना में उसे 'नमोत्थुणं' शब्द से गुणगान सहित नमस्कार कह दिया गया।

प्रश्न 86. चत्तारि मंगलं का पाठ क्या गणधर भी बोलते थे?

उत्तर आवश्यक सूत्र के सभी पाठ आवश्यक के रचनाकार (सूत्रकार) की रचना रूप माने जाते हैं। जब

वे गणधर प्रणीत है–छेदोपस्थापनीय चारित्र धारक को उभयकाल आवश्यक करना अनिवार्य है, तो गणधर भगवन्त भी दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते समय मांगलिक भी बोलेंगे ही।

प्रश्न 87. चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर चारित्र का अर्थ है व्रत का पालन करना। आत्मा में रमण करना। जिसके द्वारा आत्मा के साथ होने वाले कर्म का आस्रव एवं बंध रुके एवं पूर्व कर्म निर्जरित हों, उसे चारित्र कहते हैं अथवा अठारह पापों का यावज्जीवन तीन करण–तीन योग से प्रत्याख्यान करना भी 'चारित्र' कहलाता है।

प्रश्न 88. बारह व्रतों में मूल व्रत कितने और उत्तर व्रत कितने हैं?

उत्तर पाँच अणुव्रत मूल व्रत हैं, क्योंकि वे बिना सम्मिश्रण के बने हुए हैं। शेष व्रत उत्तर व्रत हैं, क्योंकि वे मूल व्रतों के सम्मिश्रण से या उन्हीं के विकास से बने हैं।

प्रश्न 89. अणुव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर अणु अर्थात्–छोटा। जो व्रतों–महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होते हैं तथा कर्मों की स्थिति आदि को छोटा करने में सहायक होने से प्रथम पाँच व्रतों को अणुव्रत कहते हैं।

प्रश्न 90. गुणव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर जो अणुव्रतों को गुण अर्थात्–लाभ पहुँचाते हैं अथवा पुष्ट करते हैं उन्हें गुणव्रत कहते हैं।

प्रश्न 91. शिक्षाव्रत किसे कहते हैं?

उत्तर जैसे कोई व्यक्ति किसी को रत्नादि देता है तो साथ में उसे सुरक्षित रखने की शिक्षा भी देता है, उसी प्रकार आठ व्रतों की सुरक्षा के लिए अन्तिम चार व्रतों की शिक्षा देने के कारण इन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं।

प्रश्न 92. श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का त्याग क्यों करता है? त्रस की हिंसा से पाप अधिक क्यों होता है?

उत्तर त्रस की हिंसा से पाप अधिक होता है, क्योंकि त्रस जीवों में जीवत्व प्रत्यक्ष है तथा वे मारने पर बचने का प्रयास करते हैं। ऐसी दशा में जीवत्व प्रत्यक्ष होते हुए बलात् मारने से क्रूरता अधिक आती है। स्थावर जीवों को जितने पुण्य से स्पर्शनेन्द्रिय बलप्राण आदि मिलते हैं, उससे भी कहीं अधिक पुण्य कमाने पर एक त्रस जीव को एक जिह्वा–वचन आदि प्राण मिलते हैं। उन अनन्त पुण्य से प्राप्त प्राणों का वियोग होता है, इसलिए त्रस जीवों की हिंसा से पाप भी अधिक होता है।

प्रश्न 93. अहिंसा अणुव्रत का पालन कितने करण कितने योग से होता है?

उत्तर यद्यपि अहिंसा अणुव्रत का नियम श्रावक दो करण व तीन योग से लेता है पर इसका तीन करण

तीन योग से पालन का विवेक रखना चाहिए अर्थात् कोई निरपराध त्रस जीव को संकल्पपूर्वक मारे तो उसका मन-वचन-काया से अनुमोदन नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य व्रतों को भी तीन करण तीन योग से पालन करने का लक्ष्य रखना चाहिए।

प्रश्न 94. आकुट्टी से मारना किसे कहते हैं?

उत्तर कषायवश निर्दयतापूर्वक प्राणों से रहित करने, मारने की बुद्धि से मारना, आकुट्टी की बुद्धि से मारना कहलाता है।

प्रश्न 95. अतिभार किसे कहते हैं?

उत्तर जो पशु जितने समय तक जितना भार ढो सकता है, उससे भी अधिक समय तक उस पर भार लादना। या जो मनुष्य जितने समय तक जितना कार्य कर सकता है उससे भी अधिक समय तक उससे कार्य कराना अतिभार है।

प्रश्न 96. मृषावाद कितने प्रकार का है?

उत्तर मृषावाद दो प्रकार का है-1. सूक्ष्म और 2. स्थूल। 1. हँसी-मजाक या आमोद-प्रमोद में मामूली सा झूठ बोलने का अनुमोदन करना सूक्ष्म झूठ है। 2. कन्या संबंधी, पशु संबंधी, भूमि संबंधी, धरोहर-गिरवी संबंधी झूठी साक्षी देना आदि स्थूल मृषावाद है।

प्रश्न 97. सहसब्भक्खाणे के अन्य प्रकार बताइए।

उत्तर जैसे क्रोधादि कषाय के आवेश में आकर बिना विचारे किसी पर हत्या, झूठ, चोरी आदि आरोप लगाना। सन्देह होने पर कुछ भी प्रमाण मिले बिना, सुनी सुनाई बात पर या शत्रुता निकालने के लिए या अपने पर आये आरोप को टालने के लिए आरोप लगाना आदि भी सहसब्भक्खाणे के प्रकार हैं।

प्रश्न 98. रक्षा के लिए झूठी साक्षी देना या नहीं ?

उत्तर रक्षा की भावना उत्तम है पर रक्षा के लिए भी सापराधी की झूठी साक्षी नहीं देना चाहिए। कदाचित् इससे कभी अन्य निरपराधी की मृत्यु भी हो सकती है। निरपराधी को बचाने के लिए भी झूठी साक्षी देना उचित नहीं है। भविष्य में इससे साक्षी देने वाले का विश्वास उठ जाता है। अत: झूठी साक्षी नहीं देना चाहिए।

प्रश्न 99. सच्ची बात प्रकट करना अतिचार कैसे?

उत्तर स्त्री आदि की सत्य परन्तु गोपनीय बात प्रकट करने से उसके साथ विश्वासघात होता है, वह लज्जित होकर मर सकती है या राष्ट्र पर अन्य राष्ट्र का आक्रमण आदि हो सकता है। अतः विश्वासघात और हिंसा की अपेक्षा से सत्य बात प्रकट करना भी अतिचार है।

प्रश्न 100. अदत्तादान किसे कहते हैं ?

उत्तर स्वामी की आज्ञा आदि न होते हुए भी उसकी वस्तु लेना अदत्तादान है।

प्रश्न 101. कूट तौल-माप किसे कहते हैं ?

उत्तर देने के हल्के और लेने के भारी, पृथक् तौल-माप रखना या देते समय कम तौलकर देना, कम माप कर देना, इसी प्रकार कम गिनकर देना या खोटी कसौटी लगाकर कम देना। लेते समय अधिक तौलकर, अधिक मापकर, अधिक गिनकर तथा स्वर्णादि को कम बताकर लेना आदि।

प्रश्न 102. ब्रह्मचर्य किसे कहते हैं ?

उत्तर ब्रह्मचर्य-ब्रह्म अर्थात् आत्मा और चर्य का अर्थ है-रमण करना। यानी आत्मा के अपने स्वरूप में रमण करना ब्रह्मचर्य है। इन्द्रियों और मन को विषयों में प्रवृत्त नहीं होने देना, कुशील से बचना, सदाचार का सेवन करना, आत्म-साधना में लगे रहना व आत्म-चिन्तन करना 'ब्रह्मचर्य' है।

प्रश्न 103. ब्रह्मचर्य-पालन के लिए किस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए ?

उत्तर ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है। ब्रह्मचारी को देवता भी नमस्कार करते हैं। काम-भोग किंपाक फल और आशीविष के समान घातक हैं। ब्रह्मचर्य के अपालक रावण, जिनरक्षित, सूर्यकान्ता आदि की कैसी दुर्गति हुई ? ब्रह्मचर्य के पालक जम्बू, मल्लिनाथ, राजीमती आदि का जीवन कैसा उज्ज्वल व आराधनीय बना, आदि चिन्तन करना चाहिए।

प्रश्न 104. परिग्रह किसे कहते हैं ?

उत्तर किसी भी व्यक्ति एवं वस्तु पर मूर्च्छा, ममत्व होना परिग्रह है। खेत, घर, धन, धान्य, आभूषण, वस्त्र, वाहन, दास, दासी, कुटुम्ब, परिवार आदि का संग्रह रखना बाह्य परिग्रह है व क्रोध-मान-माया-लोभ-ममत्व आदि करना आभ्यन्तर परिग्रह है।

प्रश्न 105. परिग्रह-विरमण व्रत का मुख्य उद्देश्य क्या है ?

उत्तर तृष्णा, इच्छा, मूर्च्छा कम कर सन्तोष रखना तथा पापजनक आरम्भ-समारम्भ का त्याग करना, उसमें कमी लाना ही परिग्रह-विरमण व्रत का मुख्य उद्देश्य है।

प्रश्न 106. साडीकम्मे (शकट कर्म) किसे कहते हैं ?

उत्तर यन्त्रों के काम को शकट कर्म कहते हैं, जैसे गाड़ी आदि वाहन के, हलादि खेती के, चरखे आदि उत्पादन के यन्त्रों को बनाना, खरीदना व बेचने को साडीकम्मे कहते हैं।

प्रश्न 107. अनर्थदण्ड किसे कहते हैं?

उत्तर आत्मा को मलिन करके व्यर्थ कर्म-बंधन कराने वाली प्रवृत्तियाँ अनर्थदण्ड हैं। इनसे निष्प्रयोजन पाप होता है। अतः वे सारी पाप क्रियाएँ जिनसे अपना या कुटुम्ब का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता हो, अनर्थदण्ड हैं।

प्रश्न 108. प्रमादाचरण किसे कहते हैं?

उत्तर घर, व्यापार, सेवा आदि के कार्य करते समय बिना प्रयोजन हिंसादि पाप न हो, सप्रयोजन भी कम से कम हो, इसका ध्यान न रखना। हिंसादि के साधन या निमित्तों को जहाँ-तहाँ, ज्यों-त्यों रख देना। घर, व्यापार, सेवा आदि से बचे हुए अधिकांश समय को इन्द्रियों के विषयों में (सिनेमा, ताश, शतरंज आदि में) व्यय करना 'प्रमादाचरण' है। आत्मगुणों में बाधक बनने वाली अन्य सभी प्रवृत्तियाँ भी प्रमादाचरण कहलाती हैं।

प्रश्न 109. प्रमाद किसे कहते हैं व उसके कितने भेद होते हैं?

उत्तर संवर-निर्जरा युक्त शुभ कार्य में यत्न-उद्यम न करने को प्रमाद कहते हैं। अथवा आत्म-स्वरूप का विस्मरण होना प्रमाद है। प्रमाद के पाँच भेद हैं-1. मद्य 2. विषय 3. कषाय 4. निद्रा 5. विकथा। ये पाँचों प्रमाद जीव को संसार में पुनः पुनः गिराते-भटकाते हैं।

प्रश्न 110. रात्रि-भोजन त्याग को बारह व्रतों में से किस व्रत में सम्मिलित किया जाना चाहिए?

उत्तर रात्रि भोजन त्याग को दसवें देसावगासिक व्रत के अन्तर्गत लेना युक्तिसंगत लगता है। दसवाँ व्रत प्रायः छठे व सातवें व्रत का संक्षिप्त रूप एक दिन रात के लिए है। अतः जीवन पर्यन्त के रात्रि भोजन-त्याग को सातवें व्रत में तथा एक रात्रि के लिये रात्रि भोजन-त्याग को दसवें व्रत में माना जाना चाहिए।

प्रश्न 111. रात्रि-भोजन त्याग श्रावक व्रतों के पालन में किस प्रकार सहयोगी बनता है?

उत्तर रात्रि-भोजन-त्याग श्रावक व्रतों के पालन में निम्न प्रकार से सहयोगी बनता है-1. रात्रि-भोजन करने वाले गर्म भोजन की इच्छा से प्रायः रात्रि में भोजन संबंधी आरम्भ-समारम्भ करते हैं। रात्रि में भोजन बनाते समय त्रस जीवों की भी विशेष हिंसा होती है, रात्रि-भोजन-त्याग से वह हिंसा रुक जाती है। 2. माता-पिता आदि से छिपकर होटल आदि में खाने की आदत एवं उससे संबंधित झूठ से बचाव होता है। 3. ब्रह्मचर्य पालन में सहजता आती है। 4. बहुत देर रात्रि तक व्यापार आदि न करके जल्दी घर आने से परिग्रह-आसक्ति में कमी आती है। 5. भोजन में काम आने वाले द्रव्यों की मर्यादा सीमित हो जाती है। 6. दिन में भोजन बनाने की अनुकूलता

होने पर भी लोग रात्रि में भोजन बनाते हैं, किन्तु रात्रि-भोजन त्याग से रात्रि में होने वाली हिंसा का अनर्थदण्ड रुक जाता है। 7. सायंकालीन सामायिक-प्रतिक्रमण आदि का भी अवसर प्राप्त हो सकता है। घर में महिलाओं को भी सामायिक-स्वाध्याय आदि का अवसर मिल सकता है। 8. उपवास आदि करने में भी अधिक बाधा नहीं आती, भूख-सहन करने की आदत बनती है, जिससे अवसर आने पर उपवास-पौषध आदि भी किया जा सकता है। 9. सायंकाल के समय सहज ही सन्त-सतियों के आतिथ्य-सत्कार (गौचरी बहराना) का भी लाभ मिल सकता है।

प्रश्न 112. रात्रि-भोजन करने से क्या-क्या हानियाँ हैं ?

उत्तर रात्रि-भोजन करने से मुख्य हानि तो भगवान की आज्ञा का उल्लंघन है। इसके साथ ही बुद्धि का विनाश, जलोदर का रोग होना, वमन, कोढ़, स्वर भंग, निद्रा न आना, आयु घटना, पेट की बीमारियाँ आदि अनेक शारीरिक हानियाँ होती हैं।

प्रश्न 113. रात्रि-भोजन-त्याग से क्या लाभ हैं ?

उत्तर रात्रि-भोजन-त्याग से निम्न प्रमुख लाभ होते हैं-

1. जीवों को अभयदान मिलता है।
2. अहिंसा व्रत का पालन होता है।
3. पेट को विश्राम मिलता है।
4. मनुष्य बुद्धिमान और निरोग बनता है।
5. दुर्व्यसनों से बच जाता है।
6. मन और इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं।
7. सुपात्र दान का लाभ मिलता है।
8. प्रतिक्रमण, स्वाध्याय आदि का लाभ मिलता है।
9. आहारादि का त्याग होने से कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रश्न 114. पौषध में किनका त्याग करना आवश्यक है?

उत्तर पौषध में चारों प्रकार के सचित्त आहार का, अब्रह्म-सेवन का, स्वर्णाभूषणों का, शरीर की शोभा-विभूषा का, शस्त्र-मूसलादि का एवं अन्य सभी सावद्य कार्यों का त्याग करना आवश्यक है।

प्रश्न 115. पौषध कितने प्रकार के हैं?

उत्तर पौषध दो प्रकार के हैं-1. प्रतिपूर्ण और 2. देश पौषध। जो पौषध कम से कम आठ प्रहर के लिए किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है तथा जो पौषध कम से कम चार अथवा

पाँच प्रहर का होता है वह देश पौषध कहलाता है। देश पौषध भी यदि चौविहार उपवास के साथ किया गया है तो ग्यारहवाँ पौषध और यदि तिविहार उपवास के साथ किया है तो दसवाँ पौषध कहलाता है। ग्यारहवाँ पौषध कम से कम पाँच प्रहर का तथा दसवाँ पौषध कम से कम चार प्रहर का होता है।

प्रश्न 116. सामायिक व पौषध में क्या अन्तर है?

उत्तर श्रावक-श्राविकाओं की सामायिक केवल एक मुहूर्त्त यानी 48 मिनट की होती है, जबकि पौषध कम से कम चार प्रहर का (लगभग 12 घंटे का) होता है। सामायिक में निद्रा और आहार का त्याग करना ही होता है, जबकि पौषध चार और उससे अधिक प्रहर का होने से रात्रि के समय में निद्रा ली जा सकती है। प्रतिपूर्ण पौषध में तो दिन में भी चारों आहारों का त्याग रहता है। जबकि देश पौषध के 11वें पौषध में तो दिन में चारों आहार का त्याग होता है किंतु 10वें पौषध में अचित्त पानी ग्रहण किया जा सकता है। रात्रि में तो उक्त सभी में चौविहार ही होता है।

प्रश्न 117. पहले सामायिक ली हुई हो और पीछे पौषध की भावना जगे तो सामायिक पालकर पौषध ले या सीधे ही?

उत्तर पौषध सीधे ही लेना चाहिए, क्योंकि पालकर लेने से बीच में अव्रत लगता है। कदाचित् पालते-पालते उसकी भावना मंद भी हो सकती है।

प्रश्न 118. पौषध लेने के पश्चात् सामायिक का काल आने पर सामायिक पालें या नहीं?

उत्तर सामायिक विधिवत् न पालें, क्योंकि पौषध चल रहा है। सामायिक पूर्ति की स्मृति के लिए नमस्कार मंत्र आदि गिन लें।

प्रश्न 119. पौषध में सामायिक करें या नहीं?

उत्तर पौषध में सावद्य योगों का त्याग होने से सामायिक की तरह ही है, परन्तु निद्रा, आलम्बन आदि इतने समय तक नहीं लूँगा, आदि के नियम कर सकते हैं।

प्रश्न 120. ग्यारहवाँ व्रत, नवमें व्रत से विशिष्ट है फिर भी ग्यारहवें (पौषध) में तो निद्रा, निहार आदि की छूट है, परन्तु नवमें (सामायिक) में नहीं। यह विरोध क्यों?

उत्तर चूँकि सामायिक का काल तो एक मुहूर्त से लेकर आगे सुविधानुसार है। यह काल अल्प है, अतः वह इन छूटों के बिना भी हो सकती है। और यदि ये आगार सामायिक में रखे जायें तो फिर सामायिक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप की कोई आराधना नहीं हो पायेगी तथा पौषध अहोरात्रि या

न्यूनतम चार प्रहर का होता है। अतः वह इन छूटों के बिना सामान्य लोगों को पालन करना कठिन होता है। शरीर का भी अपना एक विज्ञान है। इसका पालन किए बिना पौषध में ज्ञानादि की आराधना में समाधि नहीं रहेगी।

प्रश्न 121. दया व्रत को कौन-से व्रत में मानना चाहिये ?

उत्तर दो करण तीन योग से सात प्रहर के लिए होने वाले दया व्रत में दिन में अचित्त आहार-पानी सेवन हो सकता है। संवर होने के कारण उसमें 11 सामायिक का लाभ बताया है। सात प्रहर में लगभग 11 सामायिक और करने से वह लाभ 22 सामायिक या अधिक का हो जाता है। चार प्रहर के 10वें पौषध में 25 सामायिक का लाभ मिलता है। उसमें दिन भर उपवास व रात्रिकालीन संवर की साधना रहती है। जबकि दया में सात प्रहर तक संवर की साधना होती है। पर दिन में उपवास नहीं होता है।

इन दोनों का अंतर ध्यान में रह सके इसलिए पूर्वाचार्यों ने 'दया' संज्ञा से इसे अभिहित किया। इसकी आराधना में व्रत ग्यारहवाँ ही समझा जाता है।

प्रश्न 122. क्या आगम में ऐसा कोई उल्लेख है जहाँ भगवान महावीर ने गृहस्थ के लिए पौषध का महत्त्व बताया है?

उत्तर हाँ ! श्री स्थानांगसूत्र में भगवान महावीर ने पौषधोपवास व्रत श्रावक के लिए कहे गए चार प्रकार के विश्राम स्थल में से एक बताया है। पौषधोपवास तीसरा विश्रम-स्थल है। वह इस प्रकार का है-अष्टमी, चतुर्दशी, पक्खी आदि पूर्व के दिन, रात्रि-दिवस के लिए पौषधोपवास करना।

प्रश्न 123. पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् श्रावक को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् श्रावक को आजीविका, खान-पान, शरीर-शुश्रूषा एवं गृहकार्य की चिंता से सर्वथा मुक्त हो जाना चाहिए, अधिकाधिक समय आत्मसाधना और धर्मसाधना में लगाना चाहिए। उसे रात्रि का काल धर्म जागरण में बिताना चाहिए। श्रावक को अपना पौषध व्रत अखण्डित रखने के लिए मरणांत कष्ट भी समभावपूर्वक सहन करना चाहिए।

प्रश्न 124. अतिथि संविभाग व्रत का क्या स्वरूप है?

उत्तर जिनके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है, ऐसे पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ श्रमणों को उनके कल्प के अनुसार चौदह प्रकार की वस्तुएँ निःस्वार्थ भाव से आत्म-कल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर भी सदा दान देने की भावना रखना, अतिथि संविभाग व्रत है।

प्रश्न 125. बारहवें व्रत को धारण करने वालों को मुख्य रूप से किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर 1. भोजन बनाने वाले और करने वालों को सचित्त वस्तुओं का संघट्टा न हो इस प्रकार बैठना चाहिए। 2. घर में सचित्त-अचित्त वस्तुओं को अलग-अलग रखने की व्यवस्था होनी चाहिए। 3. सचित्त वस्तुओं का काम पूर्ण होने पर उनको यथास्थान रखने की आदत होनी चाहिए। 4. कच्चे पानी के छींटे, हरी वनस्पति का कचरा व गुठलियाँ आदि को घर में बिखेरने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। 5. धोवन पानी के बारे में अच्छी जानकारी करके अपने घर में सहज बने अचित्त कल्पनीय पानी को तत्काल फैंकने की आदत नहीं रखनी चाहिए, उसे योग्य स्थान में रखना चाहिए। 6. दिन में घर का दरवाजा खुला रखने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। 7. साधु मुनिराज घर में पधारें तो सूझता होने पर तथा मुनिराज के अवसर होने पर स्वयं के हाथ से दान देने की उत्कृष्ट भावना रखनी चाहिए। 8. साधुजी की गोचरी के विधि-विधान की जानकारी, उनकी संगति, चर्चा एवं शास्त्र-स्वाध्याय से निरंतर आगे बढ़ाते रहना चाहिए। 9. साधु मुनिराज गवेषणा करने के लिए कुछ भी पूछताछ करे तो झूठ नहीं बोलना चाहिए।

प्रश्न 126. संत-सतियों को कितने प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं?

उत्तर मुख्यतः चौदह प्रकार की वस्तुएँ दान दे सकते हैं। उनका वर्णन आवश्यक सूत्र के 12वें अतिथि संविभाग व्रत में इस प्रकार है- अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, चौकी, पट्टा, पौषधशाला (घर), संस्तारक, औषध और भेषज। इनमें अशन से रजोहरण तक की वस्तुएँ अप्रतिहारी तथा चौकी से भेषज तक की वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं। जो लेने के बाद वापस न लौटा सकें, वे अप्रतिहारी तथा जो वापस लौटा सकें, वे वस्तुएँ प्रतिहारी कहलाती हैं।

प्रश्न 127. बारहवें व्रत में करण-योग क्यों नहीं है ?

उत्तर बारहवें व्रत में साधु-साध्वी को चौदह प्रकार की निर्दोष वस्तुएँ देने तथा भावना भाने का उल्लेख है। पापों के त्याग का वर्णन नहीं होने से इसमें करण-योग की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न 128. बारह व्रतों में कितने विरमण व्रत व कितने अन्य व्रत हैं ? कारण सहित स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर बारह व्रतों में पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ व आठवाँ व्रत विरमण व्रत कहलाते हैं, क्योंकि इनमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह व अनर्थदण्ड का क्रमश: त्याग किया जाता है। छठा व सातवाँ व्रत परिमाण व्रत कहलाते हैं, क्योंकि इनमें दिशाओं एवं खाने-पीने की मर्यादा की जाती है। सामान्यत: श्रावक पूर्ण त्याग नहीं कर पाता, वह मर्यादा ही करता है, इसलिये उन्हें परिमाण व्रत कहा है।

नवमाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ व बारहवाँ व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं, क्योंकि इनमें अणुव्रतों-गुणव्रतों के पालन का अभ्यास किया जाता है।

प्रश्न 129. संज्ञी पंचेद्रिय तिर्यंच क्या अणुव्रतादि का पालन कर सकते हैं? यदि हाँ तो कैसे?

उत्तर संज्ञी पंचेंद्रिय तिर्यंच श्रावक के प्रथम से ग्यारहवें व्रत तक पालन कर सकते हैं। बारहवें अतिथि-संविभाग व्रत का पालन वे नहीं कर सकते हैं। किन्हीं जीवों को विशुद्ध परिणामों की प्रवृत्ति होने के कारण उनके ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से उन्हें जातिस्मरणज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस जातिस्मरण से वे जानने लगते हैं कि मैंने पहले के मनुष्य भव में व्रत प्रत्याख्यान को ग्रहण कर भंग कर डाला था। फलस्वरूप मैं मरकर तिर्यंच गति को प्राप्त हुआ हूँ। इस जन्म में भी अगर मैं अपनी आत्मा का कुछ सुधार कर लूँ तो अच्छा है। ऐसा सोचकर वे जातिस्मरण से पहले लिए हुए अणुव्रत आदि का स्मरण करते हैं और फिर उनका पालन करते हैं।

प्रश्न 130. श्रावक के बारह व्रतों में एक से आठ तक के व्रत जीवन पर्यंत तक के होते हैं, जबकि 9-10-11वें व्रतों का काल सीमित समय का होता है। काल में इस अंतर का कारण स्पष्ट कीजिये।

उत्तर 9वाँ व्रत सामायिक व्रत है। इसका काल एक दो मुहूर्त्त या नियम पर्यंत होता है। 10वें देशावकाशिक व्रत में पहले जिन (छठे, सातवें) व्रतों में जीवनपर्यंत मर्यादाएँ की हैं उनकी संक्षेप में अहोरात्रि के लिए मर्यादा करते हैं। 11वाँ प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का काल चारों आहार छोड़कर उपवास सहित आठ प्रहर का होता है। श्रावक एक से आठवाँ व्रत संसार के कार्यों में रहते हुए भी जीवन-पर्यंत धारण कर सकता है। नवमाँ, दसवाँ और ग्यारहवाँ व्रत साधना रूप है, इनको श्रावक जीवन पर्यंत धारण नहीं कर सकता, अतः संक्षिप्त साधना सामायिक के रूप में एवं विशेष साधना दया या पौषध के रूप में अहोरात्रि प्रमाण में करता है। दसवाँ व्रत छठे एवं सातवें व्रतों का संक्षिप्त रूप है। अतः यह भी श्रावक के लिए अहोरात्रि प्रमाण का होता है, क्योंकि इन व्रतों की आराधना करते हुए श्रावक गृहस्थ के कर्त्तव्यों का व्यवस्थित निर्वाह नहीं कर सकता है। अतः ये व्रत काल की सीमित मर्यादा से ही पालन किए जा सकते हैं, आजीवन नहीं।

प्रश्न 131. श्रावक के बारह व्रतों में कितने स्वतंत्र हैं एवं कितने परतंत्र है?

उत्तर प्रथम से लेकर ग्यारहवें व्रत तक स्वतन्त्र एवं बारहवाँ व्रत परतन्त्र है। क्योंकि बारहवें व्रत की साधना सुपात्र दान देने से संबंधित है। सुपात्र अन्य होता है, जिसके उपलब्ध होने पर ही बारहवाँ व्रत सम्पन्न होता है।

प्रश्न 132. पाँचवाँ, छठा और सातवाँ व्रत प्रायः एक करण–तीन योग से क्यों लिए जाते हैं?

उत्तर क्योंकि श्रावक अपने पास मर्यादा उपरान्त परिग्रह हो जाने पर जैसे वह उसे धर्म या पुण्य में व्यय करता है, वैसे ही वह अपने पुत्र/पुत्री आदि को भी देने का ममत्व त्याग नहीं पाता। इसी प्रकार जिसका अब कोई स्वामी नहीं रह गया हो, ऐसा कहीं गड़ा हुआ परिग्रह मिल जाये, तो भी वह उसे अपने स्वजनों को देने का ममत्व त्याग नहीं पाता। अथवा अपने पुत्रादि, जिन्हें परिग्रह बाँटकर पृथक् कर अपने–अपने व्यवसाय में स्थापित कर दिया हो, उनको व्यावसायिक सलाह देने का प्रसंग भी उपस्थित हो ही जाता है।

इसी प्रकार छठें सातवें व्रत की भी स्थिति है, जैसे श्रावक अपनी की हुई दिशा की मर्यादा के उपरांत स्वयं तो नहीं जाता, पर कई बार उसे अपने पुत्रादि को विद्या, व्यापार, विवाह आदि के लिए भेजने का प्रसंग आ जाता है। ऐसे ही उपभोग–परिभोग वस्तुओं की या कर्मादानों की जितनी मर्यादा की है, उसके उपरांत तो वह स्वयं भोगोपभोग या कर्म नहीं करता, परन्तु उसे अपने पुत्रादि को कहने का अवसर आ जाता है। इसलिए श्रावक पाँचवें, छठे और सातवें व्रत का प्रायः 'मैं नहीं करूँगा' इतना ही व्रत ले पाता है, परन्तु 'मैं नहीं कराऊँगा', यों व्रत नहीं ले पाता। विशिष्ट श्रावक इन व्रतों को दो करण तीन योग आदि से भी ग्रहण कर सकते हैं।

प्रश्न 133. प्रतिक्रमण में जावज्जीवाए, जावनियमं तथा जाव अहोरत्तं शब्द कहाँ–कहाँ आते हैं?

उत्तर जावज्जीवाए–पहले से आठवें व्रत में व बड़ी संलेखना के पाठ में।

जावनियमं– नवमें व्रत में।

जाव अहोरत्तं– दसवें व ग्यारहवें व्रत में।

प्रश्न 134. व्रत और पच्चक्खाण में क्या अन्तर हैं?

उत्तर

व्रत	पच्चक्खाण
1. विधि रूप प्रतिज्ञा व्रत है। जैसे–मैं सामायिक करता हूँ। साधु के लिए 5 महाव्रत होते हैं। श्रावक के लिए 12 व्रत होते हैं।	1. निषेध रूप प्रतिज्ञा जैसे–कि सावद्य योगों का त्याग करता हूँ। या आहार को वोसिराता हूँ।
2. व्रत मात्र चारित्र में ही है।	2. पच्चक्खाण चारित्र व तप में भी आते हैं।
3. करण कोटि के साथ होते हैं।	3. बिना करण कोटि के भी होते हैं।
4. व्रत लेने के पाठ के अंत में 'तस्स भंते' से 'अप्पाणं वोसिरामि' आता है।	4. (आहार के) पच्चक्खाण में 'अन्नत्थणा-भोगेणं' से वोसिरामि आता है।

प्रश्न 135. प्रतिक्रमण में कुछ अणुव्रतों के अतिचार की भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग जो अनाचार व्यक्त करते हैं, क्यों हुआ है? जैसे चौथे व्रत में 'इत्तरिय गमणे' 'अपरिग्गहिय गमणे' इत्यादि। इन शब्दों से भ्रान्ति न हो, इस हेतु इन शब्दों की जगह यह प्रयोग क्यों न किया जाय कि 'इत्तरिय गमणे' हेतु 'आलाप-संलाप किया हो' 'अपरिग्गहिय गमणे' हेतु 'आलाप-संलाप किया हो।' इसी तरह अन्य पाठों में भी अनाचार द्योतक शब्दों में सुधार/संशोधन क्यों न किया जाय?

उत्तर व्रत भंग की 4 अवस्थाएँ बताई जाती हैं-

अतिक्रम इच्छा जानिये, व्यतिक्रम साधन संग।
अतिचार देश भंग है, अनाचार सर्व भंग।।

अर्थात् एक ही कार्य/इरादा/प्रवृत्ति किस अभिप्राय से किस स्तर की है इससे व्रत भंग की अवस्था का निर्णय होता है। महाबलजी (मल्ली भगवती का पूर्वभव) और शंखजी की क्रिया समान थी, पर परिणाम बिल्कुल भिन्न। महाबलजी माया के कारण संयम से गिरकर पहले गुणस्थान में चले गए और शंखजी सरलता के कारण भगवद् मुखारविन्द से प्रशंसित हुए।

प्रायः सभी व्रतों के अतिचार अभिप्राय पर निर्भर करते हैं। अन्यथा वे अनाचार भी बन सकते हैं-भूलचूक से सामायिक जल्दी पारना तो अनाचार ही है।

अतिचार से भी बचने के लिये प्रेरणा देते हुए, जाणियव्वा न समायरियव्वा कहा जाता है। यदि मारने की भावना से बंधन या वध किया गया और वह जीव बच भी गया तो अनाचार ही होगा- अतः अतिचार और अनाचार में शब्द की अपेक्षा नहीं, भाव की अपेक्षा भेद रहता है। बार-बार अतिचार का सेवन स्वयं ही अनाचार बन जाता है।

प्रमादवश लोक प्रचलित रूढ़ियों से जिन्हें अनैतिक नहीं माना जाता, ऐसी बातों को भी धार्मिक दृष्टि से अतिचारों में रखकर चेतावनी दी गई, जैसे- कन्या के अन्तःपुर में रखी जाने वाली कन्या सगाई होने पर भी अपरिगृहीत है(आज केयुग में धड़ल्ले से चल ही रहा है) अब यदि उसे छोड़ ही दिया जाता तो व्यक्ति को उसमें कुछ भी अनाचार-अतिचार ध्यान में नहीं आता। अतः उन-उन बिन्दुओं का समावेश करना, कितनी सुन्दर व्यवस्था है।

अनाचार का कथन स्पष्टतः तो है नहीं। व्यक्ति सामाजिक परिवेश में उसे गलत भी नहीं मानता। जैसे-सस्ता माल खरीदना, रेल में बच्चे की उम्र कम बताना, आयकर में अन्यथा प्रतिवेदन देना आदि-आदि अतिचारों में सम्मिलित कर महर्षियों ने स्पष्ट रूपरेखा तो दिखा दी,

संक्लिष्ट परिणामों से करने पर प्रायः सभी अतिचार अनाचार हैं। नासमझी, भूल, विवशता आदि कारणों से ये अतिचार हैं, व्रत की शुद्धि के लिये ये भी त्याज्य हैं।

प्रश्न 136. पाप किसे कहते हैं?

उत्तर जो आत्मा को मलिन करे, उसे पाप कहते हैं। जो अशुभ योग से सुखपूर्वक बाँधा जाता है और दुःखपूर्वक भोगा जाता है, वह पाप है। पाप अशुभ प्रकृतिरूप है, पाप का फल कड़वा, कठोर और अप्रिय होता है। पाप के मुख्य अठारह भेद है।

प्रश्न 137. पापों अथवा दुर्व्यसनों का सेवन करने से इस भव, परभव में क्या-क्या हानियाँ होती हैं?

उत्तर 1. पापों अथवा दुर्व्यसनों का सेवन करने से शरीर नष्ट हो जाता है, प्राणी को तरह-तरह के रोग घेर लेते हैं। 2. स्वभाव बिगड़ जाता है। 3. घर में स्त्री-पुत्रों की दुर्दशा हो जाती है। 4. व्यापार चौपट हो जाता है। 5. धन का सफाया हो जाता है। 6. मकान-दुकान नीलाम हो जाते हैं। 7. प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है। 8. राज्य द्वारा दण्डित होते हैं। 9. कारागृह में जीवन बिताना पड़ता है। 10. फाँसी पर लटकना पड़ सकता है। 11. आत्मघात करना पड़ता है। इस तरह अनेक प्रकार की हानियाँ इस भव में होती हैं। परभव में भी वह नरक, निगोद आदि में उत्पन्न होता है। वहाँ उसे बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। कदाचित् मनुष्य बन भी जाय तो हीन जाति-कुल में जन्म लेता है। अशक्त, रोगी, हीनांग, नपुंसक और कुरूप बनता है। वह मूर्ख, निर्धन, शासित और दुर्भागी रहता है। अतः पापों अथवा दुर्व्यसनों का त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

प्रश्न 138. मिथ्यादर्शन शल्य क्या है?

उत्तर जिनेश्वर भगवन्तों द्वारा प्ररूपित सत्य पर श्रद्धा न रखना एवं असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्यादर्शन शल्य है। यह शल्य सम्यग्दर्शन का घातक है।

प्रश्न 139. निदानशल्य किसे कहते हैं?

उत्तर धर्माचरण के द्वारा सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना अर्थात् धर्मकरणी का फल भोगों के रूप में प्राप्त करने हेतु अपने जप-तप-संयम को दाव पर लगा देना 'निदानशल्य' कहलाता है।

प्रश्न 140. प्रतिक्रमण में 18 पापों का पाठ बोला जाता है, किन्तु एक-एक पाप का स्मरण, अनुचिंतन और धिक्कार नहीं किया जाता। ऐसे किये बिना शुद्धि कैसे संभव है?

उत्तर प्रथम गुणस्थान में देशनालब्धि के अंतर्गत 'नवतत्त्व' की जानकारी उपलब्ध होती है। पाप, आस्रव, बंध हेय हैं, जीव-अजीव ज्ञेय हैं और पुण्य, संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय हैं। **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्'** अन्तर का सही श्रद्धान होने पर पापों का स्वरूप ध्यान में आ जाता है, तब जीव सम्यग्दृष्टि बनता है। स्वाध्याय के द्वारा उनकी हेयता को परिपुष्ट कर धर्म-ध्यान के अपाय व विपाक विचय में उन पर विस्तृत चिन्तन, अनुप्रेक्षा, भावना के साथ चित्त की एकाग्रता भी हो जाती है। प्रतिक्रमण मुख्यतः 'नाण-दंसण-चरित्त (चरित्ताचरित्त) तव अइयार' से संबंधित है। श्रावक ने सीमित पापों का परित्याग किया और साधु ने संपूर्ण पापों का परित्याग किया। उस त्याग के दूषण/अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण है, जिनकी संख्या 99, 124 या 125 है। भविष्य में पापों की हेयता ध्यान में रहे व भूल को भी सुधारूँ, इसलिए 18 पाप बोल दिये जाते हैं।

दूसरी अपेक्षा से देखें 18 पापों की व्यक्त प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण करते हुए पापों का विस्तृत अनुप्रेक्षण ही तो किया जाता है। उदाहरणार्थ प्रारंभ के 5 पापों का तो व्रतों के अतिचारों में स्पष्ट विवेचन है ही। रोषवश गाढ़ा बंधन या क्रोधवश झूठ अतिचार कहने से छठा पाप (क्रोध) पहले अणुव्रत, दूसरे अणुव्रत में आ गया। लोभ का संबंध परिग्रह, उपभोग-परिभोग आदि में व लोभवश मृषा में स्पष्ट है। भाषा समिति में चारों कषाय, चौथे-पाँचवें महाव्रत में राग-द्वेष का संबंध पाठ से ही स्पष्ट है तो प्रतिक्रमण में भीतर के मिथ्यात्व से बचने के लिए 'अरिहन्तो महदेवो' का पाठ सर्वविदित है। नवमें व्रत में 'सावज्जं जोगं का पच्चक्खाण' और तीन बार 'करेमि भंते' का पाठ भी पाप से बचने, धिक्कारने का ही पाठ है।

प्राचीन काल में पाँचवें आवश्यक में लोगस्स के पाठ की अनिवार्यता ध्वनित नहीं होती। आज भी गुजरात की अनेक प्रतिक्रमण की पुस्तकों में धर्म-ध्यान के पाठ बोलने का उल्लेख मुम्बई में देखने को मिला। उत्तराध्ययन के 26वें अध्याय में तो 'सर्वदुःख विमोक्षक कायोत्सर्ग' करने का उल्लेख है फिर श्वास और उसकी गणना पूर्ति में लोगस्स का विधान सामने आया। हो सकता है 'अपाय-विपाक विचय' में वहाँ कृत पापों का पर्यालोचन होता हो। साधक प्रतिक्रमण के पूर्व अपने पापों को देख ले और उनसे संबंधित अतिचारों में उनकी आलोचना कर शुद्धि कर ले तभी भाव प्रतिक्रमण कर आत्मोत्थान कर सकता है। अतिचार प्रायः पाप का किसी स्तर तक अभिव्यक्त है। पाप सहित प्रतिक्रमण करने वाला उनका दुष्कृत करता, शुद्धि करता ही है। अनुयोगद्वार सूत्र में इसे ही भाव आवश्यक (निक्षेप) कहा है।

प्रश्न 141. 'संलेखना' किसे कहते हैं ?

उत्तर जीवन का अन्तिम समय आया जान कर कषायों एवं शरीर को कृश करने के लिए जो तप-विशेष किया जाता है, उसे संलेखना कहते हैं। संलेखना कर 'संथारा' ग्रहण किया जाता है। संथारा अपनी शक्ति, सामर्थ्य एवं परिस्थिति के अनुसार तिविहार अथवा चौविहार दोनों प्रकार से किया जा सकता है।

प्रश्न 142. संथारा ग्रहण करने की क्या विधि है एवं उसमें किन-किन बातों का ध्यान रखने से उसकी सम्यक्तया आराधना की जा सकती है?

उत्तर मृत्यु के समीपस्थ होने पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि में असमर्थ होने पर श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका संथारा ग्रहण करके अपने तीसरे मनोरथ को पूर्ण करते हैं। संथारे की विधि एवं इसमें ध्यान रखने योग्य विशेष बातें संक्षिप्त में निम्न प्रकार से है-

1. संथारा यथा संभव शांत एवं नीरव स्थान में करना चाहिए। बैठते समय पूर्व या उत्तर दिशा सम्मुख रहनी चाहिए तथा सोते समय पैर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर होने चाहिए।
2. संथारे में मुखवस्त्रिका पहनी हुई रहनी चाहिए। वस्त्र सादे होने चाहिए। आभूषण पहने हुए नहीं होने चाहिए। आसन संयमानुकूल होना चाहिए। पाट-पाटला सुप्रतिलेख्य होना चाहिए।
3. संथारा करने वाले को पंखा, कलूर, ए.सी. का उपयोग नहीं करना चाहिए। लाइट में पढ़ना नहीं चाहिए। सचित्त पृथ्वी, सचित्त पानी, अग्निकाय (सेल की घड़ी, मोबाईल आदि इसमें शामिल हैं), वनस्पतिकाय का संघट्टा नहीं होना चाहिए।
4. संथारा करने वाली स्त्री को पुरुष स्पर्श न करे एवं पुरुष को स्त्री स्पर्श नहीं करे।
5. संथारे वाले की सेवा करने वाले को संवर पचक्ख करके ही सेवा करनी चाहिए।
6. तिविहार संथारे वाले के निमित्त से धोवन पानी या गरम पानी बनाना नहीं चाहिए। सहज रूप से बने धोवन या गरम पानी को यतनापूर्वक लाना चाहिए ताकि मार्गवर्ती जीवों की हिंसा न हो।
7. संथारे वाले का मलमूत्र, कफ, उल्टी आदि भी निरवद्य जीव रहित स्थान में परठना चाहिए।
8. संथारे वाले को स्नान नहीं करना चाहिए।
9. संथारे वाले को उभयकाल प्रतिक्रमण कराना चाहिए।

10. संथारे वाले को घर, परिवार, व्यापार, धन संबंधी बातों में न लगाकर धर्म संबंधी बातें सुनाते रहना चाहिए।

विधि–संथारे का योग्य अवसर देखकर साधु–साध्वीजी की सेवा में या उनके अभाव में अनुभवी श्रावक–श्राविका के सम्मुख अपने व्रतों में लगे अतिचारों की निष्कपट आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। पश्चात् कुछ समय के लिए या यावज्जीवन के लिए आगार सहित अनशन लेना चाहिए। इसमें आहार और अठारह पाप का तीन करण–तीन योग से त्याग किया जाता है। यदि किसी का संयोग नहीं मिले तो स्वयं भी आलोचना कर संलेखना तप ग्रहण कर सकते हैं। यदि तिविहार ग्रहण करना हो तो 'पाणं' शब्द नहीं बोलना चाहिए। गादी, पलंग का सेवन, गृहस्थों द्वारा सेवा आदि कोई छूट रखनी हो तो उसके लिए आगार रख लेना चाहिए। संथारे के लिए शरीर व कषायों को कृश करने का अभ्यास संलेखना द्वारा करना चाहिए।

प्रश्न 143. संलेखना कब धारण करनी चाहिए?

उत्तर संलेखना के योग्य–काल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि तिर्यञ्चों, मनुष्यों, देवों व अन्य उपसर्ग होने पर, भयंकर दुष्काल पड़ने पर, वृद्धावस्था आने पर, असाध्य रोग उत्पन्न होने पर इन्द्रिय–बल क्षीण होने पर अथवा अन्यान्य मृत्यु के कारणों के मिलने पर एवं निमित्तज्ञान आदि के द्वारा मरण समय समीप ज्ञात होने पर, शरीर में प्रकट होने वाले मरण चिह्नों को जानकर अत्यन्त उत्साह सहित संलेखना धारण करनी चाहिए।

प्रश्न 144. उपसर्ग के समय संथारा कैसे करना चाहिए?

उत्तर जहाँ उपसर्ग उपस्थित हो, वहाँ की भूमि पूँज कर बड़ी संलेखना में आए हुए 'नमोत्थुणं' से 'विहरामि' तक पाठ बोलना चाहिए और आगे इस प्रकार बोलना चाहिए "यदि उपसर्ग से बचूँ तो अनशन पालना कल्पता है, अन्यथा जीवन पर्यन्त अनशन है।"

प्रश्न 145. बड़ी संलेखना में मात्र अपने धर्माचार्य को ही नमस्कार किया है, अन्य आचार्यों व साधु–साध्वियों को क्यों नहीं?

उत्तर शरीर की अशक्तता, रुग्णता, वृद्धावस्था, आकस्मिक उपसर्ग, आतंक आदि कारणों में संलेखना संथारा किया जाता है। उस समय भी 'नमोत्थु णं' सिद्ध–अरिहन्त को देकर अपने धर्माचार्य–धर्मगुरु के विशिष्ट उपकार होने से उन्हें यथाशक्य विधिपूर्वक वन्दना की जाती है। सभी साधुओं को वंदना कर पाने के सामर्थ्य की उस अवस्था में कल्पना करना कैसे युक्ति संगत समझा जा सकता है ? किसी को करे किसी को नहीं तो क्या पक्षपात या रागद्वेष की संभावना नहीं। अब

500 साधु, 50 साधु या 10-20-25 जितने भी हों, उन्हें वन्दना कैसे कर पायेगा ? अतः समुच्चय सभी से क्षमायाचना माँग लेता है। प्रायः संथारा मृत्यु की सन्निकटता में पच्चक्खाया जाता है। अतः उतना समय भी नहीं है, इसलिये सामान्य व्यवस्था यही कर दी गई। सुदर्शन, अर्हन्नक आदि के समक्ष उपसर्ग उपस्थित हैं, अल्पावधि में भी सिद्ध-अरिहन्त को नमस्कार करके यथा शीघ्र पच्चक्खाण करते हैं। तब सभी साधुओं को वंदना कैसे संभव है। वर्तमान में अधिकतर संथारे के पच्चक्खाण में तो व्यक्ति मात्र लेटा-लेटा सुनता रहता है वो नमोत्थुणं या गुरुओं की वंदना भी विधिपूर्वक नहीं कर पाता है। वर्तमान व्यवस्था में तीन वंदना कर लें तो भी उत्तम है।

प्रश्न 146. पाँच पदों की वंदना पंचांग नमाकर घुटने झुकाकर क्यों की जाती है?

उत्तर चूँकि यह आसन शरणागति अर्थात् अर्पणता का सूचक है। ''परमभावे तिष्ठति असौ परमेष्ठी।'' ये हमारे लिए परमाराध्य हैं। इनकी शरण ग्रहण करके ही हम भी परमभाव में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। अतः यह वंदना इसी आसन (मुद्रा) में की जाती है।

प्रश्न 147. भाव वन्दना में पहले पद में केवल तीर्थङ्कर भगवन्तों को वन्दना की गई है या केवली भगवन्तों का भी समावेश किया गया है ?

उत्तर यद्यपि तीर्थङ्कर तथा सामान्य केवली की भिन्नता के अनेक आगम पाठ उपलब्ध होते हैं, किंतु निम्नांकित आधारों से उन्हें एक मानकर प्रथम पद में लिया जाना उचित प्रतीत होता है-

1. खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खवंति, तं जहा-णाणावरणिज्जं........ ठाणा. 3/4

   क्षीणमोह अर्थात् अर्हत् के तीन कर्मांश एक साथ क्षय होते हैं-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय। मोहकर्म का क्षय उनके पहले ही हो चुका होता है।

   यहाँ 'अर्हत्' शब्द से क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान वालों को ग्रहण किया है। क्योंकि वे सभी द्रव्य अर्हत् हैं और शेष तीन घाति-कर्मों का क्षय होते ही तत्काल भाव अर्हत् होंगे। इस सूत्र से सामान्य केवली भी अर्हत् सिद्ध होते हैं।

2. राजप्रश्नीयसूत्र में राजा प्रदेशी के प्रश्न का उत्तर देते हुए केशी महाराज ने फरमाया-जो पाँच ज्ञान हैं उनमें से आभिनिबोधिक ज्ञान मुझे है, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्यव ज्ञान भी मुझे है और जो केवलज्ञान है वह मुझे नहीं है। वह अरिहंत भगवंतों को होता है। (सूत्र 241) इसमें प्रदेशी राजा के भविष्य में दृढ़प्रतिज्ञ कुमार के चरित का वर्णन है, जिसमें उनके

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद का वर्णन इस प्रकार आया है–तए णं से भगवं अरहा जिणे केवली भविस्सइ (सूत्र 286)। तब वे भगवान अर्हत् जिन केवली होंगे। उनके प्रदेशी राजा के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंधन का वर्णन नहीं होने पर भी उन्हें दृढ़ प्रतिज्ञ के भव में अरहा कहा गया। अन्य जीवों के अगले भव के लिए दृढ़प्रतिज्ञ कुमार के चरित की भोलावण भी मिलती है। सूत्र संख्या 241 तथा 286 से सामान्य केवली व अरिहंत का एकत्व अपने आप सिद्ध हो जाता है।

3. अनुयोगद्वार सूत्र में क्षायिक भाव का स्वरूप सूत्र संख्या–244 में बतलाया है। क्षयनिष्पन्न क्षायिक भाव अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे–उत्पन्न ज्ञान–दर्शन धारी, अर्हत् जिन, केवली। क्षायिक भाव से निष्पन्न भावों के समान 'अर्हत् दशा' भी सामान्य केवली में रहती है।
4. भगवती सूत्र शतक 12 उद्देशक 1 में वर्णित तीन प्रकार की जागरणाओं में पहली बुद्ध जागरिका है। यह जागरिका सभी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थङ्कर एवं सामान्य केवलियों में समान रूप से मानी गयी है। सामान्य साधुओं में अबुद्ध जागरिका मानी है। यदि सामान्य केवलियों में पाँचवें पद में लेते हैं तो उनमें भी अबुद्ध जागरिका माननी पड़ेगी, जो कि शास्त्रकारों को इष्ट नहीं है।
5. भगवती सूत्र शतक 1 उद्देशक 4 में स्पष्ट उल्लेख है कि बीते अनंत शाश्वत काल में, वर्तमान शाश्वत काल में और अनंत शाश्वत भविष्यत् काल में जिन अंतकरों ने, चरम शरीरी वालों ने सब दु:खों का नाश किया है, करते हैं, करेंगे, वे सभी उत्पन्न ज्ञान–दर्शनधारी, अरिहंत, जिन और केवली होकर सिद्ध हुए हैं, होते हैं और होंगे।
6. भगवती सूत्र शतक 25 उद्देशक 6 में निर्ग्रन्थों का वर्णन किया गया है। उसमें स्नातक के भेदों में सामान्य केवली व तीर्थङ्कर दोनों को शामिल करके 36 द्वारों से विवेचन किया गया है। इन 36 द्वारों में तीर्थङ्कर व सामान्य केवली को एक समान मानते हुए उन्हें केवल–ज्ञान, केवलदर्शन धारक, अरिहंत, जिन, केवली बतलाया गया है।
7. समर्थ समाधान भाग–2, प्रश्न संख्या–1132, पृष्ठ संख्या 243 पर उल्लेख है कि केवली को वंदना प्रथम पद से होती है।
8. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष भाग–1, पृष्ठ संख्या–140 पर अर्हन्त के दो भेद किये हैं–1. तीर्थङ्कर, 2. सामान्य अरिहंत। इसी के पृष्ठ संख्या 141 पर अर्हंत के 7 भेद मिलते हैं–1. पाँच कल्याणक वाले, 2. तीन कल्याणक वाले, 3. दो कल्याणक वाले, 4. सातिशय केवली, 5. सामान्य केवली, 6. उत्सर्ग केवली, 7. अंतकृत केवली।

9. अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्र और अनंत बल वीर्य, इन चारों मूल गुणों में समानता होने से तीर्थङ्कर व सामान्य केवली दोनों को प्रथम पद में मानना चाहिए।
10. 'अरिहंताणं' पद की व्याख्या करते हुए आवश्यक निर्युक्ति में 'अरिहंत' पद की सर्वप्रथम व्याख्या की गई। तत्पश्चात् अरुहंत, अरूहंत, आदि पदों की व्याख्या की गई है। अरिहंत पद की व्याख्या में तीर्थङ्कर तथा सामान्य केवली दोनों को सम्मिलित किया गया है।

उपर्युक्त आधारों से स्पष्ट है कि सामान्य केवली भगवंतों को भी नवकार मंत्र के प्रथम पद में माना जाना चाहिए।

प्रश्न 148. प्रथम पद की वंदना में जघन्य बीस तथा उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर तीर्थङ्कर जी की गणना किस प्रकार की गई है ?

उत्तर महाविदेह क्षेत्र कुल पाँच होते हैं। इनमें सदैव चौथे आरे जैसी स्थिति होती है एवं यहाँ तीर्थङ्करों का सद्भाव भी शाश्वत कहा गया है। प्रत्येक महाविदेह क्षेत्र के मध्य में मेरुपर्वत है। इस कारण से पूर्व और पश्चिम के रूप में इनके दो विभाग हो जाते हैं। पूर्व महाविदेह के मध्य में सीता नदी और पश्चिम महाविदेह के मध्य में सीतोदा नदी के आ जाने से एक-एक के पुनः दो-दो विभाग हो जाते हैं। अतः प्रत्येक महाविदेह के चार विभाग हो गए। प्रत्येक विभाग में आठ-आठ विजय हैं। अतः एक महाविदेह में 8 x 4 = 32 एवं पाँच महाविदेह में 32 x 5 =160 विजय होते हैं। प्रत्येक विभाग में जघन्य एक तीर्थङ्कर होते हैं, अतः जम्बूद्वीप के महाविदेह में 4, धातकीखण्ड एवं अर्द्धपुष्कर द्वीप के महाविदेह में 8-8 तीर्थङ्कर जघन्य होते ही हैं। इस प्रकार यह जघन्य 20 का कथन हुआ। जब उत्कृष्ट तीर्थङ्करों की संख्या हो तो प्रत्येक विजय में एक-एक यानी 160 एवं उसी समय यदि पाँच भरत एवं पाँच ऐरावत में भी एक-एक यानी कुल 10 तो ये सब मिलाकर 170 तीर्थङ्कर उत्कृष्ट एक साथ हो सकते हैं।

प्रश्न 149. 64 इन्द्र किस प्रकार होते हैं? समझाइए।

उत्तर इन्द्र देवगति में ही होते हैं। चार प्रकार के देवता कहे गए हैं-भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक। भवनपति में उत्तर दिशा एवं दक्षिण दिशा में 10-10 यानी कुल 20 तथा इसी प्रकार व्यंतर में 16 x 2= 32 इन्द्र होते हैं। ज्योतिषी में चन्द्र और सूर्य में दो इन्द्र होते हैं। वैमानिक में प्रथम से आठवें देवलोक तक एक-एक इन्द्र एवं नवें-दसवें तथा ग्यारहवें-बारहवें देवलोक का एक-एक कुल 10 इन्द्र हुए। इस प्रकार चारों जाति के क्रमशः 20+32+2+10 = 64 इन्द्र होते हैं।

प्रश्न 150. सिद्धों के 14 प्रकार कौन-कौनसे हैं?

उत्तर स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहस्थलिंग सिद्ध, जघन्य अवगाहना, मध्यम अवगाहना, उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध, ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक से होने वाले सिद्ध, समुद्र में तथा जलाशय में होने वाले सिद्ध। इनका कथन उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवें अध्ययन की गाथा 50-51 में है।

प्रश्न 151. चौरासी लाख जीवयोनि के पाठ में 18,24,120 प्रकारे 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया जाता है। ये प्रकार किस तरह से बनते हैं?

उत्तर जीव के 563 भेदों को अभिहया, वत्तिया आदि 10 विराधना से गुणा करने पर 5,630 भेद बनते हैं। अब ये या तो राग रूप या द्वेष रूप अतः इन दो से गुणा करने पर 11,260 भेद बने। फिर इनको मन-वचन एवं काया इन तीन योगों से गुणा किया तो 33,780 भेद हुए। पुनः तीन करण से गुणित करने पर 1,01,340 भेद बने। तीन काल से गुणा करने पर 3,04,020 भेद हुए। ये सब पंच परमेष्ठी और आत्मसाक्षी से होते हैं अतः 6 से गुणा करने पर 18,24,120 प्रकार बनते हैं। वस्तुतः जैन धर्म में अपने दोष-दर्शन का सूक्ष्मतम विवेचन प्रकट हुआ है।

563 (जीव के भेद) x 10 (विराधना) x 2 (राग-द्वेष) x 3 (योग) x 3 (करण) x 3 (काल) x 6 (साक्षी)= 18,24,120

प्रश्न 152. 84 लाख जीवयोनि के पाठ में बतलाए गए पृथ्वीकायादि के सात लाख आदि भेद किस प्रकार बनते हैं?

उत्तर योनि का शाब्दिक अर्थ होता है- उत्पत्ति स्थल। जीवों के उत्पत्ति स्थल को जीव योनि कहा गया। ये स्थल (योनि) भाँति-भाँति के वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-संस्थान से युक्त होते हैं। यहाँ पृथ्वीकायादि जीवों के मूलभेदों में पाए जाने वाले वर्णादि की सर्व संभाव्यता की विवक्षा से यह कथन किया गया है। जिसे निम्न सारणी अनुसार समझा जा सकता है।

जीव	**मूलभेद**		**वर्ण**	**गंध**	**रस**	**स्पर्श**	**संस्थान**	**कुल**
पृथ्वीकाय	350	x	5	2	5	8	5	7 लाख
अप्काय	350	x	5	2	5	8	5	7 लाख
तेउकाय	350	x	5	2	5	8	5	7 लाख
वायुकाय	350	x	5	2	5	8	5	7 लाख

जीव	मूलभेद		वर्ण	गंध	रस	स्पर्श	संस्थान	कुल
साधारण वनस्पति	500	x	5	2	5	8	5	10 लाख
प्रत्येक वनस्पति	700	x	5	2	5	8	5	14 लाख
बेइन्द्रिय	100	x	5	2	5	8	5	2 लाख
तेइन्द्रिय	100	x	5	2	5	8	5	2 लाख
चउरिन्द्रिय	100	x	5	2	5	8	5	2 लाख
तिर्यंच पंचेन्द्रिय	200	x	5	2	5	8	5	4 लाख
मनुष्य	700	x	5	2	5	8	5	14 लाख
देवता	200	x	5	2	5	8	5	4 लाख
नारकी	200	x	5	2	5	8	5	4 लाख
								-------
								84 लाख

प्रश्न 153. कायोत्सर्ग आवश्यक में सदा समान संख्या में लोगस्स का ध्यान क्यों नहीं किया जाता है?

उत्तर दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण में पिछले लगभग 15 मुहूर्त (12 घण्टे) जितने अल्प समय में लगे अतिचारों की ही शुद्धि करनी होती है। अतः उस शुद्धि के लिए मात्र चार लोगस्स का ही ध्यान पर्याप्त होता है, पर पाक्षिक प्रतिक्रमण में 15 दिनों में लगे अतिचारों की शुद्धि करनी होती है, अतः चार लोगस्स से दुगुने 8 लोगस्स का ध्यान आवश्यक होता है तथा चातुर्मासिक में चार माह में लगे अतिचारों की एवं सांवत्सरिक में वर्षभर में लगे अतिचारों की शुद्धि करनी होती है। अतः क्रमशः तीन गुने 12 व पाँच गुने 20 लोगस्स का ध्यान आवश्यक होता है। आचार्यों द्वारा इनकी संख्या उपर्युक्तानुसार निर्धारित की गई हैं।

प्रश्न 154. कायोत्सर्ग का क्या तात्पर्य है?

उत्तर काया की ममता का त्याग। तप के 12वें भेद, आभ्यन्तर तप के अन्तिम भेद व्युत्सर्ग के प्रथम द्रव्य व्युत्सर्ग का पहला उपभेद-'शरीर व्युत्सर्ग' है। इसे उत्तराध्ययन के 26वें अध्याय में 'सव्वदुक्खविमोक्खणं' कहा अर्थात् सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा दिलाने वाला माना। दुःख क्यों है? तो उत्तराध्ययन 6/12 में शरीर की आसक्ति को दुःख का मोटा कारण कहा- आसक्ति छूटी, ममता मिटी और दुःख की संभावना घटी। अतः सुस्पष्ट हुआ कि शरीर की ममता की तिलांजलि कायोत्सर्ग है। भाव कायोत्सर्ग ध्यान को कहकर द्रव्य रूप से- नैसर्गिक श्वास,

खाँसी आदि की आपवादिक अपरिहार्य क्रियाओं को छोड़, काया के व्यापार को, चेष्टा को रोक, काया से ऊपर उठना कायोत्सर्ग है।

सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति।
दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाणं।।

–आवश्यक चूर्णि, आचार्य जिनदासगणि

प्रायः कायोत्सर्ग में 2 ही प्रकार के कार्य का विधान है–

1. **निज स्खलना दर्शन/चिन्तन**–इच्छाकारेणं का कायोत्सर्ग एवं प्रतिक्रमण के पहले सामायिक आवश्यक में कायोत्सर्ग।
2. **गुणियों के गुणदर्शन/कीर्तन**–लोगस्स का कायोत्सर्ग (सामायिक पालते व प्रतिक्रमण का पाँचवाँ आवश्यक)

दशवैकालिक की द्वितीय चूलिका तो साधक को 'अभिक्खणं काउस्सग्गकारी' से कदम-कदम पर कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता को छोड़ने की प्रेरणा कर रही है।

संक्षेप में समाधान का प्रयास है, विस्तृत विवेचना व्याख्या सहित ग्रन्थों में उपलब्ध है।

प्रश्न 155. लोगस्स के पाठ के संबंध में दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है कि लोगस्स की रचना कुन्दकुन्दाचार्य ने की है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि प्रथम पद को छोड़कर सभी पद एक-दो शब्दों के परिवर्तन के अलावा समान ही हैं। क्या आवश्यक सूत्र में प्राप्त लोगस्स का पाठ कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित है?

उत्तर दिगम्बर ग्रन्थों में शौरसेनी प्राकृत का उपयोग हुआ है जबकि श्वेताम्बर वाङ्मय अर्धमागधी भाषा में है। अतः दिगम्बर का लोगस्स मूल होने का प्रश्न ही नहीं और फिर कुन्दकुन्दाचार्य तो बहुत बाद में हुए, गणधर प्रणीत वाङ्मय अति प्राचीन है। लोगस्स ही क्या, कितने ही अन्यान्य सूत्र गाथाओं में समानता है, पर इससे उनका मौलिक और श्वेताम्बरों का अमौलिक नहीं कहा जा सकता है।

प्रश्न 156. 'वोसिरामि' के स्थान पर 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग कहाँ तक उचित है?

उत्तर स्वयं को जब प्रत्याख्यान करना हो तो 'वोसिरामि' शब्द बोला जाता है तथा दूसरे को प्रत्याख्यान कराते समय 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मान लीजिए, कोई उपवास माँग रहा है, कराने वाले को तो करना नहीं, 'वोसिरामि' बोलने से 'मैं वोसराता हूँ' - स्वयं के त्याग हो जायेगा। अतः दूसरे को त्याग कराने हेतु व्याकरण की दृष्टि से 'वोसिरे' शब्द का प्रयोग उचित है।

तीर्थङ्कर भगवन्त आदि दीक्षा का प्रत्याख्यान करते समय 'वोसिरामि' नहीं बोल सकते। स्वयं की दीक्षा में 'वोसिरामि' बोलते हैं। जब दीक्षा प्रदाता तीर्थङ्कर भगवन्त सैकड़ों-हजारों मुमुक्षुओं को दीक्षा प्रदान कर सकते हैं तो पच्चक्खाण में 'वोसिरे' बोलने में क्या आपत्ति?

प्रश्न 157. वर्तमान में प्रत्याख्यान आवश्यक के अंतर्गत मात्र आहारादि का प्रत्याख्यान किया जाता है। दसों प्रत्याख्यान आहारादि के त्याग से ही संबंधित हैं। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषायादि के त्याग का प्रयोजन इस आवश्यक से कैसे हल हो सकता है?

उत्तर जिज्ञासा में सबसे पहला शब्द है-'वर्तमान'। यह केवल वर्तमान में ही नहीं, पूर्व से प्रचलित है। उत्तराध्ययन के 26वें अध्याय की गाथा 51, 52 में देखिए-

किं तवं पडिवज्जामि एवं तत्थ विचिंतए।
काउस्सग्गं तु पारित्ता वंदिऊण तओ गुरुं।।51।।
पारिय काउस्सग्गो, वंदित्ताण तओ गुरुं।
तवं से पडिवज्जेत्ता करिज्जा सिद्धाण संथवं।।52।।

स्पष्ट है पाँचवें आवश्यक में चिन्तन करके छठे आवश्यक में तप स्वीकार करे। रात्रिकालीन प्रतिक्रमण के पाँचवें आवश्यक में अपना सामर्थ्य तोले- क्या मैं 6 मास तप अंगीकार कर सकता हूँ? यदि नहीं, तो क्या 5 मास···? यावत् उपवास, आयंबिल····नहीं तो कम से कम नवकारसी उपरांत तो स्वीकार करूँ। देवसिक में चिन्तन बिना, छठे आवश्यक में गुणधारण किया जाता है। यह भगवती सूत्र शतक 7 उद्देशक 2 में वर्णित सर्वउत्तर गुण प्रत्याख्यान रूप होता है।

सर्व मूलगुण (5 महाव्रत), देश मूलगुण(5 अणुव्रत) व देश उत्तर गुण (3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत) चारित्र अथवा चारित्राचारित्र में आते हैं, जबकि देश मूल गुण तप में। उत्तराध्ययन की गाथा 'तप' का ही कथन कर रही है, अतः देश मूल गुण प्रत्याख्यान प्राचीन काल से प्रचलित है। सम्यक्त्व ग्रहण करने के लिए किसी भी प्रत्याख्यान का आगम में उल्लेख नहीं। वर्तमान में अरिहंत मेरे देव, सुसाधु गुरु के द्वारा बोध प्रदान कर उपासकदशांग आदि के वर्णन द्वारा पुष्ट, हिंसाकारी प्रवृत्ति में प्रवृत्त सरागी देवों से बचने व कुव्यसन त्याग का ही नियम कराया जाता है। सम्यक् श्रद्धान एवं जानकारी पूर्वक ही सुपच्चक्खाण होते हैं।

साधक दो प्रकार के होते हैं-त्रिकरण त्रियोग से आगार रहित पाँच आस्रव का त्यागकर पाँच महाव्रत लेने वाले अथवा भगवती शतक 8 उद्देशक 5 के अनुसार 49 ही भाँगों में से किसी के

द्वारा पाँच अणुव्रत ले उनकी पुष्टि में 7 देश उत्तर गुण स्वीकार करने वाले। अर्थात् व्रत स्वीकार करने पर उसके पूर्ण भंग से पूर्व तक की स्खलना/त्रुटि/दोष/विराधना जो कि प्रायः अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तक की श्रेणि की है- उनकी शुद्धि हेतु या व्रत-छिद्रों को ढाँकने के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। जिस प्रकार प्रतिक्रमण का सामायिक आवश्यक नवें व्रत की सामायिक से भिन्न है उसी प्रकार प्रत्याख्यान आवश्यक भी सामान्य प्रत्याख्यान (चारित्र अथवा चारित्राचारित्र) से भिन्न मात्र तपरूप ही है।

'नाणदंसणचरित्त (चरित्ताचरित्त) तव-अइयार-चिंतणत्थं करेमि काउस्सग्गं' 'देवसिय-पायच्छित्त-विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं' आदि से भी यही ध्वनित होता है कि पूर्व गृहीतव्रतों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण किया जाता है। प्रथम आवश्यक में अतिचारों को ध्यान में ले, चौथे आवश्यक में मिथ्यादुष्कृत दें, व्रतों के स्वरूप को (श्रमण सूत्र या श्रावक सूत्र) पुनः स्मृति में ले, मिथ्यात्व, अव्रत को तिलांजलि देता हुआ दर्शन, ज्ञान, चारित्र (चारित्राचारित्र) में पुनः दृढ़ बनने का मनोबल जगाता हुआ छठे आवश्यक में अनशन आदि बाह्य तप स्वीकार करने के पूर्व पाँचवें आवश्यक में व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) रूपी आभ्यंतर तप करता है।

दसविध प्रायश्चित्त में तप के पश्चात् छेद, मूल का स्थान है, पर यहाँ तो वह प्रायश्चित्त रूपी तप भी नहीं, मात्र प्रथम के 3- आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभयरूपी प्रायश्चित्त में गुणधारण के रूप में तप अंगीकार किया जाता है। अतः मूलगुण के प्रत्याख्यान अलग समझ पूर्वक ग्रहण करने की व्यवस्था युक्तियुक्त है, जैसे अंतगड, अनुत्तरौपपातिक में सर्व मूलगुण व उपासकदशा में देश मूलगुण प्रत्याख्यान स्वीकार करने के दृष्टान्त हैं। मिथ्यात्व-त्याग में खंधक जी (भगवती 2/1), शकडालपुत्र जी (उपासक 7), परदेशी राजा (रायप्पसेणिय), सुमुख गाथापति आदि (सुखविपाक) के उदाहरण हैं, उन्हें बोधि प्राप्त हुई, तदनन्तर उन्होंने प्रत्याख्यान ग्रहण किये। अतः इस आवश्यक से मिथ्यात्व आदि के त्याग का संबंध नहीं, उनके छूटने पर ही सुपच्चक्खाण संभव है।

प्रश्न 158. पाँच प्रतिक्रमण मुख्य रूप से कौन से पाठ से होते हैं?

उत्तर **मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण**-अरिहंतो महदेवो, दंसण समकित के पाठ से।

अव्रत का प्रतिक्रमण-पाँच महाव्रत और पाँच अणुव्रत से।

प्रमाद का प्रतिक्रमण-आठवाँ व्रत और अठारह पापस्थान से।

कषाय का प्रतिक्रमण–अठारह पापस्थान, क्षमापना-पाठ एवं इच्छामि ठामि से।

अशुभयोग का प्रतिक्रमण–इच्छामि ठामि, अठारह पापस्थान, नवमें व्रत से।

प्रश्न 159. मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय व अशुभ योग का प्रतिक्रमण किसने किया?

उत्तर मिथ्यात्व का श्रेणिक राजा ने, अव्रत का परदेशी राजा ने, प्रमाद का शैलक राजर्षि ने, कषाय का चण्डकौशिक ने और अशुभयोग का प्रतिक्रमण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने किया।

प्रश्न 160. प्रतिक्रमण का प्रथम आवश्यक सामायिक है। सामान्यतः सामायिक ग्रहण करने के पश्चात् ही प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। इस स्थिति में पहले आवश्यक 'सामायिक' की क्या आवश्यकता है? यदि करेमि भंते के पाठ से भी सामायिक हो जाती है तो सामायिक लेते समय विधि करने की क्या उपयोगिता है?

उत्तर सामायिक की साधना नवमें व्रत की आराधना है, जबकि आवश्यक सूत्र की उपादेयता सामायिक सहित सभी व्रतों के लगे अतिचारों की शुद्धि करने में है। रेल की यात्रा में नवमें व्रत की आराधना अर्थात् 18 पाप के त्याग रूपी संवर-साधना नहीं हो सकती जबकि आवश्यक सूत्र के सभी आवश्यक यानी सामायिक भी आवश्यक हो सकता है। वहाँ प्रथम आवश्यक में कायोत्सर्ग अर्थात् काया की ममता छोड़कर अतीत के अतिचारों का चिन्तन किया जाता है, उस कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल वर्तमान निर्दोषता में पूर्व के दोषों का आलोकन संभव होना ध्वनित किया जाता है। अतः सामायिक में विधि करना अनिवार्य है और कायोत्सर्ग की भूमिका में 'करेमि भंते' का पाठ बोल प्रथम सामायिक आवश्यक में सामायिक का पच्चक्खाण करने के लिए नहीं, अपितु **'समता की भूमिका में समस्त पापों की शुद्धि संभव'** पर आस्था रखकर अतिचार देखना है। दोनों अलग-अलग है।

प्रश्न 161. चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में कभी बायाँ एवं कभी दायाँ घुटना ऊँचा क्यों किया जाता है?

उत्तर चौथे प्रतिक्रमण आवश्यक में व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना एवं व्रत धारण की प्रतिज्ञा का स्मरण किया जाता है। व्रतों की आलोचना के लिए मन-वचन-काया से विनय अर्पणता आवश्यक है। बायाँ घुटना विनय का प्रतीक होने से व्रतों में लगे हुए अतिचारों की आलोचना के समय बायाँ घुटना खड़ा करके बैठते हैं अथवा खड़े होते हैं। श्रावकसूत्र में व्रत-धारण रूप प्रतिज्ञा की जाती है। प्रतिज्ञा-संकल्प में वीरता की आवश्यकता है। दायाँ घुटना वीरता का प्रतीक होने से इस समय दायाँ घुटना खड़ा करके व्रतादि के पाठ बोले जाते हैं।

प्रश्न 162. क्या श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र बोल सकता है?

उत्तर नहीं।

प्रश्न 163. इसका क्या कारण है?

उत्तर श्रमण का अर्थ साधु होता है, श्रावक नहीं। अत: श्रमण सूत्र साधु को ही बोलना चाहिए , श्रावक को नहीं।

प्रश्न 164. श्रमण का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर शास्त्रों के अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि श्रमण का अर्थ साधु ही होता है। देखिए, आगमों के वे प्रमाण–

दशवैकालिक सूत्र के प्रमाण–1. समणा (अध्ययन 1 गाथा 3) 2. सामण्णं (अध्ययन 2 गाथा 1) 3. समणेणं (अध्ययन 4) 4. समण्णं (अध्ययन 4 गाथा 29) 5. सामण्णम्मि (अध्ययन 5 उद्देशक 1 गाथा 10) 6. समणट्ठाए (अध्ययन 5 उद्देशक 1 गाथा 30 व 40) 7. समण्णं (अध्ययन 5 उद्देशक 2 गाथा 30) 8. समणा (अध्ययन 5 उद्देशक 3 गाथा 34) 9. समणे (अध्ययन 5 उद्देशक 2 गाथा 40) 10. सामणिए (अध्ययन 10 गाथा 14) 11. समण्णे (प्रथम चूलिका गाथा 9)।

उत्तराध्ययन सूत्र के प्रमाण–1. सामण्णं (अध्ययन 2 गाथा 16) 2. समणं (अध्ययन 2 गाथा 27) 3. सामण्णं (अध्ययन 2 गाथा 33) 4. समणं (अध्ययन 4 गाथा 11) 5. समणा (अध्ययन 8 गाथा 7) 6. समणा (अध्ययन 8 गाथा 13) 7. सामण्णे (अध्ययन 9 गाथा 61) 8. समणो (अध्ययन 12 गाथा 9) 9. समणा (अध्ययन 14 गाथा 17) 10. पावसमणे (अध्ययन 17) 11. सामण्णे (अध्ययन 18 गाथा 47) 12. समण (अध्ययन 19 गाथा 5) 13. सामण्णं (अध्ययन 19 गाथा 9) 14. सामण्णं (अध्ययन 19 गाथा 25) 15. सामण्णं (अध्ययन 19 गाथा 35) 16. समणत्तणं (अध्ययन 19 गाथा 40, 41, 42) 17. समण्णे (अध्ययन 19 गाथा 76) 18. समण्णे (अध्ययन 20 गाथा 8) 19. सामण्णस्स (अध्ययन 22 गाथा 46) 20. सामण्णं (अध्ययन 22 गाथा 49) 21. केसी कुमार समणे (अध्ययन 23) 22. समणो (अध्ययन 25 गाथा 31) 23. समणो (अध्ययन 25 गाथा 32) 24.समणेणं (अध्ययन 29 सूत्र 74) 25. समणे (अध्ययन 32 गाथा 4) 26. समणे (अध्ययन 32 गाथा 14 व 21)। समणे (अध्ययन 32 गाथा 14 व 21)।

नंदी सूत्र का प्रमाण–1. समण गण सहस्स पत्तस्स (गाथा 8)।

अनुयोगद्वार सूत्र का प्रमाण–1. समणे वा समणी वा (सूत्र 27)।

समणो (सामायिक प्रकरण)– यहाँ बत्तीस आगमों में से चार आगमों के ही प्रमाण दिए गए हैं। शेष आगमों में आए प्रमाणों का उल्लेख करें तो काफी विस्तार हो सकता है। अत: अति विस्तार नहीं किया गया है। सभी जगह श्रमण का अर्थ 'साधु' तथा श्रामण्य का अर्थ 'साधुत्व' लिया गया है। इन प्रमाणों से यह बात सर्वथा सिद्ध है कि श्रमण का अर्थ साधु ही होता है। आगमों में कहीं भी श्रमणोपासक को श्रमण कहकर नहीं पुकारा गया है।

प्रश्न 165. आपने अनेक प्रमाण दिए, किन्तु भगवतीसूत्र में श्रावक को भी श्रमण कहा गया है। भगवतीसूत्र के शतक 20 उद्देशक 8 में कहा गया है–''तित्थं पुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघे पण्णत्ते तंजहा– समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।'' यहाँ श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका चारों को श्रमण संघ के अन्तर्गत लिया गया है, जिससे मालूम पड़ता है कि श्रावक को भी श्रमण कहा गया है।

उत्तर भगवतीसूत्र के इस पाठ में श्रावक को श्रमण नहीं कहा गया है। यहाँ 'समणसंघे' का अर्थ है श्रमण प्रधान संघ। श्रमण प्रधान संघ को यहाँ तीर्थ कहा गया है तथा उसी श्रमण प्रधान संघ के अन्तर्गत साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं को ग्रहण किया गया है। श्रमण प्रधान संघ का तात्पर्य है जिसमें श्रमण प्रधान हो ऐसा संघ। चतुर्विध संघ में साधु महाव्रती होने के कारण प्रधान होते हैं एवं श्रावक अणुव्रती होने से उनकी अपेक्षा अप्रधान होते हैं, यह बात विज्ञजनों से छिपी हुई नहीं है। अत: भगवतीसूत्र के इस पाठ के आधार से भी श्रावक को श्रमण कहना अनुपयुक्त है।

प्रश्न 166. 'समणसंघे' का अर्थ श्रमण प्रधान संघ कैसे होता है?

उत्तर 'समणसंघे' यह पद एक समासयुक्त पद है। व्याकरण के अनुसार समासयुक्त पद का अर्थ विग्रह के माध्यम से किया जाता है। 'समणसंघे' यह मध्यम पद लोपी कर्मधारय समास से बना हुआ शब्द है। इसका विग्रह इस तरह होगा– श्रमण प्रधान: संघ: श्रमणसंघ:। जिस प्रकार 'शाकप्रिय' पार्थिव: में मध्यम पद 'प्रिय' का लोप होकर ' शाक पार्थिव:' शब्द बनता है, उसी प्रकार यहाँ भी 'श्रमण प्रधान: संघ: में मध्यम पद 'प्रधान:' का लोप होकर 'श्रमणसंघ:' शब्द बनता है।

प्रश्न 167. क्या किसी अन्य व्याख्याकार ने भी यह अर्थ किया है?

उत्तर हाँ! बेचरदासजी कृत भगवतीसूत्र के भाषानुवाद में भी 'समणसंघे' का अर्थ श्रमण प्रधान संघ किया गया है। पारम्परिक दृष्टिकोण से देखें तो भी प्रतिक्रमण के अन्तर्गत आने वाले 'बड़ी

संलेखना के पाठ' में भी 'साधु प्रमुख चारों तीर्थों' यही अर्थ प्राप्त होता है। इस आधार से भी श्रमण-प्रधान संघ यही अर्थ फलित होता है।

प्रश्न 168. माना कि सामान्यत: श्रावक के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग आगम विरुद्ध है, किन्तु जब वह श्रावक सामायिक आदि धर्म क्रियाएँ कर रहा हो, उस समय उसे श्रमण कहने में क्या हर्ज है?

उत्तर सामायिक करते हुए श्रावक को भी श्रमण कहना आगमानुकूल नहीं है। श्री भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में-''**समणोवासयस्स णं भंते! सामाइयकडस्स**''

इस सूत्र के द्वारा सामायिक किए हुए श्रावक को भी श्रमणोपासक ही कहा गया है और तो और दशाश्रुतस्कंध की छठी दशा में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन आया है। उनमें से सर्वोच्च ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक को कोई पूछे कि-''**केइ आउसो! तुमं वत्तव्वं सिया**'' ''हे आयुष्मन् तुम्हें क्या कहना चाहिए'' तो इस प्रकार पूछे जाने पर वह उत्तर दे कि-''**समणोवासए पडिमापडिवण्णए अहमंसीति**'' ''मैं प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ''

जब सर्वोच्च प्रतिमा का धारक श्रावक भी श्रमणोपासक यानी श्रमणों का उपासक है, श्रमण नहीं तो फिर अन्य कोई भी श्रावक श्रमण कैसे कहला सकता है? स्पष्ट है कि किसी भी श्रावक को श्रमण नहीं कहा जा सकता ।

प्रश्न 169. यदि श्रमण का अर्थ श्रावक न भी हो तो भी श्रावक को प्रतिक्रमण करते समय श्रमण सूत्र पढ़ने में क्या बाधा है?

उत्तर श्रमण सूत्र के अन्तर्गत आने वाली अनेक पाटियाँ ऐसी हैं, जो श्रावक द्वारा प्रतिक्रमण में उच्चरित करने की आवश्यकता नहीं है। श्रमण सूत्र की पाँचवीं पाटी में कहा गया है-'**समणोहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे**' अर्थात् ''मैं श्रमण हूँ, संयत हूँ , पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ तथा पाप कर्मों का प्रत्याख्यानी हूँ।

प्रतिज्ञा सूत्र में श्रावक स्वयं को श्रमण कहे तो वह दोष का भागी है। दशाश्रुतस्कंध की छठी दशा के प्रमाण से यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि ग्यारहवीं प्रतिमा की आराधना करने वाला श्रावक भी स्वयं को श्रमणोपासक कहता है, श्रमण नहीं कहता। अत: सावद्य योगों का दो करण तीन योग से त्याग करने वाले सामायिक में स्थित श्रावक के द्वारा स्वयं को श्रमण कहना मृषावाद की कोटि में प्रविष्ट होता है।

प्रश्न 170. तैंतीस बोलों में से अनेक बोल श्रावक के लिए यथायोग्य रूप से हेय, ज्ञेय अथवा उपादेय हैं। अत: तैंतीस बोल की पाटी का उच्चारण श्रावक प्रतिक्रमण में किया जाए तो क्या बाधा है?

उत्तर यद्यपि तैंतीस बोलों में से कुछ बोलों का सम्बन्ध श्रावक के साथ भी जुड़ा हुआ है फिर भी आगमों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि तैंतीस बोलों का सामूहिक कथन साधुओं के लिए ही किया गया है। देखिए स्थानांगसूत्र का नवाँ स्थान जिसमें भगवान महावीर अपनी तुलना आगामी उत्सर्पिणी काल में होने वाले प्रथम तीर्थङ्कर महापद्म से करते हुए फरमाते हैं कि जैसे मैंने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पहले से लेकर तैंतीसवें बोल तक तैंतीस बोलों का कथन किया है, उसी प्रकार महापद्म तीर्थङ्कर भी श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए एक से लेकर तैंतीस बोलों तक का कथन करेंगें। वह पाठ इस प्रकार है–

''मए समणाणं निग्गंथाणं एगे आरंभठाणे पण्णत्ते एवामेव महापउमे वि अहहा समणाणं निग्गंथाणं एगं आरंभठाणं पण्णवेहिइ, से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथणं दुविहे बंधणे पण्णत्ते तंजहा–पेज्जबंधणे, दोसबंधणे, एवामेव महापउमे वि अरहा समणा णिग्गंथाणं दुविहं बंधणं पण्णवेहिइ तंजहा–पेज्जबंधणं च दोसबंधणं च। से जहाणामए अज्जो! मए समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडा पण्णत्ता तं जहा मणदंडे वयदंडे कायदंडे एवामेव महापउमे वि समणाणं निग्गंथाणं तओ दंडे पण्णवेहिइ तंजहा मणोदंडं वयदंडं कायदंड से जहाणामए एएणं अभिलावेणं चत्तारि कसाया पण्णत्ता तं जहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोहकसाए पंच कामगुणे पण्णत्ते तंजहा सद्दे रुवे गंधे रसे फासे छज्जीवणिकाय पण्णत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव तसकाइया एवामेव जाव तसकाइया से जहाणामए एएणं अभिलावेणं सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता तं एवामेव महापउमे वि अरहा समणाणं निग्गंथाणं सत्त भयट्ठाणा पण्णवेहिइ एवमट्ठमयट्ठाणे, नव बंभचेरगुत्तीओ, दसविह समणधम्मे एगारस उवासगपडिमाओ एवं जाव तेत्तीसमासायणाउत्ति।''

अर्थ–आर्यों ! जैसे मैंने श्रमण–निर्ग्रन्थों के लिए एक आरंभ–स्थान का निरूपण किया है, उसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए एक आरम्भ.स्थान का निरूपण करेंगे। आर्यों! जैसे मैंने श्रमण–निर्ग्रन्थों के लिए दो प्रकार के बन्धनों का निरूपण किया है, जैसे–प्रेयबन्धन और द्वेषबन्धन। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण–निर्ग्रन्थों के लिए दो प्रकार के बन्धन कहेंगे। जैसे–प्रेयबन्धन और द्वेष बन्धन।

आर्यों! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए तीन प्रकार के दण्डों का निरूपण किया है, जैसे-मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए तीन प्रकार के दण्डों का निरूपण करेंगे। जैसे-मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड।

आर्यों! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए चार कषायों का निरूपण किया है, यथा- क्रोध-कषाय, मान-कषाय, माया-कषाय और लोभ-कषाय। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए चार प्रकार के लिए कषायों का निरूपण करेंगे। जैसे- क्रोध-कषाय, मान-कषाय, माया-कषाय और लोभ-कषाय।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए पाँच कामगुणों का निरूपण किया है, जैसे-शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श । इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए पाँच कामगुणों का निरूपण करेंगे। जैसे-शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए छह जीवनिकायों का निरूपण किया है। यथा-पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक , वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए छह जीवनिकायों का निरूपण करेंगे। यथा-पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए सात भय स्थानों का निरूपण किया है, जैसे-इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, वेदनाभय, मरणभय और अश्लोकभय। इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए सात भयस्थानों का निरूपण करेंगे। यथा-इहलोकभय, परलोकभय, आदानभय, अकस्माद्भय, वेदनाभय, मरणभय और अश्लोकभय।

आर्यो ! जैसे मैंने श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए आठ मदस्थानों का, नौ ब्रह्मचर्य गुप्तियों का, दस प्रकार के श्रमण-धर्मों का, ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का यावत् तैंतीस आशातनाओं का निरूपण करेंगे।

प्रश्न 171. यहाँ ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का कथन भी श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए किया गया है, जबकि इन प्रतिमाओं का पालन श्रावक ही कर सकता है, इसे कैसे समझा जाय?

उत्तर उपासक प्रतिमाओं की पालना श्रावक ही करता है किन्तु श्रमण-निर्ग्रन्थों को इन प्रतिमाओं का उपदेश दिया गया है, उसका कारण यह है कि तैंतीस बोलों का सामूहिक तौर से कथन साधुओं के लिए किया गया है। इन तैंतीस बोलों के अन्तर्गत होने से उपासक प्रतिमाओं का कथन भी साधुओं के लिए हो गया है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु इन उपासक प्रतिमाओं की श्रद्धा-प्ररूपणा शुद्ध रूप से करे।

प्रश्न 172. क्या इस कथन से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि यहाँ शास्त्रकारों को श्रमण–निर्ग्रन्थ का अर्थ 'श्रावक' करना अभीष्ट है?

उत्तर नहीं । इसी पाठ के आगे के सूत्रों को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमण–निर्ग्रन्थ का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं। देखिए वे सूत्र इस प्रकार हैं–

से जहाणामए अज्जो ! मए समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइए सपडिक्कमणे अचेलए धम्मे पण्णत्ते एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइयं जाव अचेलयं धम्मं पण्णवेहिइ। से जहाणामए अज्जो ! मए पंचाणुव्वइए सत्तसिक्खावइए दुवालसविहे सावगधम्मे पण्णत्ते एवामेव महापउमेवि अरहा पंचाणुव्वइयं जाव सावगधम्मं पण्णवेस्सह।

अर्थ–आर्यो ! मैंने श्रमण–निर्ग्रन्थों के लिए जैसे–प्रतिक्रमण और अचेलतायुक्त पाँच महाव्रत रूप धर्म का निरूपण किया है, इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी श्रमण–निर्ग्रन्थों के लिए प्रतिक्रमण और अचेलतायुक्त पाँच महाव्रत रूप धर्म का निरूपण करेंगे।

आर्यो ! मैंने जैसे पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण किया है, इसी प्रकार अर्हत् महापद्म भी पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म का निरूपण करेंगे।

यहाँ पाँच महाव्रतों का कथन करते समय 'समणाणं निग्गंथाणं' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु पाँच अणुव्रत आदि बारह प्रकार के श्रावक धर्मों का कथन करते समय भी 'समणाणं निग्गंथाणं' इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। यदि श्रमण–निर्ग्रन्थ का अर्थ श्रावक करना शास्त्रकारों को इष्ट होता तो शास्त्रकार पाँच अणुव्रतों का कथन करते समय भी 'समणाणं निग्गंथाणं' इन पदों का प्रयोग करते, किन्तु आगमकारों ने ऐसा नहीं किया जिससे स्पष्ट है कि श्रमण–निर्ग्रन्थ का अर्थ साधु ही होता है, श्रावक नहीं।

प्रश्न 173. क्या किसी अन्य आगम में भी तैंतीस बोलों का सामूहिक कथन मुनियों के लिए किया गया है?

उत्तर हाँ, उत्तराध्ययनसूत्र के इकतीसवें 'चरणविधि' नामक अध्ययन में भी इन तैंतीस बोलों का कथन है। वहाँ भी इन सभी बोलों को भिक्षु अर्थात् साधु के साथ सम्बन्धित किया गया है।

प्रश्न 174. यह तो समझ में आया, किन्तु श्रमण सूत्र की तीसरी पाटी ''पडिक्कमामि चाउक्कालं

सज्झायस्स अकरणयाए उभयोकालं भण्डोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए दुप्पडिलेहणाए...'' का उच्चारण श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं किया जा सकता?

उत्तर उस पाटी का उच्चारण भी श्रावक प्रतिक्रमण में होना उपयुक्त नहीं है। यह पाटी उभयकाल नियमपूर्वक वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना करने वाले मुनियों के प्रतिलेखन सम्बन्धी दोषों की विशुद्धि के लिए है। साधारणतया कोई श्रावक ऐसा नहीं होता कि अपने सभी वस्त्रों, बर्तनों, उपधियों की प्रतिलेखना करें। यदि श्रावक अपनी सभी वस्तुओं की प्रतिलेखना करता हो तो सुबह से शाम तक प्रतिलेखना ही करता रहे। उभयकाल नित्य प्रति प्रतिलेखना का विधान भी मुनियों के लिए किया गया है तथा उसका प्रायश्चित्त विधान भी निशीथ सूत्र में किया गया है। यथा-

'जे भिक्खू इतरियं पि उवहिं ण पडिलेहइ ण पडिलेहंतं वा साइज्जइ'

जो भिक्षु थोड़ी सी भी उपधि की प्रतिलेखना नहीं करता है या नहीं करने वाले का अनुमोदन करता है, वह प्रायश्चित का भागी है।

चूँकि प्रतिलेखना का नित्य-विधान मुनियों के लिए ही है। अत: इस पाटी का उच्चारण भी मुनियों को ही करना चाहिए, श्रावकों को नहीं।

प्रश्न 175. पौषध व्रत में श्रावक भी प्रतिलेखन करता है, अत: श्रावक भी यह पाटी क्यों न बोले?

उत्तर पौषध व्रत श्रावक नित्य प्रति नहीं करता है। अत: श्रावक प्रतिक्रमण में इसके उच्चारण की आवश्यकता नहीं रहती है। साथ ही यह भी समझने योग्य है कि पौषध व्रत में लगे प्रतिलेखन सम्बन्धी दोषों की विशुद्धि पौषध व्रत के अतिचार-शुद्धि के पाठ से हो जाती है। वहाँ बतलाया गया है-''**अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सेज्जासंथारए, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सेज्जासंथारए**'' यानी ''शय्या संस्तारक की प्रतिलेखना न की हो या अच्छी तरह से न की हो, पूँजा न हो या अच्छी तरह से न पूँजा हो। ....**तस्स मिच्छामि दुक्कडं।**

अत: पौषध व्रत में की जाने वाली प्रतिलेखना के दोषों की शुद्धि के लिए श्रमण सूत्र की इस पाटी के उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न 176. जैसे पौषध व्रत नित्य प्रति नहीं किया जाता , फिर भी उसके अतिचारों की शुद्धि का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में है, वैसे ही प्रतिलेखन नित्य प्रति नहीं किया जाने पर भी उसके दोषों की शुद्धि का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों नहीं हो सकता?

उत्तर श्रावक प्रतिक्रमण की विधि का सूक्ष्म निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि जो पाटियाँ श्रावक के

नित्यक्रम से जुड़ी हुई हैं यानी जो व्रत जीवनपर्यन्त के लिए हैं, उनकी शैली में तथा कभी-कभी पालन किये जाने वाले व्रतों की शैली में कुछ फर्क है। श्रावक के प्रथम आठ व्रत जीवनपर्यन्त के लिए होते हैं तथा अन्तिम चार व्रत कभी-कभी अवसर आने पर आराधित किए जाते हैं। कभी-कभी पालन किये जाने वाले पौषध आदि व्रतों में प्राय: इस प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया गया है कि ''ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है पौषध का अवसर आए, पौषध करूँ, तब फरसना करके शुद्ध होऊँ''

पौषध व्रत के अतिचार शुद्धि के प्रकरण में तो उपर्युक्त प्रकार का पाठ है, जबकि प्रतिलेखना-दोष-निवृत्ति तथा निद्रा-दोष-निवृत्ति आदि श्रमण सूत्र की पाटियों में ऐसा पाठ नहीं है कि 'ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है''''आदि।' इससे यह स्पष्ट है कि ये पाटियाँ साधुओं के लिए ही हैं क्योंकि ये मुनियों के नित्यक्रम से ही जुड़ी हुई हैं, श्रावकों के नहीं। यदि ये पाटियाँ श्रावकों के लिए होती तो इनमें भी 'ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो हैं''''' ऐसा पाठ होता, किंतु ऐसा पाठ नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि ये पाटियाँ श्रावक प्रतिक्रमण में नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न 177. निद्रा तो सभी श्रावक लेते हैं फिर 'निद्रा-दोष-निवृत्ति' का पाठ श्रावक प्रतिक्रमण में क्यों न हो?

उत्तर निद्रा-दोष-निवृत्ति के पाठ की शब्दावली ही यह बतला देती है कि यह पाठ साधु जीवन का है, श्रावक का नहीं। इस पाठ में अधिक देर तक सोने का , मोटे आसन पर सोने का, छींक-जंभाई से होने वाले दोष का, स्त्री विपर्यास का, आहार पानी सम्बन्धी विपर्यास आदि दोषों का प्रतिक्रमण होता है। श्रावक के लिए सोने के समय का कोई नियम शास्त्रकारों ने नहीं फरमाया, किन्तु साधु के लिए निश्चित समय बताया है। श्रावक डनलप के गद्दे पर भी सोता है, पर मुनि सामान्य पतले आसन का ही उपयोग करते हैं। श्राावक दिन रात खुले मुँह बोलता है, किन्तु मुनि मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं। अत: रात्रि में छींक-जंभाई आदि के अवसर पर अनुपयोग से मुखवस्त्रिका ऊँची नीची हो जाए तो खुले मुँह से वायु निकलने से हिंसा का दोष लग सकता है। श्रावक के लिये स्त्री को पास में रखकर शयन करने का निषेध नहीं है, किन्तु साधु तीन करण तीन योग से ब्रह्मचर्य का आराधक होता है। अत: स्वप्न में भी यदि स्त्री सम्बन्धी विपर्यास हो तो उसे दोष लग सकता है। अनेक श्रावक रात्रि को आहार करते हैं, किन्तु मुनि रात्रि भोजन के सर्वथा त्यागी होते हैं। अत: स्वप्न में भी आहार ग्रहण कर ले तो रात्रिभोजन सम्बन्धी दोष लग सकता है।

निद्रा संबंधी उपर्युक्त अनेक दोष साधु के लगते हैं। अत: यह पाठ साधु प्रतिक्रमण में ही होना चाहिए, श्रावक प्रतिक्रमण में नहीं।

प्रश्न 178. श्रावक भी पौषध आदि अवसरो पर उपर्युक्त अनेक नियमों का पालन करते हैं। अत: श्रावक प्रतिक्रमण में यह पाटी रहे तो क्या अनुचित है?

उत्तर पहले बताया जा चुका है कि कभी-कभी आराधित किए जाने वाले व्रतों की शैली में ''ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, अवसर आए तब फरसना करके शुद्ध होऊँ।'' आदि शब्दावली का प्रयोग हुआ करता है। इस पाटी में ऐसा प्रयोग न होने से स्पष्ट है कि यह पाठ साधु प्रतिक्रमण के ही योग्य है।

प्रश्न 179. तो फिर पौषध में निद्रा संबंधी दोषों की शुद्धि किससे होगी?

उत्तर पौषधव्रत के पाँच अतिचारों में पाँचवां अतिचार है-**''पोसहस्स सम्मं अणणुपालणया''** ''उपवासयुक्त पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं किया हो''। ग्यारहवें व्रत की पाटी बोलने से पाँच अतिचारों का शुद्धिकरण होता है, जिसमें पाँचवें अतिचार ''सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन न करने'' के अन्तर्गत निद्रा दोष आदि समग्र पौषध सम्बन्धी दोषों का शुद्धीकरण हो जाता है।

प्रश्न 180. उससे तो सामान्य शुद्धीकरण होता है, विशेष शुद्धीकरण के लिए अलग से पाटी होनी चाहिए?

उत्तर यदि एक-एक दोष के शुद्धीकरण के लिए अलग-अलग पाटियों की जरूरत रहेगी तो श्रावक प्रतिक्रमण में पहली, दूसरी, चौथी, पाँचवीं समिति, तीन गुप्ति, रात्रि भोजन-त्याग आदि सम्बन्धी अनेक पाटियाँ साधु प्रतिक्रमण में है वह ड़ालनी पड़ेगी, क्योंकि पौषध में श्रावक भी अपने स्तर से यथायोग्य इन बातों की पालना करता ही है, किन्तु ऐसा होना संभव नहीं है। अत: हर दोष के लिए अलग से पाठ की परिकल्पना करना योग्य नहीं है।

प्रश्न 181. आवश्यक सूत्र में ये सभी पाटियाँ हैं। श्रावक भी आवश्यक करता ही है, अत: श्रावक अपने प्रतिक्रमण में क्यों नहीं कहे?

उत्तर आवश्यक सूत्र में वर्तमान काल में उपलब्ध पाठ साधु-जीवन से सम्बन्धित हैं। यदि आवश्यक सूत्र में होने मात्र से इन पाठों को श्रावक प्रतिक्रमण में ग्रहण किया जायेगा तो श्रावक को भी 'करेमि भंते' में तीन करण तीन योग से सावद्य योगों का त्याग करना होगा, क्योंकि आवश्यक सूत्र में करेमि भंते का जो पाठ है, उसमें 'तिविहं तिविहेणं' का ही उल्लेख है।

आवश्यक सूत्र में आए हुए 'इच्छामि ठामि' के पाठ में भी ''तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीव निकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाण जोगाणं'' आदि रूप शब्दावली है। इसमें तीन गुप्तियाँ, पाँच महाव्रत, सात पिण्डैषणाएँ, आठ प्रवचन माताएँ, नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ आदि साधु-जीवन सम्बन्धी पाठ हैं। आवश्यक सूत्र में होने पर भी श्रावक इन पाठों का उच्चारण नहीं करके इनके स्थान पर श्रावक योग्य पाठ बोलता है, यथा-

''तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं पंचण्हमणुव्वयाणं बारसविहस्स सावग्गधम्मस्स'' का उच्चारण करता है। अत: आवश्यक सूत्र में है, ऐसा कहकर साधु प्रतिक्रमण के पाठों को श्रावक प्रतिक्रमण में बोलना कतई योग्य नहीं है।

प्रश्न 182. श्रमणसूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में बोलना सही मानना पड़ेगा क्योंकि किसी-किसी सम्प्रदाय में यह पाठ उच्चरित किया जाता रहा है।

उत्तर यह पाठ बोलना कब से शुरू हुआ इसका इतिहास तो ज्ञात नहीं है। प्राप्त प्रमाणों से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीनकाल में यह परम्परा नहीं थी। प्रवचनसारोद्धार की गाथा 175 की टीका करते हुए कहा है कि-

''सुत्तं तं सामायिकादिसूत्रं भणति साधु: स्वकीयं श्रावकस्तु स्वकीयम्'' इसमें स्पष्ट बताया है कि साधु अपना सूत्र यानी श्रमण सूत्र कहे तथा श्रावक अपना सूत्र यानी श्रावक सूत्र कहे। यदि साधु एवं श्रावक को एक ही पाठ बोलना होता तो दोनों अपना-अपना सूत्र बोलें ऐसा कथन क्यों होता?

क्रान्तिकारी आचार्य धर्मसिंहजी म.सा., जो कि दरियापुरी सम्प्रदाय के पूर्व पुरुष रहे हैं, ने भी श्रमण सूत्र का श्रावक प्रतिक्रमण में होना अनुचित बतलाया है। उनके वाक्य इस प्रकार हैं-

''श्रावक ना प्रतिक्रमण मां श्रमण सूत्र बोलवा नी जरूर नथी कारण के श्रमण सूत्र साधुओं माटे छे। अने श्रावक ने प्रत्याख्यान (नवकोटिए) नथी तेनुं प्रतिक्रमण करवानुं होय नही''

किसी-किसी सम्प्रदाय द्वारा किए जाने मात्र से यदि श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में कहना वैधानिक मान लिया जाए तो माइक आदि विद्युतीय साधनों के प्रयोग को भी वैधानिक मानना पड़ सकता है, क्योंकि वह भी कुछेक सम्प्रदायों द्वारा आचरित है।

आगमिक आधारों को प्रमुखता देने वाला साधुवर्ग एवं श्रावक वर्ग किसी भी परम्परा को तभी महत्त्व दे सकता है, जब वह आगम से अविरुद्ध हो। श्रावक प्रतिक्रमण में श्रमण सूत्र बोलना

ऊपर बतलाये गए अनेक कारणों से आगमसंगत नहीं लगता। अत: किसी समय में किन्हीं के द्वारा श्रमणसूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण में जोड़ कर परम्परा चला दी गई हो तथा किन्हीं ने अनुकरणशीलता की वृत्ति के अनुरूप उस परम्परा का अनुकरण कर भी लिया हो तो आगमिक आशय को स्पष्टतया जान लेने के पश्चात् उसे यथार्थ को स्वीकारते हुए श्रमण सूत्र को श्रावक प्रतिक्रमण से हटा देना चाहिए।

यदि परम्परा को ही सत्य माना जाय तो किसकी परम्परा को सत्य माना जाय। अनेक परम्पराओं के श्रावक बिना श्रमण सूत्र का प्रतिक्रमण करते हैं यथा-पंजाब के पूज्य अमरसिंहजी म.सा. की पंजाबी संतों की परम्परा, रत्नवंश की परम्परा, पूज्य जयमलजी म.सा. की परम्परा, नानक वंश की परम्परा, मेवाड़ी पूज्य अम्बालाल जी म.सा. की परम्परा, उपाध्याय पुष्करमुनि जी म.सा., मरुधरकेशरी मिश्रीमल जी म.सा. की परम्परा, कोटा सम्प्रदाय के खद्दरधारी गणेशीलालजी म.सा. की परम्परा, पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी म.सा. की परम्परा, गुजराती दरियापुरी सम्प्रदाय इत्यादि परम्पराओं के श्रावकों द्वारा बिना श्रमण सूत्र का प्रतिक्रमण किया जाता रहा है। ऐसी स्थिति में परम्परा सत्य को प्रमाणित कैसे कर पाएगी? अत: आगमों का प्रबल आधार सन्मुख रखते हुए श्रावक प्रतिक्रमण में श्रावक सूत्र का ही उच्चारण किया जाना चाहिए, श्रमण सूत्र का नहीं।

प्रश्न 183. 125 अतिचारों में से निम्नांकित कार्यों में मुख्य रूप से कौन सा अतिचार लगता है और क्यों?

1. बिना पूँजे रात्रि में शयन करना 2. बड़ों की अविनय आशातना करना 3. दीक्षार्थी के जुलूस को देखना 4. ताजमहल देखने जाना 5. निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना 6. मनपसन्द वस्तु स्वाद लेकर खाना 7. चारों प्रहर में स्वाध्याय न करना 8. अयतना से बैठना 9. शीतल वायु के स्पर्श में सुख अनुभव करना।

उत्तर सामान्य रूप से कथन- ज्ञान के 14, दर्शन के 5, संलेखना के 5, पाँच महाव्रतों की भावना के 25, रात्रि भोजन के 2, ईर्या समिति के 4, भाषा समिति के 2, एषणा समिति के 47, आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति के 2, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल परिष्ठापनिका समिति के 10, मनोगुप्ति के 3, वचन गुप्ति के 3, काय गुप्ति के 3 (संरंभ, समारंभ और आरंभ तीनों में) कुल 125।

1. **बिना पूँजे रात्रि में शयन करना**-अतिचार संख्या 24वाँ (100-101), निक्षेपणा समिति (118-126) काय गुप्ति 'आदान भण्ड-मत्त निक्खेवणा समिई भावणा' संयमी

को चाहिए कि संयम-साधना में उपयोगी उपकरणों को यतनापूर्वक ग्रहण करे एवं यतना पूर्वक रखे। बिना पूँजे रात्रि में शयन करने से छः काय की विराधना होने की संभावना रहती है। अतः साधक को अपने देह की एवं शय्या संस्तारक आदि की भी प्रतिलेखना कर ही शयन करना चाहिए, नहीं तो उसके अहिंसा महाव्रत में दोष लगता है।

(आचारांग 2-3-1 सूत्र 714 **से भिक्खू वा बहुफासुए सेज्जासंथारए दुरूहमाणे से पुव्वामेव रासीसोवरियं कायं पाए य पमज्जिय पमज्जित्ता तओ संजयामेव बहुफासए सिज्जासंथारए दुरुहिज्जा दुरुहित्ता तओ संजयामेव बहुफासए सेज्जासंथारए सएज्जा**)

2. **बड़ों की अविनय आशातना करना**–अतिचार संख्या 34, विणय समिई भावणा। साधक को अपने गुरुजनों का, साधर्मिक साधु-साध्वियों का विनय करना चाहिए। विनय धर्म का मूल है, विनय तप भी है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमों में विनय को विशेष महत्त्व दिया है। यदि साधक भगवान की आज्ञा की आराधना नहीं करता, तो उसके तीसरे महाव्रत में दोष लगता है। कहा भी है कि तीन वंदना भी यदि अविधि या अविनय से करे तो तीसरे महाव्रत में दोष लगता है।
3. **दीक्षार्थी के जुलूस को देखना**–अतिचार संख्या 41-चक्षुइन्द्रिय असंयम। साधक तो स्वकेन्द्रित होते हैं। संयम पथ पर बढ़ती हुई विरक्त आत्मा को देख अनुमोदना करते हैं। किन्तु जुलूस आदि देखने से मात्र चक्षु-इन्द्रिय का विषय पोषित होता है। परिग्रह, द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार का होता है। उस दृश्य के प्रति लोभ ही खींचकर देखने के स्थान तक ले जाता है, लोभ से अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगना सहज है।
4. **ताजमहल देखने जाना**–47वाँ अतिचार-देखने जाने में तो ईर्या समिति का अतिचार है, क्योंकि ईर्या का आलम्बन ज्ञान-दर्शन-चारित्र है-"**तत्थ आलम्बणं नाणं दंसणं चरणं तहा**" जबकि ताजमहल देखने के निमित्त जाने में एक भी आलम्बन सिद्ध नहीं होता तथा अतिचार संख्या 16 तथा 41 कंखा तथा चक्षुइन्द्रिय असंयम भी लगते हैं। ताजमहल, कुतुबमीनार, हाथी दाँत की मूर्तियाँ, काँच के महल, सरोवर, पर्वत आदि देखना संयमी जीवन के लिए अनुचित कार्य हैं। साधक का जीवन रागप्रधान नहीं, वैराग्यप्रधान होता है। वैराग्यप्रधान जीवन में चक्षु-इन्द्रिय के विषय को पोषित करने वाले दृश्य तुच्छ प्रतीत होते हैं। साधक का लक्ष्य आत्मावलोकन है, बाह्य अवलोकन नहीं। बाहर के दृश्य के प्रति राग संयमी साधक के अपरिग्रह महाव्रत को तो दूषित करते ही हैं साथ में दर्शन में अर्थात्

सम्यक्त्व में भी दोष लगाते हैं। बाह्य आडम्बर देखना, उनकी आकांक्षा करना, संयम के मूल दर्शन गुण में अतिचार का कारण होता है। साधक का जीवन कई भव्य आत्माओं द्वारा अनुकरणीय होता है। वे आत्माएँ साधक को ऐसा करते हुए देखेंगी तो उनके पवित्र हृदय में भी उस स्थान के प्रति श्रद्धा जग सकती है। अतः ऐसी अनुचित प्रवृत्ति से साधुत्व तो मलिन होता ही है, अन्यान्य जीवों को भी दिग्भ्रम होता है।

5. **निर्धारित समय पर निर्धारित घर में चाय लेने जाना**–अतिचार संख्या 53 वाँ, साथ ही और भी कई···· साधक वर्ग मात्र संयम–पालन के लिए आहार–पानी ग्रहण करते हैं। ऐसे जीवन में चाय, काफी आदि तामसिक पदार्थों की तो कोई आवश्यकता ही नहीं होती। बीमारी आदि के समय उस अवस्था में इन पदार्थों की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु नियमितता तथा निर्धारितता नहीं होती। यहाँ चाय के समान अन्य खाद्य पदार्थों को भी समझा जाए। यदि निर्धारित समय पर चाय आदि लेने जाए तो एषणा समिति के कई अतिचारों की संभावना रहती है। आधाकर्मी–गृहस्थ को पता रहेगा कि अभी साधु–साध्वी यह पदार्थ लेने आने वाले हैं तो वह स्वयं की आवश्यकता न होने पर भी उनके लिए बनाकर रखेगा। इसमें ठवणा की भी पूरी–पूरी संभावना रहती है। मिश्रजात– अध्यवपूरक जैसे कई अतिचारों की संभावना बनी हुई रहती है। स्वयं की लोभवृत्ति होने से रसनेन्द्रिय–असंयम होगा और अखण्ड रूप से ग्रहण किये गये पहले व 5वें महाव्रत में भी दोष लगेगा। स्वयं की लोभ प्रवृत्ति उत्पादना का भी दोष है। महाव्रतों, समिति आदि में दोष रूप थोड़ी सी चाय भारी कर्मबंध की हेतु बन सकती है।

6. **मनपसंद वस्तु स्वाद लेकर खाना**–अतिचार संख्या 43 और 98 स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को आहार, रसनेन्द्रिय के विषय को वश में रखकर करना चाहिए। मनोज्ञ वस्तु मिलने पर उसकी प्रशंसा करते हुए खाने से संयम कोयले के समान हो जाता है। इससे तीसरी समिति में दोष लगता है, उस वस्तु के प्रति राग रखने से अपरिग्रह महाव्रत भी दूषित होता है।

7. **चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करना**–अतिचार संख्या 12वाँ काले न कओ सज्झाओ–साधक को ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की निर्जरा के लिए, अप्रमत्तता को बनाये रखने के लिए, चारों काल में स्वाध्याय करना चाहिए। अगर वह चारों प्रहर में स्वाध्याय नहीं करता है तो ज्ञान का अतिचार लगता है। ज्ञान के प्रति बहुमान, आदर के भाव होने पर तो

स्वाध्याय निरन्तर होता है। ज्ञान आराधना के प्रति लापरवाह हो स्वाध्याय नहीं करने से ज्ञानातिचार लगता है।

8. **अयतना से बैठना**–अतिचार संख्या 118-120 कायगुप्ति नहीं रखना तथा 100-101 निक्षेपणा समिति का पालन न करना। साधु का जीवन यतना प्रधान जीवन है। उठना, बैठना, सोना, खाना, चलना आदि सभी कार्यों में यतना अत्यावश्यक है। उपासक वर्ग के लिए 5 समिति के साथ ही 3 गुप्ति भी ध्यातव्य है। अयतना से बैठना, हाथ-पैर फैलाना, समेटना आदि प्रवृत्तियाँ काय गुप्ति की खण्डना करती हैं। अतः साधक को दिन में विवेकपूर्वक देखकर तथा रात्रि में पूँजकर बैठना चाहिए। यहाँ तक कि रात्रि में दीवार का सहारा भी लेना पड़े तो बिना दीवार को पूँजे, सहारा लेना काय-अगुप्ति है। काया भी संयम में एक सहयोगी साधन ही है। उसमें अयतना चौथी समिति में भी दोष का कारण है।

9. **शीतल वायु के स्पर्श से सुख अनुभव करना**–अतिचार क्रम संख्या 44 स्पर्शनेन्द्रिय असंयम। साधक को वीतराग भगवन्तों ने आगम में स्थान-स्थान पर इन्द्रियों को वश में रखने की प्रेरणा दी है। संयम भी तभी सुरक्षित रह सकता है। अतः साधक कछुए के समान इन्द्रियों को गोपित करते हुए चले। संयमी साधक ग्रीष्मऋतु में शीतलवायु आने के स्थान को ढूँढ कर वहाँ बैठकर सुख का अनुभव करता है तो अपरिग्रह महाव्रत में दोष लगता है। शरीर पर मोह होना भी परिग्रह का ही रूप है।

प्रश्न 184. 33 आशातना में आवश्यक सूत्र व दशाश्रुत स्कन्ध के अधिकार में क्या अन्तर है?

उत्तर गुरु का विनय नहीं करना या अविनय करना, ये दोनों आशातना के प्रकार हैं। आशातना देव एवं गुरु की तथा संसार के किसी भी प्राणी की हो सकती है। धर्म-सिद्धान्तों की भी आशातना होती है। अतः आशातना की विस्तृत परिभाषा इस प्रकार से कर सकते हैं- ''देव-गुरु की विनय-भक्ति न करना, अविनय अभक्ति करना, उनकी आज्ञा-भंग करना या निन्दा करना, धर्म-सिद्धान्तों की अवहेलना करना, विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के साथ अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा या तिरस्कार करना 'आशातना' है। अर्थात् असभ्य व्यवहार करना, आवश्यक सूत्र की चौथी पाटी में अरिहन्त भगवान आदि की जो आशातनाएँ बताई गई हैं, वे इस तरह की आशातनाएँ हैं। जबकि दशाश्रुतस्कन्ध की तीसरी दशा में जो आशातनाएँ प्रदर्शित की गई हैं वे केवल गुरु और रत्नाधिक (संयम पर्याय में ज्येष्ठ) की आशातना से ही संबंधित हैं। गुरु के आगे, बराबर, पीछे अड़कर चलना। इसी तरह खड़े रहना तथा अविनय से

उनके समीप बैठना से लगाकर गुरुदेव से ऊँचे आसन पर बैठने तक की 33 आशातनाएँ दशाश्रुत स्कन्ध में वर्णित हैं। मुख्य अन्तर यही ध्यान में आता है।

प्रश्न 185. श्रमण सूत्र के तैंतीस बोल के चौथे बोल में 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं' बोला जाता है तथा अन्त में मिच्छामि दुक्कडं दिया जाता है। आर्त्त-रौद्र ध्यान का मिच्छामि दुक्कडं तो समझ में आया, किन्तु धर्मध्यान और शुक्लध्यान का अतिचार कैसे?

उत्तर आर्त्त और रौद्र ध्यान के करने से तथा धर्म और शुक्ल ध्यान के न करने से जो भी अतिचार लगा हो, उसका प्रतिक्रमण (मिच्छामि दुक्कडं) करता हूँ।

आगम की शैली है-जैसे श्रावक प्रतिक्रमण में-इच्छामि ठामि में-तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं... का अर्थ भी तीन गुप्तियों के नहीं पालन व चार कषायों के सेवन का प्रतिक्रमण करना ही समझा जाता है।

इस 33 बोल में 3 गुप्ति, ब्रह्मचर्य की नववाड़, ग्यारह श्रावक प्रतिमा, 12 भिक्षु प्रतिमा, 25 भावना, 27 अणगार गुण व 32 योग संग्रह आदि में धर्म-शुक्ल ध्यान के समान नहीं करने का, नहीं पालने का मिच्छा मि दुक्कडं है, जबकि अनेक में उनके सेवन का व कइयों में श्रद्धान प्ररूपण की विपरीतता का मिच्छा मि दुक्कडं है।

प्रश्न 186. 33 बोल श्रमणसूत्र का ही एक भाग है उसके उपरान्त भी 33 बोल के हिन्दीकरण करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर हिन्दी क्या अब तो अंग्रेजी में भी अनुवाद करना पड़ेगा। समय-समय पर प्रचलित भाषा में विवेचन करना अनुपयुक्त कैसे? पहले संस्कृत में था, आज गुजरात में गुजराती में है, शेष स्थानों पर हिन्दी में है। मूल सुरक्षित है, प्रतिक्रमण में उसे ही बोलते हैं, शेष विवेचन, मात्र उचित ही नहीं, उपादेय व उपयोगी भी है।

प्रश्न 187. स्थानकवासी परम्परा में दो प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में क्या धारणा है?

उत्तर प्रमुखतया तीन प्रकार की परिपाटी चल रही है-1. तीन चौमासी और एक संवत्सरी- इन चार दिवसों में दो प्रतिक्रमण करना। 2. केवल कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करना। 3. दो प्रतिक्रमण कभी नहीं करना।

प्रश्न 188. इस विविधता का क्या हेतु है?

उत्तर ज्ञाताधर्मकथा के पाँचवें अध्याय में शैलक राजर्षि जी को पंथकजी ने कार्तिक चौमासी के दिन

दैवसिक प्रतिक्रमण में जागृति प्राप्त नहीं होने पर चातुर्मासी प्रतिक्रमण की आज्ञा ली, परिणामस्वरूप प्रमाद का परिहार कर शैलक जी शुद्ध विहारी बने।

प्रश्न 189. इससे तीन मत कैसे बने?

उत्तर

1. प्रथम मत कहता है कि आगम में दो प्रतिक्रमण के विधि-निषेध का उल्लेख नहीं है। चरित्र के अन्तर्गत आए उल्लेख को स्वीकार कर कार्तिक चौमासी को दो प्रतिक्रमण करने चाहिए। चार माह तक एक स्थल पर रहने से प्रमाद (राग) विशेष बढ़ सकता है, उसके विशेष निराकरण के लिए दो प्रतिक्रमण करना चाहिए। शेष दो चौमासी व संवत्सरी का आगम में कहीं भी उल्लेख नहीं है, अतः उनमें नहीं करना चाहिए।
2. दूसरे मत का कथन है कि जब एक चौमासी को दो प्रतिक्रमण किये तो बाकी दो चौमासी को भी करना चाहिए और संवत्सरी चौमासी से बड़ी है, तब तो अवश्य करना चाहिए।
3. तीसरा मत कहता है कि आगम में विधिपूर्वक कहीं उल्लेख नहीं है। बीच के 22 तीर्थङ्करों के शासन व महाविदेह क्षेत्र में सामायिक चारित्र होता है, अस्थित कल्प होता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र व स्थित कल्पी प्रथम व अन्तिम जिन के शासन में ही चौमासा व प्रतिक्रमण आदि कल्प (मर्यादा) अनिवार्य होते हैं। बीच के तीर्थङ्करों की व्यवस्था से अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन की व्यवस्था भिन्न होती है, अतः एक ही प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रश्न 190. तो दो प्रतिक्रमण करने में, अधिक करने में नुकसान क्या है ?

उत्तर नहीं, आगम के विधान से अधिक करना भी दोष व आगम आज्ञा का भंग है, प्रायश्चित्त का कारण है। अच्चक्खरं का दोष 'आगमे तिविहे' के पाठ में है और इसी प्रकार की क्रिया के सम्बन्ध में भी उल्लेख है।

दूसरी बात फिर कोई कह सकता है-पक्खी को भी दो प्रतिक्रमण होने चाहिए। चौमासी को देवसिय, पक्खी व चौमासी-ये तीन होने चाहिए। आगम (उत्तराध्ययन अध्ययन 26) स्पष्ट ध्वनित कर रहा है कि पोरसी के चतुर्थ भाग (लगभग 45 मिनिट) में प्रतिक्रमण हो जाना चाहिए। चौमासी-संवत्सरी को अधिक लोगस्स का कायोत्सर्ग होने से प्रायः कुछ समय अधिक हो जाता है।

विक्रम सम्वत् 1990 में अजमेर साधु सम्मेलन में जहाँ 27 सम्प्रदाय के मूर्धन्य मुनिराजों ने मिलकर यह निर्णय लिया था कि साधु, साध्वी एवं श्रावक-श्राविकागण चौमासी, संवत्सरी

आदि प्रसंग पर भी 1 ही प्रतिक्रमण करे 2 नहीं। सम्वत् 2009 सादड़ी मारवाड़ में वृहत् साधु सम्मलेन हुआ उसमें भी अनेक सम्पद्राय के साधुओं ने मिलकर 1 ही प्रतिक्रमण का निर्णय लिया। यह भी बात विचारणीय है कि जो 2 प्रतिक्रमण करते हैं वे 1 प्रतिक्रमण में कितने आवश्यक मानते हैं? यदि 6 मानते हैं तो 2 प्रतिक्रमण 12 आवश्यक होने चाहिये लेकिन जहाँ तक सुनने में आता है वे लगभग 10 आवश्यक ही करते हैं तो उनके द्वारा यह कहना कि हम 2 प्रतिक्रमण करते हैं यह कहाँ तक सही माना जाए।

प्रश्न 191. जब कुछ समय अधिक हो ही जाता है तो फिर 30 मिनिट और अधिक होने में क्या नुकसान है ?

उत्तर 'काले कालं समायरे' के आगम कथन का उल्लंघन होता है। साथ ही उत्तराध्ययन के 26वें अध्याय की टीका, यति दिनचर्या आदि से स्पष्ट है कि सूर्य की कोर खंडित होने के साथ प्रतिक्रमण (आवश्यक) की आज्ञा ले। सामान्य दिन इस विधान का पालन किया जाता है। विशिष्ट पर्व चौमासी और संवत्सरी को तो और अधिक जागृति से पालना चाहिए। पर उस दिन दो प्रतिक्रमण करने वालों का यह विधान कितना निभ पाता है, समीक्षा योग्य है।

प्रश्न 192. तो क्या दो प्रतिक्रमण करना आगम विरुद्ध है?

उत्तर पूर्वाचार्यों ने अनेक विवादास्पद स्थलों पर 'तत्त्वं तु केवलिनो विदन्ति' करके अपना बचाव किया है। हम भी किसी भी विवाद में नहीं उलझें, परंपरा से जो गुरु ने फरमा दिया उसे श्रद्धा से स्वीकार कर उस अनुरूप प्रतिक्रमण आदि सम्पन्न करना चाहिए। महत्ता भाव की है अत: कषायों से बचते हुए गुरु-आज्ञा से धर्म आराधना में तत्पर रहें।

प्रश्न 193. पर आपका कोई ना कोई दृष्टिकोण तो होगा ही?

उत्तर हाँ, वो तो रखना ही होगा। गुरु भगवन्तों की कृपा से, आगम वर्णन से-कैशी गौतम संवाद। कालास्यवेषिक अणगार आदि पार्श्वनाथ भगवान् के अनेक साधु, भगवान् महावीर के शासन में आए, उन्होंने 5 महाव्रत के साथ प्रतिक्रमण वाले धर्म को स्वीकार किया, ऐसा आगम स्पष्ट कर रहा है। अर्थात् 24वें तीर्थङ्कर के शासन की व्यवस्था मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन से स्पष्ट अलग है, अतः मध्यवर्ती का कथानक यहाँ वर्तमान में लागू नहीं किया जा सकता।

शैलकजी को पंथकजी ने प्रतिदिन भी प्रमाद परिहरण के लिए प्रतिक्रमण कराया होगा, पर फिर भी वे सफल नहीं हो पाए। अतः चौमासी को उन्होंने विशेष प्रयास किया और उसमें सफलता मिल गई। इसी प्रकार विशेष दोष पर साधक अलग से आलोचन, प्रतिक्रमण आज भी करता है। पर सामान्य जीवन-चर्या में, साधना में एक प्रतिक्रमण की बात उचित प्रतीत होती है, अतः हम चौमासी व संवत्सरी को भी एक ही प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रश्न 194. प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ स्पष्ट कर उसके आठ पर्यायवाची बताइए।

उत्तर प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है-पीछे लौटना, अर्थात् साधक जिस क्रिया द्वारा अतीत में प्रमादवश किए हुए दोषों, अपराधों एवं पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है, वह प्रतिक्रमण कहलाता है। आचार्य हेमचन्द्रानुसार- सावद्यप्रवृत्ति में जितने आगे बढ गए थे उतने ही पीछे हटकर एवं शुभयोग रूप स्वस्थान में अपने आपको लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु का मन्तव्य है कि प्रतिक्रमण केवल अतीत में लगे दोषों की ही विशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्यकाल के दोषों की विशुद्धि भी करता है। आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची नाम बताए हैं-

1. **प्रतिक्रमण**–सावद्य योग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना।
2. **प्रतिचरणा**–अहिंसा, सत्य आदि संयम में सम्यक् रूप से विचरना।
3. **परिहरणा**–सभी प्रकार के अशुभ योगों का परित्याग करना।
4. **वारणा**–विषय भोगों से स्वयं को रोकना।
5. **निवृत्ति**–अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना।
6. **निंदा**–पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चात्ताप करना।
7. **गर्हा**–आचार्य, गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निंदा करना।
8. **शुद्धि**–कृत दोषों की आलोचना, निंदा, गर्हा तथा तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि करना।

प्रश्न 195. प्रतिक्रमण की क्या-क्या परिभाषाएँ प्रचलित हैं ?

उत्तर (1) कृत पापों की आलोचना करना, निंदा करना।

(2) व्रत, प्रत्याख्यान आदि में लगे दोषों से निवृत्त होना।

(3) अशुभ योग से निवृत्त होकर, निशल्य भाव से शुभयोग में उत्तरोत्तर प्रवृत्त होना।

(4) मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग से आत्मा को हटाकर फिर से सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र में लगाना प्रतिक्रमण है।

(5) पाप क्षेत्र से अथवा पूर्व में ग्रहण किये गये व्रतों की मर्यादा के अतिक्रमण से वापस आत्म-शुद्धि क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रश्न 196. आवश्यक सूत्र का प्रसिद्ध दूसरा नाम क्या है?

उत्तर प्रतिक्रमण सूत्र।

प्रश्न 197. आवश्यक सूत्र को प्रतिक्रमण सूत्र क्यों कहा जाता है?

उत्तर कारण कि आवश्यक सूत्र के छः आवश्यकों में से प्रतिक्रमण आवश्यक सबसे बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण है। इसलिये वह प्रतिक्रमण के नाम से प्रचलित हो गया है। दूसरा कारण वास्तव में प्रथम तीन आवश्यक प्रतिक्रमण की पूर्व क्रिया के रूप में और शेष दो आवश्यक उत्तरक्रिया के रूप में किये जाते हैं।

प्रश्न 198. प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों है?

उत्तर प्रतिक्रमण साधकजीवन की एक अपूर्वकला है तथा जैन साधना का प्राणतत्त्व है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं, जिसमें प्रमादवश दोष न लग सके। उन दोषों से निवृत्ति हेतु प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण में साधक अपने जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति का अवलोकन, निरीक्षण करते हुए इन दोषों से निवृत्त होकर हल्का बनता है।

प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, क्योंकि तन का रोग अधिक से अधिक एक जन्म तक ही पीड़ा दे सकता है, किन्तु मन का रोग एक बार प्रारम्भ होने के बाद, यदि व्यक्ति असावधान रहा तो हजारों ही नहीं, लाखों जन्मों तक परेशान करता है।

प्रश्न 199. प्रतिक्रमण करने से क्या-क्या लाभ हैं?

उत्तर
1. लगे हुए दोषों की निवृत्ति होती है।
2. प्रवचन माता की आराधना होती है।
3. तीर्थङ्कर नाम कर्म का उपार्जन होता है।
4. व्रतादि ग्रहण करने की भावना जगती है।
5. अपने दोषों की आलोचना करके व्यक्ति आराधक बन जाता है।
6. आवश्यक सूत्र की स्वाध्याय होती है।
7. अशुभ कर्मों के बंधन से बचते हैं।

प्रश्न 200. प्रतिक्रमण से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार संभव है?

उत्तर आत्मा को परमात्मा बनने में सबसे बड़ी रुकावट उसके साथ लगे हुए कर्म ही हैं। ये संचित कर्म तप के द्वारा क्षय किये जाते हैं एवं नये आने वाले कर्मों को संवर द्वारा रोका जाता है। दशवैकालिक सूत्र में वर्णित है कि 'खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।' प्रतिक्रमण में प्रथम आवश्यक द्वारा संवर की, द्वितीय एवं तृतीय आवश्यक में विनय तप की, चतुर्थ आवश्यक में प्रायश्चित्त तप की, पंचम आवश्यक में कायोत्सर्ग तप की एवं छठे आवश्यक में संवर की

साधना की जाती है। अर्थात् आवश्यक में तप एवं संवर की आराधना होती है जिससे स्पष्ट होता है कि यह जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ उपक्रम है, आध्यात्मिक जीवन की धुरी है। आत्मदोषों की आलोचना करने से पश्चात्ताप की भावना जागृत होने लगती है और उस पश्चात्ताप की अग्नि से सभी दोष जलकर नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न 201. प्रतिक्रमण करने से क्या आत्मशुद्धि (पाप का धुलना) हो जाती है?

उत्तर प्रतिक्रमण में दैनिक चर्या आदि का अवलोकन किया जाता है। आत्मा में रहे हुए आस्रवद्वार (अतिचारादि) रूप छिद्रों को देखकर रोक दिया जाता है। जिस प्रकार वस्त्र पर लगे मैल को साबुन आदि से साफ किया जाता है उसी प्रकार आत्मा पर लगी अतिचारादि की मलिनता को पश्चात्ताप आदि के द्वारा साफ किया जाता है। व्यवहार में भी अपराध को सरलता से स्वीकार करने पर, पश्चात्ताप आदि करने पर अपराध हल्का हो जाता है। जैसे ''माफ कीजिए (सॉरी)'' आदि कहने पर माफ कर दिया जाता है। उसी प्रकार अतिचारों की निन्दा करने से, पश्चात्ताप करने से आत्मशुद्धि (पाप का धुलना) हो जाती है। दैनिक जीवन में दोषों का सेवन पुनः नहीं करने की प्रतिज्ञा से आत्म-शुद्धि होती है।

प्रश्न 202. आवश्यक सूत्र में छह आवश्यकों का क्रम इस प्रकार क्यों रखा गया है?

उत्तर आवश्यक में साधना का जो क्रम रखा गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्णतः वैज्ञानिक है। साधक के लिए सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। बिना समता को अपनाए सद्गुणों के सरस सुमन खिलते नहीं और अवगुणों के काँटे झड़ते नहीं। जब अन्तर्हृदय में विषमभाव की ज्वालाएँ धधक रही हों तब वीतरागी महापुरुषों के गुणों का उत्कीर्तन कैसे संभव है? समत्व को जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति ही महापुरुषों के गुणों का संकीर्तन करता है और उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारता है। इसलिए सामायिक आवश्यक के पश्चात् चतुर्विंशति आवश्यक का क्रम रखा गया है।

जब गुणों को व्यक्ति हृदय में धारण करता है, तभी उसका सिर महापुरुषों के चरणों में झुकता है। भक्ति-भावना से विभोर होकर वह उन्हें वंदन करता है इसलिए तृतीय आवश्यक में वन्दना को रखा गया। वन्दना करने वाले साधक का हृदय सरल होता है, खुली पुस्तक की तरह वह अपने दोषों/अतिचारों का अवलोकन कर खेद प्रकट करता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना करता है। अतः वन्दना के पश्चात् चौथा क्रम प्रतिक्रमण का रखा गया है।

भूलों को स्मरण कर उन भूलों से मुक्ति पाने के लिए तन एवं मन में स्थिरता आवश्यक है।

कायोत्सर्ग में तन और मन की एकाग्रता की जाती है और स्थिर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। जब तन और मन स्थिर होता है, तभी प्रत्याख्यान किया जा सकता है। मन डाँवाडोल स्थिति में हो, तब प्रत्याख्यान संभव नहीं है। इसीलिए 'प्रत्याख्यान आवश्यक' का स्थान छठा रखा गया है।

इस प्रकार यह षडावश्यक आत्मनिरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठतम उपाय है।

श्न 203. प्रतिक्रमण के छह आवश्यकों को देव-गुरु-धर्म में विभाजित कीजिये।

उत्तर देव का-द्वितीय चतुर्विंशतिस्तव। गुरु का-तीसरा वंदना। धर्म का-प्रथम, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ (सामायिक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग व प्रत्याख्यान।)

प्रश्न 204. वर्तमान चौबीसी के शासनों में प्रतिक्रमण की परम्परा का उल्लेख कीजिये।

उत्तर प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर की परम्परा के साधु अतिचार-दोष लगे या न लगे किन्तु दोष-शुद्धि हेतु प्रतिदिन दोनों संध्याओं को प्रतिक्रमण करते हैं किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों की परम्परा के साधु-साध्वी दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करते हैं। क्योंकि प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकरों के शिष्य चंचल चित्त वाले, मोही, और जड़ बुद्धि वाले होते हैं तथा मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के शिष्य दृढ बुद्धि वाले पवित्र, एकाग्र मन वाले तथा शुद्ध चारित्र वाले होते हैं। इस प्रकार प्रथम एवं अंतिम तीर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण अवस्थित (अनिवार्य) कल्प है जबकि बाईस तीर्थंकरों के शासन में यह अनवस्थित (ऐच्छिक) कल्प था।

प्रश्न 205. दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही क्यों?

उत्तर इसके समाधान के निम्न बिन्दु हैं-1. उत्तराध्ययन सूत्र के 26वें अध्ययन में साधु समाचारी का सुन्दर विवेचन किया है। वहाँ गाथा 38-39 में दिन के चौथे प्रहर के चौथे भाग में लगभग (45 मिनट) पूर्व स्वाध्याय को छोड़कर उपकरणों की प्रतिलेखना (मुँहपत्ती, ओघा, पात्र आदि) और उसके पश्चात् उच्चार-प्रस्रवण भूमि के प्रतिलेखन का विधान किया गया है। निशीथसूत्र के चौथे उद्देशक में तीन उच्चार-प्रस्रवण भूमि (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट- अर्थात् नजदीक, दूर, और दूर) की प्रतिलेखना नहीं करने वाले को प्रायश्चित्त का अधिकारी बताया गया है इस प्रतिलेखना में समय लगना सहज है और उसके पश्चात् प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने का विधान है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि दिन का प्रतिक्रमण सूर्यास्त होते समय प्रारम्भ करना चाहिए 2. टीकाकारों ने भी सूर्य अस्त के साथ प्रतिक्रमण करने का उल्लेख किया है। 3. उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी अध्ययन में आगे की गाथाओं में प्रतिक्रमण की सामान्य विवेचना की गई है।

पच्चक्खाण के पश्चात् काल प्रतिलेखना करके स्वाध्याय करने का विधान किया गया, जिससे ध्वनित होता है कि सूर्य अस्त के पश्चात् लगभग 36 मिनट के अस्वाध्याय काल में प्रतिक्रमण के 6 आवश्यक समाप्त हो जाते हैं। 4. तत्पश्चात् रात्रि के चारों प्रहर की चर्या का वर्णन किया गया है और चौथे प्रहर के चौथे भाग में काल प्रतिलेखना के बाद प्रतिक्रमण करने का विधान है। सूर्योदय होने के पश्चात् भण्डोपकरण आदि की प्रतिलेखना कर लेने (12 मिनट) के बाद स्वाध्याय का प्रावधान है। अर्थात् रात्रि का प्रतिक्रमण रात्रि में ही सम्पन्न हो जाता है। प्रतिलेखना सूर्य की साक्षी से होती है, अस्तु उसके लिए दिन का प्रथम भाग नियत कर दिया और शेष अस्वाध्याय के समय अर्थात् रात्रि का प्रथम भाग और रात्रि के अन्तिम भाग में प्रतिक्रमण का समय नियत हो ही गया। 5. देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण सूँठ का गाँठिया लौटाना भूल गये- प्रतिक्रमण की वन्दना करते समय सूँठ का गाँठिया गिरने से, स्मृति दौर्बल्य और उस कारण शास्त्रों को लिपिबद्ध करने की बात इतिहास में मिलती है। स्पष्ट है कि प्रतिक्रमण की वन्दना के समय रात्रि हो चुकी थी। यदि सूर्यास्त से पूर्व प्रत्याख्यान हो जाते तो, प्रतिक्रमण की आज्ञा लेते समय तो 36 मिनट दिन शेष रहने से गाँठिया लौटाया जा सकता था। 6. छेदसूत्रों में रात्रि भोजन के अतिचारों का प्रायश्चित्त आदि के अधिकारों में सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी-पानी करने का उल्लेख उपलब्ध है अर्थात् कोई यह कहे कि सूर्यास्त के पूर्व प्रतिक्रमण का विधान है तो यदि ऐसा होता तो छेदसूत्रों में रात्रि के भोजन के अतिचारों के प्रायश्चित्त का विधान कैसे बताया जाता? अर्थात् दिन छिपने का पता न लगे और आहार करते हैं, ऐसे में यह स्पष्ट है कि सूर्यास्त के पूर्व तक गोचरी की जा सकती है। वर्तमान समय में भी प्रतिलेखन के समय का परिवर्तन देखने को मिल रहा है, परन्तु प्रतिक्रमण के समय का अतिक्रमण शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन माना जाता है और प्रायश्चित्त दिया-लिया जाता है 7. भावदेवसूरि कृत 'यति दिनचर्या' में भी 'जो पडिक्कमेइ सूरे अद्धनिवुड्ढे जहा भणइ सुत्तं' इस गाथा से सूर्य के अर्द्ध अस्त होते ही प्रतिक्रमण का प्रारम्भ बताया है। उपर्युक्त विवेचना से दिन और रात्रि के दोनों प्रतिक्रमण रात्रि में ही करना प्रमाणित हो जाता है।

प्रश्न 206. अन्य मतों में प्रचलित संध्या आदि में और जैनों के आवश्यक में क्या अंतर है?

उत्तर दूसरे मतों में प्रचलित संध्यादि में केवल ईश्वर-स्मरण और प्रार्थना आदि की मुख्यता रहती है, ज्ञानादि धर्मों की स्मृति तथा अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता नहीं रहती, पर जैनों के आवश्यक में ज्ञानादि धर्मों की स्मृति तथा अपने पापों के प्रतिक्रमण की मुख्यता है जो अंतरंग

दृष्टि से (उपादान दृष्टि से) अधिक आवश्यक है, इसलिए जैन धर्म में प्रतिपादित आवश्यक विशेष प्रयोजन को लिए हुए होने से और बढ़कर है।

प्रश्न 207. जब प्रतिदिन प्रातः सायं प्रतिक्रमण किया जाता है तब फिर पाक्षिक, चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है?

उत्तर जिस प्रकार प्रतिदिन मकान की सफाई की जाती है फिर भी पर्व दिनों में वह विशेष रूप से की जाती है। वैसे ही प्रतिदिन प्रतिक्रमण करने पर भी पर्व दिनों में विशेष जागरूकता से शेष रहे अतिचारों का निरीक्षण एवं परिमार्जन किया जाता है। जैसे कि प्रशासनिक क्षेत्र में भी विशेष अभियान चलाकर सरकारी कार्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति की ही जाती है, यद्यपि ये कार्य सरकारी कार्यालयों में प्रतिदिन किए जाते हैं।

प्रश्न 208. दिनभर पापकारी प्रवृत्तियाँ करते रहने पर भी सुबह-शाम प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ?

उत्तर जिस प्रकार कुएँ से डाली गई बाल्टी की रस्सी या आकाश में उड़ाई गई पतंग की डोरी अपने हाथ में हो तो बाल्टी एवं पतंग को हम प्रयास करके पुनः प्राप्त कर सकते हैं। रस्सी या डोरी को पूर्णतया हाथ से छोड़ने पर तो बाल्टी एवं पतंग को हम खो देंगे। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही नियम लागू होता है। प्रतिदिन किए गए अभ्यास से हमारे में संस्कार तो सृजित होते ही हैं, पापाचरण में लगी आत्मा को हम इन सृजित संस्कारों के माध्यम से कभी न कभी तो तप-संवर रूपी करणी से शुद्ध कर सकते हैं।

प्रश्न 209. सॉरी (Sorry)बोलना एवं प्रतिक्रमण करना इन दोनों में क्या सम्बन्ध है, जैन जगत् में सॉरी के अनुरूप कौनसा शब्द है?

उत्तर व्यवहार जगत् में कोई गलती हो जाने पर मोटे तौर पर हम सॉरी बोलकर उस गलती का निवारण करते हैं। उसी प्रकार प्रतिक्रमण द्वारा हम प्रभु के चरणों में अपने अपराध/दोष/अतिचार गलती को स्वीकार करते हैं और 'तस्स मिच्छा मि दुक्कड़ं' पद से उन गलतियों/भूलों को हृदय से स्वीकार करके क्षमा माँगते हैं। जैन जगत् में सॉरी के अनुरूप 'मिच्छा मि दुक्कडं' शब्द है।

प्रश्न 210. जैन दर्शन में शरीर विज्ञान के सिद्धांतों का समुचित पालन किया जाता है। प्रतिक्रमण के संदर्भ में स्पष्ट कीजिये।

उत्तर कायोत्सर्ग की साधना हेतु तस्सउत्तरी का पाठ बोलना आवश्यक है एवं इसमें शरीर पर से ममता का त्याग किया जाता है। तस्सउत्तरी के पाठ में यह ध्वनित होता है कि शरीर के प्राकृतिक कार्यों

को नहीं रोका जा सकता है तथा शरीर के बारह प्रकार के व्यापारों का आगार रखकर ही कायोत्सर्ग साधना की प्रतिज्ञा की जाती है जैसे–छींक आना या सूक्ष्म रूप से अंग का हिलना आदि।

प्रश्न 211. मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों के प्रतिक्रमण करने में क्या अंतर है?

उत्तर सम्यग्दृष्टि यदि प्रतिक्रमण करेगा तो उसकी क्रियाओं से पापों का क्षय अर्थात् कर्मों की निर्जरा तथा पुण्य का बन्ध होगा, जबकि मिथ्यादृष्टि प्रतिक्रमण करेगा तो पुण्य का बंध तो होगा, पर कर्मों की निर्जरा नहीं होगी।

प्रश्न 212. अव्रती को प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिये?

उत्तर नन्दीसूत्र में मिथ्याश्रुत के प्रसंग में–"....**जम्हा ते मिच्छादिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ चयंति।**...." कई मिथ्यादृष्टि इन ग्रन्थों से (मिथ्याश्रुत से) प्रेरित होकर अपने मिथ्यात्व को त्याग देते हैं।

यह बड़े महत्त्व का उल्लेख है और इससे समझ में आता है कि गुरुदेव (आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म.सा.) प्रत्येक मत के अनुयायियों को स्वाध्याय की प्रेरणा क्यों करते थे। कतिपय लोग समझते 'गीता' पढ़ने आदि–मिथ्याश्रुत की प्रेरणा क्यों कर रहे हैं? आदि–आदि

उत्तराध्ययन के 28वें अध्याय में सम्यक्त्व के प्रसंग में क्रियारुचि का भी उल्लेख हुआ है; और जब सुदर्शन श्रमणोपासक के पूर्वभव में जंघाचरण संत के मुख से उच्चरित 'नमो अरिहंताणं' से पशु चराने वाले के जीवन के उत्कर्ष का वर्णन पढ़ते हैं– तब इस प्रश्न का उत्तर अपने आप प्राप्त हो जाता है।

मिथ्याश्रुत का स्वाध्याय मिथ्यात्व से छुटकारा दिला सकता है–तब प्रतिक्रमण (आवश्यक) तो सम्यक् श्रुत है–मिथ्यात्व–अव्रत आदि सभी आस्रवों का त्याग क्यों नहीं करा सकता? एक–एक पाठ को सुनने, सीखने से कितनों के भीतर व्रत ग्रहण की प्रेरणा जगती है। व्रत का स्वरूप ध्यान में आता है, फिर स्वीकृत व्रत को अच्छी तरह पाला जा सकता है। कदाचित् व्रत नहीं भी ले पाया–तब भी स्वाध्याय का लाभ तो मिल ही जाता है–परमेष्ठी विनय–भक्ति के साथ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती भी कुछ निर्जरा का लाभ प्राप्त कर ही लेता है।

भूल से विस्मृत होने पर भी नवकार का श्रद्धापूर्वक स्मरण 'सेठ वचन परमाणं' वाक्य के जाप से चोर को सद्गति में ले जा सकता है तो प्रतिक्रमण प्रत्येक व्यक्ति को संसार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला होने से जीव को मंजिल तक पहुँचाने वाला बन जाता है।

भात-पानी का विच्छेद किया हो, चोर की चुराई वस्तु ली हो, भण्ड कुचेष्टा की हो आदि कतिपय आचार अव्रती के जीवन को नैतिक बनने में सहकारी बनते हैं, जीवन में अच्छे संस्कारों का बीजारोपण करते हैं।

आगम तो 9 वर्ष वाले को व्रत का अधिकार देता है, किन्तु 4 साल 5 साल आदि के बच्चे को सामायिक व्रत पच्चक्खाते हैं-उपवास भी कराते हैं, प्रतिक्रमण भी सिखाते हैं, उसके पीछे हेतु? उसके संस्कार पवित्र होते हैं। भगवती सूत्र शतक 7 उद्देशक 2 से ध्वनित होता है कि 5 अणुव्रत लिये बिना भी अणुव्रत और 4 शिक्षाव्रत की आराधना हो सकती है। भगवती सूत्र शतक 17 उद्देशक 2 में एक भी प्राणी के दण्ड को छोड़ने वाला एकान्त बाल नहीं कहा- अर्थात् श्रद्धा-विवेक सहित सामायिक पच्चक्ख कर प्रतिक्रमण करने वाला एकान्त अव्रती नहीं। सभी देव व नारक अव्रती हैं-तिर्यंच में भी व्रत बिना प्रतिक्रमण का प्रसंग नहीं। बिना अन्य व्रत लिये प्रतिक्रमण के समय सही समझपूर्वक श्रद्धा से सामायिक करने वाला अव्रती नहीं, व्रताव्रती है तथा उसका प्रतिक्रमण स्वाध्याय सहित ज्ञान-दर्शन-चारित्राचारित्र व तप के अतिचारों की विशुद्धि कराने वाला है। अतः अव्रती अथवा अव्रतीप्रायः एक व्रतधारी को भी प्रतिक्रमण करना उपयोगी ही प्रतीत होता है।

प्रश्न 213. प्रतिक्रमण के पाठ बोले बिना कोई अपनी भूल को स्वीकार कर उसमें सुधार का संकल्प ले तो क्या वह भी प्रतिक्रमण की श्रेणि में आता है?

उत्तर भगवतीसूत्र शतक 25, उद्देशक 7, औपपातिक सूत्र, स्थानांग सूत्र 10वाँ स्थान आदि में प्रायश्चित्त के 10 भेद कहे गये हैं। जीतकल्प आदि व्याख्या-साहित्य में विशद विवेचन में उपलब्ध होता है कि किस-किस के प्रायश्चित्त में क्या-क्या आता है? आलोचना के पश्चात् दूसरा प्रायश्चित्त प्रतिक्रमण बताया गया। **'जं संभरामि जं च न संभरामि'** से साधक स्मृत-विस्मृत भूल की निन्दा-गर्हा कर शुद्धि करता है। ज्ञाताधर्मकथा के प्रथम अध्ययन में मेघकुमार जी द्वारा भगवद्चरणों में नई दीक्षा, मृगावती जी द्वारा चन्दनबालाजी के उपालम्भ पर आत्मालोचन अथवा प्रसन्नचन्द्र राजर्षि द्वारा भीतरी युद्ध-औदयिक भाव से क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव में लौटना भाव प्रतिक्रमण के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। अतः भूल स्वीकार कर, सुधार का संकल्प कर लेना आत्महितकारी है, भाव प्रतिक्रमण है और भूल ध्यान में आते ही साधक त्वरित शोधन कर लेता है। मध्यवर्ती 22 तीर्थङ्कर और महाविदेह क्षेत्र के 'ऋजु प्राज्ञ' साधकों के लिये भाव प्रतिक्रमण की सजगता के कारण उभयकालीन भाव सहित पाठोच्चारण रूप प्रतिक्रमण अनिवार्य

नहीं माना गया- पक्खी, चौमासी या संवत्सरी को भी नहीं माना गया । ज्ञातासूत्र के पंचम अध्याय में शैलक जी की प्रमत्तता के निराकरण हेतु पंथक जी का चौमासी प्रतिक्रमण हेतु पुनः आज्ञा लेना, दोष निराकरण में समर्थ अस्थित कल्प वालों के प्रतिक्रमण का उदाहरण है। प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासन में जड़ता, वक्रता आदि से उभयकाल प्रतिक्रमण भी आवश्यक है। केवल पाठोच्चारण को अनुयोगद्वार सूत्र द्रव्य प्रतिक्रमण बता रहा है-भूल सुधार की भावना सहित 'तच्चित्ते तम्मणे' आदि में ही भाव प्रतिक्रमण बता रहा है। प्रतिक्रमण का हार्द उपलब्ध हो जाता है-**'पडिक्कमणेणं वयछिद्दाणि पिहेइ'**-

भूल-व्रत के छेद

सुधार-छिद्र आवरित करना, ढकना।

समस्त संवर, सामायिक, व्रत ग्रहण (पाप त्याग वाले व्रत) में **'तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि'** अवश्यमेव ही आता है अर्थात् भूल एवं दोषयुक्त प्रवृत्ति को तिलांजलि देने पर ही व्रत प्रारम्भ हो सकता है और यह प्रतिक्रमण अनेक अवसर पर करता हुआ साधक आत्मोत्थान करता ही है- इसी का नाम भूल सुधार का संकल्प है और यह किसी अपेक्षा से प्रतिक्रमण है, हितकारी है।

पर इसकी ओट में अर्थात् इसे प्रतिक्रमण की श्रेणि में रखकर उभयकाल प्रतिक्रमण नहीं करना किंचित् मात्र भी अनुमत नहीं। भूल ध्यान में आते ही सुधार का संकल्प ले यथासमय प्रतिक्रमण में पुनः उस भूल का मिच्छामि दुक्कडं देकर किये हुए संकल्प को परिपुष्ट करना, सुदृढ़ करना सर्वोत्तम मार्ग है।

प्रश्न 214. जलचर जीव पानी में रहकर सामायिक-प्रतिक्रमण किस प्रकार कर सकते हैं?

उत्तर अपने मन में सामायिक आदि पालने का निश्चय कर ये जलचर जीव जब तक सामायिकादि व्रत का काल पूर्ण न हो जावे तब तक हलन-चलन नहीं करते, निश्चल रहते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा यह व्रत पाला जाता है।

प्रश्न 215. आवश्यक सूत्र से तप के 12 भेदों में से किन-किन का आराधन होता है और कैसे?

उत्तर आवश्यक सूत्र से तप के 12 भेदों में से निम्नलिखित तपों के प्रत्यक्ष आराधन होने की संभावना है-1. कायक्लेश 2. प्रतिसंलीनता 3. प्रायश्चित्त 4. विनय 5. स्वाध्याय 6. ध्यान 7. कायोत्सर्ग।

1. **कायक्लेश**-आवश्यक सूत्र करते हुए कायोत्सर्ग मुद्रा, उकडू आदि आसन हो जाते हैं, जो कि कायक्लेश तप के प्रकार हैं।

2. **प्रतिसंलीनता**–विविक्त शयनासन का सेवन करना तथा अपनी इन्द्रियों का संगोपन करना प्रतिसंलीनता तप है। आवश्यक के आराधक मुनि के विविक्तशयनासन होता ही है तथा इन्द्रियों और मन का संगोपन होने पर भाव आवश्यक संभव है, जिससे प्रतिसंलीनता तप हो जाता है।
3. **प्रायश्चित्त**–आवश्यक सूत्र करने वाला साधक अपने द्वारा हुई भूलों का प्रायश्चित्त स्वीकार करके आत्मशुद्धि करता है, आराधक होता है। पाँचवें आवश्यक में साधक प्रायश्चित्त अंगीकार करता है, जिससे प्रायश्चित्त तप हो जाता है।
4. **विनय**–तीसरा वंदन आवश्यक है, जिसमें शिष्य गुरुदेव को खमासमणो के पाठ से उत्कृष्ट वन्दन करता है। गुरुदेव का विनय करता है। वैसे प्रत्येक आवश्यक के पहले भी विनय रूप वंदन का प्रावधान है।
5. **स्वाध्याय**–आवश्यकसूत्र 32 आगमों में से एक आगम है। प्रतिक्रमण करते समय प्रतिक्रमणकर्त्ता का स्वाध्याय तो सहज हो ही जाता है।
6. **ध्यान**–पहले सामायिक आवश्यक में (कायोत्सर्ग करते हुए भी) मुनिराज 125 अतिचारों का चिन्तन रूप ध्यान करते हैं और एकाग्र चिन्तन को ही ध्यान कहा है। किसी एक विषय में चित्त की स्थिरता ही ध्यान है। वैसे मुनि प्रतिक्रमण करते समय आर्त्त–रौद्र से बचकर धर्मध्यान में निमग्न होते हुए प्रतिक्रमण की पाटियों में चित्त को स्थिर करते हैं।
7. **कायोत्सर्ग**–पाँचवाँ आवश्यक ही कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग अर्थात् देह की चंचलता और ममता का त्याग। पाँचवें आवश्यक में साधक कायोत्सर्ग अंगीकार करता है, जिससे कायोत्सर्ग तप का भी आराधन हो जाता है। परोक्ष रूप से प्रत्याख्यान द्वारा अन्य तप भी संभावित हैं।

प्रश्न 216. पाप, अतिचार दोष सबके भिन्न होते हैं। अतः सामूहिक प्रतिक्रमण में उनकी आलोचना व्यक्तिगत रूप से संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या सबको प्रतिक्रमण एकान्त में करना चाहिए?

उत्तर सर्वश्रेष्ठ तो यही है, इसीलिए महाव्रतधारी अपना–अपना प्रतिक्रमण अलग–अलग करते हैं। जिन श्रावकों को प्रतिक्रमण आता है उन्हें भी प्रायः यही प्रेरणा की जाती है। पूर्ण प्रतिक्रमण नहीं जानने वाले व केवल स्वाध्याय के लिए पर्युषण में आने वाले नवीन बंधुओं में धर्मरुचि जागृत करने, व्रत–ग्रहण की भावना बढ़ाने के लिए जानकार भाई सामूहिक करा दें, विशेष जानकार अपना अलग प्रतिक्रमण करें, यह उचित है।

स्थान की समस्या होने पर सामूहिक करते हुए भी अपने-अपने अतिचारों के चिन्तन रूप प्रथम आवश्यक में मौन-ध्यान के साथ एकान्त हो ही जाता है। प्रथम आवश्यक में अपने-अपने ध्यान लिये हुए दोषों को चतुर्थ आवश्यक में सामूहिक उच्चारण में साधक अपनी जागृति के साथ तद्-तद् अतिचारों का अन्तर से मिथ्या दुष्कृत करता है और विस्मृत हो जाने से ध्यान नहीं रहे हुए शेष अतिचारों का भी मिच्छामि दुक्कडं करते हुए शुद्धि करता है। स्तुति-वंदना आदि में सामूहिक उच्चारण से वातावरण की पवित्रता के साथ भावों में भी उत्कृष्टता आती है, प्रेरणा भी जगती है अतः आत्म-साधना की इस प्रणाली को भी अनुपादेय कहना उचित नहीं। हाँ, पर सामूहिक पर ही एकान्त जोर दे, वैयक्तिक करने से रोकना युक्तिसंगत नहीं। संघ की शोभा-गौरव के लिए एक सामूहिक प्रतिक्रमण हो व वैयक्तिक करने वालों को अपनी साधना करने की स्वतंत्रता हो। अलग-अलग समूह में सामूहिक अधिक होने पर विडम्बना खड़ी हो सकती है।

प्रश्न 217. निम्न साधनापरक वाक्यों की आवश्यक सूत्र के संदर्भ में व्याख्या कीजिए -

1. की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।
2. निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।
3. जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।
4. आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।
5. अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।
6. प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।
7. खामेमि सव्वे जीवा-क्रोध विजय, सव्वे जीवा खमंतु मे-मान विजय, मित्ती मे सव्वभूएसु-माया विजय, वेरं मज्झं न केणइ- लोभ विजय का उपाय है।
8. रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।
9. किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए उस गलती को भूल जाना वास्तविक क्षमा है।

उत्तर **(1) की हुई भूल को नहीं दोहराने से बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं।**

व्याख्या- 'तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।' साधक के जीवन में कभी-कभी तीन निर्बलताएँ घर कर जाती हैं-1. मृत्यु का भय 2. लक्ष्य-प्राप्ति में

स्वयं को असमर्थ जानना। 3. की हुई भूल से रहित होने में संदेह। साधक वर्ग से भी भूल होना सहज है, पर भूल को भूल मानना प्रथम साधकता है और प्रायश्चित्त द्वारा शुद्धीकरण कर उस भूल को न दोहराना श्रेष्ठ साधकता है। कोई भी भूल होने पर साधक को प्रथम तो मन में ग्लानि के भाव उत्पन्न होते हैं, यह पश्चात्ताप रूपी प्रतिक्रमण है। पश्चात्ताप का दिव्य निर्झर आत्मा पर लगे पापमल को बहाकर साफ कर देता है। तत्पश्चात् साधक उस भूल की आत्मसाक्षी से निंदा करता है, गुरुसाक्षी से गर्हा करता है और उस दूषित आत्मा का सदा-सदा के लिए त्याग करता है अर्थात् कभी न दोहराने की प्रतिज्ञा से कटिबद्ध होता है, यही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। 'मिच्छामि दुक्कडं' भी जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण शब्द है। यह एक शब्द सभी पापों को धोने की क्षमता रखता है, पर उसके लिए महत्त्वपूर्ण है जो भविष्य में उस पाप को नहीं करता है। **'तस्स खलु दुक्कडं मिच्छा'** वस्तुतः उसी साधक का दुष्कृत निष्फल होता है। कारण कि आलोचना के पीछे पश्चात्ताप के भाव अति आवश्यक हैं और अन्तःकरण से पश्चात्ताप हो जाये तो वह भूल कभी दुबारा हो ही नहीं सकती। (उदाहरण-मृगावती)

'से य परितप्पेज्जा' व्यवहार अध्ययन 7-179-180 अर्थात् परिताप करने वाले को, गण से पृथक् करना (4था, 5वाँ) नहीं कल्पता-कथन भी यही सूचित करता है कि अन्तःकरण से पश्चात्ताप सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।

(2) निर्दोषता(संबंधित दोष की अपेक्षा) के क्षण में ही दोष ध्यान में आता है।

व्याख्या-आवश्यक सूत्र का प्रथम सामायिक आवश्यक-आलोउं····तस्स उत्तरी करणेणं, पायच्छित्त करणेणं····आत्मा को मन-वचन-काया की पाप-प्रवृत्तियों से रोककर आत्मकल्याण के एक निश्चित ध्येय की ओर लगा देने का नाम सामायिक है। इस साधना को साधने वाला साधक स्वयं को बाह्य सांसारिक दुष्प्रवृत्तियों से हटाकर आध्यात्मिक केन्द्र की ओर केन्द्रित कर लेता है और यह क्षण निर्दोषता का होता है। वर्तमान में निर्दोषता नहीं होगी तब तक दोष नजर नहीं आयेंगे। क्रोध करते समय क्रोध कभी बुरा नहीं लगता। समता के क्षण में ही ममता की भयंकरता प्रतीत होती है। भूतकाल की भूल को न दोहराने का व्रत लेने से ही वर्तमान की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है। शराब के नशे में धुत व्यक्ति को शराब बुरी नहीं लगती है, जब वह नशा उतर जाता है तब ही उस पदार्थ की हानि पर अपना ध्यान लगा पाता है। ठीक उसी प्रकार निर्दोषता के क्षण में ही दोष ध्यान में आते हैं। अतः जिस क्षण स्व के दोषों की खोज की जाती है, वह क्षण निर्दोषता का होता है। जीव जाने हुए दोषों का दृढ़तापूर्वक सदा के लिए त्याग

कर दे तो वह सदा के लिए निर्दोष बन जाता है। जानते हुए अपनी निर्दोषता को सुरक्षित रखना ही सही पुरुषार्थ है।

(3) जो इन्द्रिय और मन के वश में नहीं होता है उसके ही भाव आवश्यक होता है।

व्याख्या– 'ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।' जैन दर्शन में प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव के भेद से देखा जाता है। भावहीन साधना अन्तर्जीवन में प्रकाश नहीं डाल सकती। अनुयोगद्वार सूत्र में भी द्रव्य व भाव का वर्णन किया गया है। भावशून्य आवश्यक करने वालों के लिए 'जस्स' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस किसी का। श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी के तो अनुयोगद्वार सूत्र में भावावश्यक ही स्वीकार किया गया है। भावावश्यक का विश्लेषण करते हुए फरमाया है कि–**''जं णं इमे समणो वा, समणी वा, सावओ वा, साविया वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे तब्भावणाभाविए अन्नत्थ कत्थइ मणं अकरमाणे उभओ कालं आवस्सयं करेंति।''** जो ये शांत स्वभाव रखने वाले साधु-साध्वी, साधु के समीप जिनप्रणीत समाचारी को सुनने वाले श्रावक-श्राविका उसी आवश्यक में सामान्य प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में विशेष प्रकार से उपयोग सहित मन को रखने वाले, उसी आवश्यक में शुभ परिणाम रूप लेश्या वाले, भावयुक्त उसी आवश्यक में विधिपूर्वक क्रिया करने के अध्यवसाय वाले, चढ़ते परिणाम वाले, उसी आवश्यक में सब इन्द्रियों को लगाने वाले, उसी आवश्यक में मन, वचन एवं काया को अर्पित करने वाले, उसी आवश्यक में भावना से भावित होने वाले, उसी आवश्यक के सिवाय अन्यत्र किसी स्थान पर मन न लगाते हुए चित्त की एकाग्रता रखने वाले दोनों समय उपयोग सहित आवश्यक करें। इन भावों के अभाव से किया गया आवश्यक साधना क्षेत्र में उपयोगी नहीं होता है।

इन्द्रिय और मन आत्मा को बाहर की ओर ले जाते हैं और भीतर में जाने पर ही भाव आवश्यक होता है। जो साधक इन्द्रिय एवं मन के वश में नहीं, वह है अवशी और अवशी के द्वारा होने वाला आवश्यक भाव-आवश्यक है।

(4) आत्मसाक्षी से धर्म होता है। आंतरिक इच्छा से वन्दना, प्रतिक्रमण आदि होते हैं।

व्याख्या–जैन धर्म स्वतंत्रता या इच्छा प्रधान धर्म है। यहाँ किसी आतंक या दबाव से कोई काम करना और मन में स्वयं किसी प्रकार का उल्लास न रखना अभिमत अथवा अभिहित नहीं है।

बिना प्रसन्न मनोभावना के की जाने वाली धर्मक्रिया, कितनी भी क्यों न महनीय हो, अन्ततः वह मृत है, निष्प्राण है। इस प्रकार भय के भार से लदी हुई मृत धर्मक्रियाएँ तो साधक के जीवन को कुचल देती हैं। विकासोन्मुख धर्म-साधना स्वतंत्र इच्छा चाहती है। मन की स्वयं कार्य के प्रति होने वाली अभिरुचि चाहती है। यही कारण है कि जैन धर्म की साधना में सर्वत्र (इच्छामि, पडिक्कमामि, इच्छामि खमासमणो' आदि के रूप में सर्वप्रथम 'इच्छामि' का प्रयोग होता है। 'इच्छामि' का अर्थ है- 'मैं स्वयं चाहता हूँ' अर्थात् यह मेरी स्वयं अपने हृदय की स्वतंत्र भावना है। 'इच्छामि का एक और भी अभिप्राय है- शिष्य गुरुदेव के चरणों में विनम्र भाव से प्रार्थना करता है कि- ''भगवन्! मैं आपको वंदन करने की इच्छा रखता हूँ। अतः उचित समझें तो आज्ञा दीजिए। आपकी आज्ञा का आशीर्वाद पाकर मैं धन्य-धन्य हो जाऊँगा।''

ऊपर की वाक्यावली में शिष्य वन्दन करने के लिए केवल अपनी ओर से इच्छा निवेदन करता है, सदाग्रह करता है, दुराग्रह नहीं। नमस्कार भी नमस्करणीय की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। यह है जैन संस्कृति के शिष्टाचार का अन्तर्हृदय। यहाँ नमस्कार में भी इच्छा मुख्य है, उद्दण्डता पूर्ण बलाभियोग एवं दुराग्रह नहीं। आचार्य जिनदास कहते हैं-''**एत्थ वंदितुमित्यावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता।**''

'इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विराहणाए'' यह प्रारम्भ का सूत्र आज्ञा सूत्र है। इसमें गुरुदेव से ईर्यापथिक प्रतिक्रमण की आज्ञा ली जाती है। 'इच्छामि' शब्द से ध्वनित होता है कि साधक पर बाहर का कोई दबाव नहीं है, वह अपने आप ही आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता है और इसके लिए गुरुदेव से आज्ञा माँग रहा है। प्रायश्चित्त और दण्ड में यही तो भेद है। प्रायश्चित्त में अपराधी की इच्छा स्वयं ही अपराध को स्वीकार करने और उसकी शुद्धि के लिए उचित प्रायश्चित्त लेने की होती है। दण्ड में इच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह बलात् ही लेना होगा। दण्ड में दबाव मुख्य है। अतः प्रायश्चित्त जहाँ अपराधी की आत्मा को ऊँचा उठाता है, वहाँ दण्ड उसे नीचे गिराता है। सामाजिक व्यवस्था में दण्ड से भले ही कुछ लाभ हो, परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। यहाँ तो इच्छापूर्वक प्रसन्नता के साथ गुरुदेव के समक्ष पहले पापों की आलोचना करना और फिर उसका प्रतिक्रमण करना, जीवन की पवित्रता का मार्ग है।

(5) अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण, गम्भीर वाणी से साधकभाव की जागृति होती है।

व्याख्या–समणोऽहं संजय-विरय·····मायामोसविवज्जिओ। यह सूत्र आत्मसमुत्कीर्तनपरक सूत्र है। ''मैं श्रमण हूँ, संयत-विरत हूँ, पापकर्म का प्रत्याख्याता हूँ, अनिदान हूँ, दृष्टिसम्पन्न हूँ, मायामृषा विवर्जित हूँ- यह बहुत उदात्त, ओजस्वी भावों से भरा हुआ अन्तर्नाद है। यह अपने सदाचार के प्रति स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी है। संभव है स्वाभिमान पूरित शब्द सुनने में किसी को अहंकार पूरित भी लगे। आत्मिक दुर्बलता का निराकरण करने के लिए साधक को ऐसा स्वाभिमान सदा सर्वत्र ग्राह्य है, आदरणीय है। उच्च संकल्प भूमि पर पहुँचा हुआ साधक ही यह विचार कर सकता है कि मैं इतना ऊँचा एक महान् साधक हूँ, फिर भला अकुशल पापकर्म का आचरण कैसे कर सकता हूँ।

सती राजीमती ने भी ऐसे ही स्वाभिमान पूरित शब्दों से रथनेमि को चेताया था ''अहं च भोगरायस्स... संजमं निहुओ चर।।'' (दशवैकालिक 2/8) जबकि साधक को संयमोपरान्त अपने कुल-परिवार को याद नहीं करना चाहिए। यह 'आउरस्सरणाणि' अनाचीर्ण है, फिर भी राजीमती की इस स्वाभिमान पूर्ण गंभीर वाणी को आगमकारों ने सुभाषित जाना और रथनेमि के साधक भाव जागृत हुए। यह तो वह आत्माभिमान है जो साधक को पापाचरण से बचाता है, यह तो वह आत्मसमुत्कीर्तन है जो साधक को धर्माचरण के लिए प्रखर स्फूर्ति, अचंचल ज्ञान-चेतना देता है तथा अन्तर्हृदय को वीररस से आप्लावित कर देता है। कीचड़ में फँसा हाथी कई रस्सियों से भी बाहर नहीं निकल पाता, पर युद्ध की भेरी, वीररस से परिपूर्ण स्वरों को सुन ऐसा आत्मसामर्थ्य जगाता है कि क्षण भर में दल-दल से बाहर निकल आता है।

(6) प्रभो! मैं तुम्हारा अतीतकाल हूँ, तुम मेरे भविष्यकाल हो, वर्तमान में मैं तुम्हारा अनुभव करूँ, यही भक्ति है।

व्याख्या–लोगस्स, उत्कीर्तन सूत्र-जैन दर्शन की यह विशेषता है कि इसमें भक्त और भगवान् का वर्ग अलग-अलग नहीं माना है। यहाँ तो फरमाया है कि हर साधक दोषों को देख उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ करे तो सिद्ध हो सकता है। आत्मा, परमात्मा पद पा सकती है, दोषी, निर्दोष बन सकता है, इंसान ही ईश्वर बन सकता है। प्रथम आवश्यक में साधक निज दोषों को देखता है। कोई-कोई साधक अपने प्रति घृणा, हीनता की भावना से ग्रस्त हो जाते हैं। उस हीनता की ग्रंथि का नाश हो, इसलिए उत्कीर्तन करते हैं। उन महापुरुषों की स्तुति जो हम जैसे जीवन से ऊपर उठे, पूर्णता में पूर्ण लीन हो गये।

आत्मविश्वास को जगा, लक्ष्य की सही पहचान करने के लिए, लक्ष्य को प्राप्त करने वाले साध्य

को प्राप्त अरिहंतों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया जाता है। विहूयरयमला- मेरे समान ही कर्मरज से आप्लावित जीव भी पुरुषार्थ कर कर्म-रज से दूर हो गये। जन्म-जरा-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो गये।

अतः यह देख आत्मविश्वास जगता है, व्याकुलता बढ़ती है और भावना जगती है- सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। अर्थात् मैं भी अव्याबाध सुख, अनन्त ज्ञान-दर्शन से युक्त मोक्ष को प्राप्त करूँ। साधक तो जानता है कि सिद्धि स्वयं के पुरुषार्थ से मिलती है। परन्तु वह निज दोष अवलोकन कर निर्दोष बनना चाहता है। उस बीच किंचित् भी अहंकार न आ जाये, इसलिए दायक भाव उपचारित कर 'दिंतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

साधक को अपने दोषों से व्याकुलता बढ़ती है, तब वह अदृश्य द्रष्टा का आभास पा, उपलब्ध आत्म-आनन्द की अनुभूति से विभोर हो उठता है-कित्तिय वंदिय महिया....। "हे प्रभो! मम विभो! आप भी मेरे समान सांसारिक बंधनों से आबद्ध थे, अब विमुक्त बन गये, मैं भी शीघ्रातिशीघ्र आपके समान विमुक्त बनूँ।

(7) खामेमि सव्वे जीवा-क्रोध विजय, सव्वे जीवा खमंतु मे-मान विजय, मित्ती मे सव्वभूएसु-माया विजय, वेरं मज्झं न केणइ-लोभ विजय का उपाय है।

व्याख्या-दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि 'कोहो पीइं पणासेइ' क्रोध से प्रीति का नाश होता है। **'खामेमि सव्वे जीवा'** में जीवमात्र पर प्रेम-प्रीति का महान् आदर्श हमारे सामने उपस्थित होता है। भीतर रहे हुए क्रोध का शमनकर मैं जीवमात्र को खमाता हूँ। क्रोध उपशान्त हुए बिना, क्षमा का भाव आ ही नहीं सकता। आत्मीयता के धरातल पर ही साधक का जीवन पल्लवित एवं पुष्पित होता है। उत्तराध्ययन के 29वें अध्ययन में बताया- 'कोहविजएण खंतिं जणयइ' क्रोध को जीतने से क्षमा गुण की प्राप्ति होती है। जब तक छद्मस्थ अवस्था है, तब तक सर्वगुण सम्पन्न कोई नहीं। सभी में दोष विद्यमान हैं तो सभी में गुण विद्यमान हैं। कम-ज्यादा प्रमाण हो सकता है। किन्तु दोषी के प्रति द्वेष करना भी तो नये दोष को जन्म देता है। अतः तत्क्षण दोषी पर द्वेष न करते हुए, उस पर माध्यस्थ भाव रखकर सम्यक् चिन्तन द्वारा मन को मोड़ना और सामने वाला कुछ कहे उसके पहले स्वयं आगे होकर सदा के लिये उसे क्षमा कर देना। यही तो क्रोध विजय है, जो 'खामेमि सव्वे जीवा' द्वारा घटित होता है।

'सव्वे जीवा खमंतु मे' अर्थात् सभी जीव मुझे क्षमा करें। इस पद में लघुता का भाव दिखाई देता है। किसी कवि ने कहा है-'झुकता वही है जिसमें जान है और अकड़ ही तो मुर्दे की खास

पहचान है।' ''अहंकारी दुःखी थवा तैयार छे, पण झुकी जवा तैयार नथी।'' अहंकारी व्यक्ति कभी नमना, झुकना पसंद नहीं करता, क्योंकि उसकी मान्यता है-'I am Something' जब तक जीवन में लघुता नहीं आती, तब तक झुकना संभव नहीं है। 'सव्वे जीवा खमंतु मे' द्वारा साधक मृदुता से परिपूर्ण होकर कहता है- मैंने किसी का अपराध किया हो तो मैं क्षमायाचना करता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। उत्तराध्ययन में बताया 'माणविजएण मद्दवं जणयइ।' मृदुता के साथ क्षमा माँगता है, अतः मान विजय भी उक्त पद द्वारा घटित होता है।

मित्ती मे सव्वभूएसु-दशवैकालिक सूत्र अध्ययन 8 में बताया है-'माया मित्ताणि नासेइ' माया मित्रता का नाश करने वाली है। जहाँ कपट है, दंभ है, वहाँ मैत्री कैसी? और जहाँ मैत्री है वहाँ कपट कैसा? वहाँ तो सरलता है, स्वच्छता है, सहृदयता है, निष्कपटता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना है। कोई लुकाव-छिपाव नहीं है। केवल आत्मिक आत्मीयता है। अपनत्व की अनन्य अनुभूति है। जहाँ अपनत्व है, वहाँ कपट नहीं। मित्रता के लिए सरलता होनी जरूरी है-'मित्ती मे सव्व भूएसु' पद में सरलता झलकती है, जो माया विजय से ही प्राप्त होती है।

वेरं मज्झं न केणइ-लोभ विजय का सूचक है। लोभ को पाप का बाप बताया है। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि स्वार्थपूर्ति, उदरपूर्ति से युक्त दृष्टिगोचर होती है और उस स्वार्थपूर्ति में जो वस्तु/व्यक्ति बाधक बनता है, साधक उसके साथ वैर (द्वेष) कर लेता है। इच्छापूर्ति के लिए वह क्या नहीं करता? रथमूसल संग्राम इस बात का साक्षी है। पद्मावती की इच्छापूर्ति के लिए (केवल एक हार-हाथी के लिए) कितना घोर घमासान? उत्तराध्ययन सूत्र में बताया- 'लोभनिवृत्ति से ही संतोष की प्राप्ति होती है। यदि व्यक्ति संतोषी होगा तो न स्वार्थपूर्ति के लिए उसे इतना भटकना पड़ेगा और न ही इतना किसी से वैर होगा? क्योंकि वैर तो स्वार्थपूर्ति में बाधक बनने वाले से होता है। 'वेरं मज्झं न केणइ' द्वारा साधक कहता है- मेरा किसी से कोई वैर नहीं है। मैंने संतोष को अपना लिया है, अब मेरे द्वारा दूसरों को पीड़ा हो, ऐसा कार्य कदापि नहीं होगा। 'संसार के संसरण को समाप्त करने का अभिलाषी सांसारिक विडम्बनाओं से ऊपर उठ आत्मभाव के धरातल पर प्रत्येक जीव में अपनत्व की अनादि से अननुभूत अनुभूति को कर, आत्मविभोर हो-'वेरं मज्झं न केणइ' के उद्घोष को गुंजित करके ही साधना का प्रारम्भ करता है। जैसे मुझे अपने सुख में बाधा मंजूर नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को भी दु:ख पसंद नहीं है। अतः वैर को जन्म देने वाले लोभ, लालसा, तृष्णा का त्यागकर मैं संतोष धारण करता हूँ और

परिग्रह परिमाण (श्रावक के लिए), अपरिग्रह महाव्रत (साधु के लिए) को भी सार्थक करता हूँ। मेरे भीतर में वैर नहीं अर्थात् किसी के प्रति दुर्भाव का संग्रह-परिग्रह नहीं-लोभ-लालसा नहीं।

(8) रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को, रसोइये से भोजन नहीं बनवाना चाहिए। लालसा भरी दृष्टि के कारण, उनका भोजन दूषित हो जाता है।

व्याख्या-एकासन के प्रत्याख्यान में सागारियागारेणं भी एक आगार बताया। सागारिकागार का अर्थ है-(1) साधु के लिए यदि गृहस्थ भोजन के स्थान पर स्थित हो तो रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार और (2) गृहस्थ के लिए जिसके सामने भोजन करना अनुचित हो, ऐसे व्यक्ति के भोजन स्थल पर आकर स्थित रहने पर अन्यत्र जाकर आहार करने का आगार। एकासन में भी यह आगार है, छूट है। यदि हम रसोइये को अपने समान भोजन नहीं करा सकते तो उससे आहार भी नहीं बनवाना चाहिए। क्योंकि उसकी दृष्टि लालसायुक्त होती है। वह सोचता है कि मालिक स्वयं तो सरस, गरिष्ठ, स्वादयुक्त आहार करता है और मुझे लूखा-सूखा आहार देता है। आहार बनाते समय उसकी मानसिकता द्वेषयुक्त होती है। लालसा-तृष्णा तथा लोभयुक्त होती है। उसकी दृष्टि में एक प्रकार की हाय होती है और कभी-कभी तो वह दुराशीष भी दे बैठता है। वृद्ध अनुभवियों का भी कहना है कि 'जैसो खावे अन्न, वैसो होवे मन' उस दूषित आहार को ग्रहण करने से हमारी मानसिकता भी दूषित हो जाती है। एकासन में भी ऐसे व्यक्ति के सामने रहने पर स्थान परिवर्तन का आगार है। तो सामान्य स्थितियों में तो अपने समान भोजन नहीं करा सकने वालों को तो रसोइये से आहार बनवाना ही नहीं चाहिए, ऐसा आशय 'सागारियागारेणं' से स्पष्ट होता है।

(9) किसी की गलती प्रतीत होने पर उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए उस गलती को भूल जाना वास्तविक क्षमा है।

व्याख्या-क्षमापना सूत्र-'खामेमि सव्वे जीवा'-मैं सबको क्षमा प्रदान करता हूँ। क्षमा का अर्थ है-सहनशीलता रखना। किसी के किये अपराध को अन्तर्हृदय से भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना, प्रत्युत अपराधी पर अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना क्षमाधर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। वृहत्कल्प सूत्र के प्रथम उद्देशक के 35वें सूत्र में कहा है कि-कभी कोई भिक्षु तीव्र कषायोदय में आकर स्वेच्छावश उपशांत न होना चाहे, तब दूसरे उपशांत भिक्षु स्वयं आगे होकर उसे क्षमा प्रदान करें। इससे भी वह उपशान्त न हो और व्यवहार में शांति भी न लावे, तो उसके किसी भी प्रकार के व्यवहार से पुनः अशान्त नहीं होना चाहिए।

उसके अपराध को सदा के लिए भूलकर पूर्ण उपशांत एवं कषाय रहित हो जाने से स्वयं की आराधना हो सकती है और दूसरे के अनुपशांत रहने पर उसकी ही विराधना होती है, दोनों की नहीं। अतः साधक के लिए यही जिनाज्ञा है कि वह स्वयं पूर्ण शांत हो जाए, क्योंकि **'उवसमसारं खु सामण्णं'** अर्थात् कषायों की उपशांति करना ही संयम का मुख्य लक्ष्य है। इससे ही वीतरागभाव की प्राप्ति होती है। प्रत्येक स्थिति में शान्त रहना, यही संयम धारण करने का एवं पालन करने का सार है।

इस सूत्र में आगे कहा है-यदि श्रमण संघ में किसी से किसी प्रकार का कलह हो जाय तो जब तक परस्पर क्षमा न माँग लें, तब तक आहार पानी लेने नहीं जा सकते, शौच नहीं जा सकते, स्वाध्याय भी नहीं कर सकते। क्षमा के लिए कितना कठोर अनुशासन है।

क्षमा करने के बाद भी यदि सामने वाले की भूल स्मरण में आ जाती है, तो समझना चाहिए 'क्षमा' प्रदान की ही नहीं। दूसरों के दोषों का स्मरण करना 'अक्षमा' है। यह अक्षमा भी क्रोध का ही पर्यायवाची नाम है। अंतर में द्वेष रहे बिना दूसरों की भूलों का स्मरण भी नहीं हो सकता और जहाँ द्वेष है, वहाँ क्षमा नहीं हो सकती। अपने हृदय को निर्वैर बना लेना ही क्षमापना का मुख्य उद्देश्य है। अतः यहाँ कहा गया है कि किसी की गलती प्रतीत होने पर, उसके बिना माँगे, स्वयं आगे होकर सदा के लिए उस गलती को भूल जाना वास्तविक क्षमा है। इस विषय में उत्तराध्ययन सूत्र का 29वाँ अध्ययन सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करता है-**खमावणयाए णं पल्हायणभावं जणयइ, पल्हायणभावमुवगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काउण निब्भए भवइ।** अर्थात् किसी के द्वारा अपराध हो जाने पर प्रतिकार-सामर्थ्य होते हुए भी उसकी उपेक्षा कर देना क्षमा है। क्षमापना से चित्त में परम प्रसन्नता उत्पन्न होती है। वह सभी प्राणियों के साथ मैत्री-भाव संपादन कर लेता है। इससे राग-द्वेष का क्षय होकर भाव-विशुद्धि होती है और भाव विशुद्धि से व्यक्ति निर्भय हो जाता है।

प्रश्न 218. अन्तर बताइये- 1. पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में, 2. चरण सत्तरी एवं करणसत्तरी में, 3.कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में, 4. श्रद्धा,प्रतीति एवं रुचि में, 5. संकल्प एवं विकल्प में, 6. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाए सज्झाइयं में।

उत्तर **1. पगामसिज्जाए एवं निगामसिज्जाए में अन्तर-**'पगामसिज्जाए' का संस्कृत रूप 'प्रकामशय्या' होता है। शय्या शब्द शयन वाचक है और प्रकाम अत्यन्त का सूचक है। अतः

प्रकामशय्या का अर्थ होता है–अत्यन्त सोना, चिरकाल तक सोना (उसमें)। इसके अतिरिक्त प्रकामशय्या का एक अर्थ और भी है, उसमें 'शेरेतेऽस्यामिति शय्या' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'शय्या' शब्द संथारे के बिछौने का वाचक है। प्रकाम उत्कट अर्थ का वाचक है। इसका अर्थ होता है– प्रमाण से बाहर बड़ी एवं गद्देदार, कोमल गुदगुदी शय्या। यह शय्या साधु के कठोर एवं कर्मठ जीवन के लिए वर्जित है। प्रतिपल के विकट जीवन संग्राम में उसे कहाँ आराम की फुर्सत है। कोमल शय्या का उपभोग करेगा तो अधिक देर तक आलस्य में पड़ा रहेगा। फलतः स्वाध्याय आदि धर्म क्रियाओं का भली–भाँति पालन न हो सकेगा।

'निगामसिज्जाए' का संस्कृत रूप 'निकामशय्या' है। जिसका अर्थ है–बार–बार अधिक काल तक सोते रहना। 'प्रकामशय्या' में सोने का उल्लेख है, किन्तु निकामशय्या में सोने के साथ प्रतिदिन और बार–बार शब्द अधिक प्रयुक्त हुआ है अर्थात् प्रकामशय्या का ही बार–बार सेवन करना, बार–बार अधिक काल तक सोये रहना 'निकामशय्या' है। इससे प्रमाद की अधिक अभिवृद्धि होती है, आत्म–विस्मरण होता है।

2. चरणसत्तरी एवं करणसत्तरी में अन्तर–चरणसत्तरी–चर्यतेऽनेनेति चरणम्। चरण का अर्थ चारित्र होता है। चारित्र का पालन प्रतिसमय होता है। एक प्रकार से चरण को नित्य क्रिया कह सकते हैं। इसके 70 भेद हैं यथा– 5 महाव्रत, 10 प्रकार का श्रमण धर्म, 17 प्रकार का संयम, 10 प्रकार की वैयावृत्त्य, ब्रह्मचर्य की 9 वाड़, 3 रत्न, 12 प्रकार का तप, 4 कषाय का निग्रह। इन 70 भेदों में से 5 महाव्रतादि का मूलगुण में समावेश होता है।

करणसत्तरी–क्रियते इति करणम्। करण का अर्थ होता है–क्रिया करना। यह प्रयोजन होने पर की जाती है। प्रयोजन न होने पर न की जाए, अर्थात् जिस अवसर पर जो क्रिया करने योग्य है, उसे करना। करण नैमित्तिक क्रिया है। इसके भी 70 भेद हैं–4 प्रकार की पिण्ड विशुद्धि, 5 समिति, 12 भावना, 12 भिक्षु प्रतिमा, 5 इन्द्रियों का निरोध, 25 प्रकार की पडिलेहणा, 3 गुप्ति, 4 अभिग्रह = कुल 70। स्वाध्याय तथा प्रतिलेखन उत्तर गुण हैं। अतः 25 प्रकार की पडिलेहणा का उत्तर गुण में समावेश होता है।

3. कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश में भेद–उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन 30 में व्युत्सर्ग का एक ही प्रकार कायोत्सर्ग बताया है तथा तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन 9 में अनशनादि के विवेचन में बताया गया है कि व्युत्सर्ग को ही सामान्य रूप से कायोत्सर्ग कहा जाता है। व्युत्सर्ग आभ्यन्तर तप होने के कारण कायोत्सर्ग भी आभ्यन्तर तप है। आभ्यन्तर तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम

है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 30 तथा आवश्यक सूत्र का पाठ 'तस्स उत्तरीकरणेणं.........पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं।' कर्म-निर्जरा के लिए, कर्मनाश के लिए कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग का प्रयोजन कर्मनाश, दुःखमुक्ति या मोक्षप्राप्ति है काउसग्ग तओ..... सव्वदुक्ख विमोक्खणं। काय + उत्सर्ग = काया की आसक्ति का त्याग। निःसंगता, अनासक्ति, निर्भयता को हृदय में रमाकर देह, लालसा अथवा ममत्व का त्याग करना। वैसे कायोत्सर्ग एवं कायक्लेश दोनों में ही शरीर की आसक्ति को छोड़ना पड़ता है। लेकिन कायोत्सर्ग (भाव कायोत्सर्ग) में पूर्णरूपेण ममत्व का त्याग होता है, तभी जाकर धर्मध्यान, शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है। इसमें कषाय त्याग भी जरूरी है, तभी भाव कायोत्सर्ग कहा जायेगा। कायोत्सर्ग के 2 भेद होते हैं-1. द्रव्य 2. भाव। कायोत्सर्ग तप 4 प्रकार का 1. उत्थित उत्थित 2. उत्थित निविष्ट 3. उपविष्ट निविष्ट 4. उपविष्ट उत्थित भी होता है।

कायक्लेश बाह्य तप है। बाह्य तप कर्मों की पूर्ण निर्जरा कराने में सक्षम नहीं है। आभ्यन्तर तप के बिना अकेला बाह्यतप पूर्ण निर्जरा कराने में असमर्थ है। कायक्लेश तप का प्रयोजन अनेकानेक आसनों द्वारा ध्यान की योग्यता संपादित करना है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कायक्लेश का प्रयोजन कायोत्सर्ग (भाव) की प्राप्ति के लिए ही है। बाह्य तप आभ्यन्तर तप के लिए है। शास्त्र सम्मत रीति से काया अर्थात् शरीर को क्लेश पहुँचाना कायक्लेश तप है। भगवती सूत्र शतक 25 उद्देशक 7 स्थानस्थितिक, उत्कुटकासनिक आदि कष्टप्रद आसन करना कायक्लेश तप है। (औपपातिक सूत्र, तप विवेचन) इसमें भी आसक्ति तो छूटती है, लेकिन शरीर की। भीतर कषायासक्ति को छोड़ने के लिए उसे कायोत्सर्ग का आधार लेना ही पड़ता है, अतः आंशिक ममत्व-त्याग होता है। कायक्लेश तप 13 प्रकार का होता है।

4. श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि में भेद-

श्रद्धा- **''तर्क अगोचर सद्दहो, द्रव्य धर्म, अधर्म ,**
केई प्रतीतो युक्ति सुं, पुण्य पाप सकर्म।
तप चारित्र ने रोचवो कीजे तस अभिलाष,
श्रद्धा प्रत्यय रुचि तिहुं बिन आगम भाष।।''

धर्मास्तिकाय ने इस जीव को बहुत भटकाया है, पूरा लोक घुमाया है। अधर्मास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त बार स्थिर किया है। आकाशास्तिकाय ने इस जीव को अनन्त स्थान दिये हैं। काल द्रव्य ने इस शरीर को बहुत मारा और नष्ट किया है। जीवास्तिकाय वर्ण नहीं, गंध नहीं,

रस नहीं, स्पर्श नहीं, अरूपी एवं शाश्वत है। यदि हमारी आत्मा वर्ण, गंध, रस रहित है तो मैं बाहरी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पीछे राग-द्वेष करके क्यों अपनी आत्मा का नुकसान करता हूँ? इनके पीछे आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करके अपनी आत्मा का अहित करता हूँ। ऐसा कोई क्षण नहीं, जिस वक्त इस जीव ने किसी वस्तु या व्यक्ति के पीछे राग-द्वेष न किया हो। पुद्गलों की साता भी धर्म नहीं है। पुद्गलों की शांति और मन की साता, यह आत्मा की साता से अलग है। पुद्गलास्तिकाय यह जीवों का मृत कलेवर है। इन पुद्गलों के पीछे भटकना, अपने लक्ष्य से भटकना है। बस इन्हीं तर्क अगोचर तत्त्वों पर, धर्मास्तिकाय आदि पर श्रद्धा करने के अर्थ से ही यहाँ 'सद्दहामि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्रद्धा जीवन-निर्माण का मूल है। बिना श्रद्धा का ज्ञान पंगु के सदृश हो जाता है। उत्तराध्ययन के अध्ययन 3 में बताया- 'सद्धा परम दुल्लहा' किसी भी साधन की प्राप्ति इतनी दुर्लभ नहीं, जितनी श्रद्धा की प्राप्ति दुर्लभ है। यहाँ तर्क अगोचर, धर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों पर श्रद्धा करने रूप से 'श्रद्धा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

प्रतीति- 'पत्तियामि' प्रतीति करता हूँ। युक्ति से समझने योग्य पुण्य-पापादि पर प्रतीति करता हूँ। व्याख्याता के साथ तर्क-वितर्क करके युक्तियों द्वारा पुण्य-पाप आदि को समझकर विश्वास करना प्रतीति है। धर्मास्तिकाय आदि तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होते। लेकिन वीतराग वाणी तीनों काल में सत्य-तथ्य यथार्थ है। अतः 'तमेव सच्चं' का आलम्बन लेकर उस पर श्रद्धा करनी होती है, देखने में नहीं आती, अतः विश्वास नहीं होता, लेकिन भगवान की वाणी है, ऐसा सोचकर 'श्रद्धा' अवश्य की जाती है। यहाँ 'पत्तियामि' में तर्क अगोचर तत्त्व न होकर युक्ति से समझने योग्य तत्त्वों की बात कही गयी है। समझने के बाद विश्वास होता है, श्रद्धा नहीं। पहले श्रद्धा करता हूँ तत्पश्चात् 'पत्तियामि' के द्वारा विश्वास करता हूँ अथवा उन तत्त्वों पर प्रीति करता हूँ।

रुचि- 'रोएमि' रुचि करता हूँ। व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप-चारित्र आदि सेवन करने की इच्छा करना। ''मैं श्रद्धा करता हूँ।'' श्रद्धा ऊपर मन से भी की जा सकती है, अतः कहता है मैं धर्म की प्रीति करता हूँ। प्रीति होते हुए भी कभी विशेष स्थिति में रुचि नहीं रहती। अतः साधक कहता है- 'मैं धर्म के प्रति सदाकाल रुचि रखता हूँ' 'सद्दहामि' में जीव श्रद्धा करता है। 'पत्तियामि' में विश्वास करता है और 'रोएमि' में पूर्व में जो श्रद्धा हुई थी, रुचि के द्वारा उस पर आचरण की इच्छा करता है, ऐसा प्रतीत होता है।

5. संकल्प एवं विकल्प में भेद (मनगुप्ति विषयक, उत्तराध्ययन 32.107)-संकल्प एवं विकल्प दोनों विचारों से संबंधित हैं। संकल्प में तो मनोज्ञ वस्तु के संयोग की इच्छा करता है।

विकल्प में अमनोज्ञ वस्तु का वियोग हो जाय, ऐसा विचार करना अथवा संकल्प के विविध उपाय का चिन्तन भी विकल्प है।

दृढ़ निश्चय करना भी संकल्प है, किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व की गई प्रतिज्ञा भी संकल्प है। विकल्प का शाब्दिक अर्थ–भ्रान्ति, धोखा भी है, चित्त में किसी बात को स्थिर करके, उसके विरुद्ध सोचना भी विकल्प है। जब संकल्प पूर्ति में कोई रुकावट आती है या कोई विरोध करता है, तब वह संक्लेश करता है। इन्द्रिय–क्षीणता आदि विवशताओं के कारण काम्यपदार्थों का उपभोग नहीं कर पाता है तब शोक और खेद करता है, वह अनेक विकल्पों से विषादमग्न हो जाता है। संकल्प और विकल्प दोनों आर्त्तध्यान में आते हैं एवं विरुद्ध विचार के आधिक्य से रौद्रध्यान भी हो जाता है। संकल्प से विषयों में आसक्ति हो जाती है, विघ्न पड़ने पर क्रोध होता है, क्रोध से अविवेक (मूढ़भाव), अविवेक से स्मृति भ्रम, स्मृति भ्रमित होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है, बुद्धि नाश से सर्वनाश अर्थात् श्रमण भाव से सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

6. अकाले कओ सज्झाओ एवं असज्झाइए सज्झायं में अन्तर–जिस सूत्र के पढ़ने का जो काल न हो, उस समय में उसे पढ़ना अकाले कओ सज्झाओ अतिचार है। सूत्र दो प्रकार के हैं–कालिक और उत्कालिक। जिन सूत्रों को पढ़ने के लिए प्रातःकाल, सायंकाल आदि निश्चित समय का विधान है, वे कालिक कहे जाते हैं। जिनके लिए समय की कोई मर्यादा नहीं, वे उत्कालिक हैं। कालिक सूत्रों को उनके निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना 'अकाले कओ सज्झाओ' अतिचार है। ज्ञानाभ्यास के लिए काल का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। अनवसर की रागिनी अच्छी नहीं होती। यदि साधक शास्त्राध्ययन करता हुआ काल का ध्यान न रखेगा तो कब तो प्रतिलेखना करेगा, कब गोचरचर्या करेगा और कब गुरु भगवंतों की सेवा करेगा? स्वाध्याय का समय होते हुए भी जो अनावश्यक कार्य में लगा रहकर आलस्यवश स्वाध्याय नहीं करता वह ज्ञान का अनादर करता है। ठाणांग सूत्र के चौथे ठाणे में बताया है कि 4 कारणों से निर्ग्रन्थ–निर्ग्रंथियों को अतिशय ज्ञान/दर्शन प्राप्त होते–होते रुक जाते हैं। जिसमें तीसरा कारण 'पुव्वरत्तावरत–कालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरइत्ता भवति।' जो रात्रि के पहले और अन्तिम समय में (भाग में) धर्म जागरण नहीं करते उन्हें अतिशय ज्ञान प्राप्त नहीं होता। अतः काल के समय में प्रमाद कर अकाल में स्वाध्याय करना अतिचार है।

असज्झाइए सज्झायं का तात्पर्य है–अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना। अपने या पर के (व्रण, रुधिरादि) अस्वाध्याय में तथा रक्त, माँस, अस्थि एवं मृत कलेवर आस-पास में हो तो वहाँ

अस्वाध्याय में तथा चन्द्रग्रहणादि 34 (32) अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने को 'असज्झाइए सज्झायं' अतिचार कहते हैं। 'अकाले कओ सज्झाओ' में केवल काल की अस्वाध्याय है, लेकिन 'असज्झाइए सज्झायं' में काल के साथ-साथ अन्य आकाश संबंधी, औदारिक संबंधी कुल 34 (32) प्रकार के अस्वाध्याय का समावेश हो जाता है। इसके दो भेद हैं-1. आत्मसमुत्थ-स्वयं के रुधिरादि से। 2. परसमुत्थ-दूसरों से होने वाले को परसमुत्थ कहते हैं, जबकि 'अकाले कओ........' का कोई अवान्तरभेद नहीं है।

प्रश्न 219. टिप्पणी लिखिए-1. अठारह हजार शीलांग रथ 2. यथाजात मुद्रा 3. यापनीय 4. श्रमण 5. अवग्रह 6. निर्ग्रन्थ प्रवचन।

उत्तर (1) अठारह हजार शीलांग रथ-

जे नो करेंति मणसा, निज्जियाहार-सन्ना-सोइंदिए।
पुढवीकायारंभे, खंतिजुआ ते मुणी वंदे।।
जोगे करणे सण्णा, इंदिय भोम्माइ समणधम्मे य।
अण्णोणेहि अब्भत्था, अट्ठारह सीलसहस्साइं।।

जे नो	जे नो	जे नाणु							
करेंति	कारवेंति	मोयंति							
6000	6000	6000	10 यति धर्म x 10 आरंभ = 100 भेद						
मणसा	वयसा	कायसा	पाँचों इंद्रियों के भी प्रत्येक के 100 = 100 x 5 = 500						
2000	2000	2000	ये प्रत्येक संज्ञा 500 भेद = 500 x 4 = 2000						
आहारसन्ना	भयसन्ना	मेहुणसन्ना	परिग्गहसन्ना		2000 x 3 योग = 6000				
500	500	500	500	500	6000 x 3 करण = 18000 शीलांग रथ धारा				
श्रोत्रेन्द्रिय	चक्षुरिन्द्रिय	घ्राणेन्द्रिय	रसनेन्द्रिय	स्पर्शनेन्द्रिय					
100	100	100	100	100	100	100	100	100	100
पृथ्वी	अप्	तेउ	वायु	वनस्पति	बेइ.	तेइ.	चउ.	पंचे.	अजीव
10	10	10	10	10	10	10	10	10	10
क्षान्ति	मुक्ति	आर्जव	मार्दव	लाघव	सत्य	संयम	तप	ब्रह्मचर्य	अकिंचन

इसको क्षमादि 10 गुणों से गुणा करने पर 10 गाथाएँ बनती है। फिर इनको पृथ्वीकाय आदि 10 असंयम (पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अजीव) से गुणा करने पर 100 गाथाएँ बनती हैं। इनको श्रोत्रेन्द्रिय आदि 5 इन्द्रिय से गुणा करने पर 500 गाथाएँ बनती हैं। इनको 4

संज्ञा से गुणा करने पर 2,000 गाथाएँ बनती हैं, इनको मन, वचन और काया इन 3 योग से गुणा करने पर 6,000 गाथाएँ बनती हैं। इनको करना, कराना, अनुमोदना इन 3 करण से गुणा करने पर 18,000 गाथाएँ बनती हैं।

(2) यथाजात मुद्रा–गुरुदेव के चरणों में वन्दन क्रिया करने के लिये शिष्य को यथाजात मुद्रा के रूप में करना चाहिए। दोनों ही 'खमासमण सूत्र' यथाजात मुद्रा में पढ़ने का विधान है। यथाजात का अर्थ है- यथा-जन्म अर्थात् जिस मुद्रा में बालक का जन्म होता है, उस जन्मकालीन मुद्रा के समान मुद्रा। जब बालक माता के गर्भ में जन्म लेता है, तब वह नग्न होता है, उसके दोनों हाथ मस्तक पर लगे हुए होते हैं। संसार का कोई भी वासनामय प्रभाव उस पर नहीं पड़ा होता है। वह सरलता, मृदुता, विनम्रता और सहृदयता का जीवित प्रतीक होता है। अस्तु शिष्य को भी वन्दन के लिए इसी प्रकार सरलता, मृदुता, विनम्रता एवं सहृदयता का जीवित प्रतीक होना चाहए। बालक अज्ञान में है, अतः वहाँ कोई साधना नहीं है। परन्तु साधक तो ज्ञानी है। वह सरलता आदि गुणों को साधना की दृष्टि से विवेकपूर्वक अपनाता है। जीवन के कण-कण में नम्रता का रस बरसाता है। गुरुदेव के समक्ष एक सद्यःसंजात बालक के समान दयापात्र स्थिति में प्रवेश करता है और इस प्रकार अपने को क्षमा-भिक्षा का योग्य अधिकारी प्रमाणित करता है।

यथाजात मुद्रा में वन्दनार्थी शिष्य सर्वथा नग्न तो नहीं होता, परन्तु रजोहरण, मुखवस्त्रिका और चोलपट्ट के अतिरिक्त कोई वस्तु अपने पास नहीं रखता है और इस प्रकार बालक के समान नग्नता का रूपक अपनाता है। भयंकर शीतकाल में भी यह नग्न मुद्रा अपनाई जाती है। प्राचीन काल में यह पद्धति रही है। परन्तु आजकल तो कपाल पर दोनों हाथों को लगाकर प्रणाम मुद्रा कर लेने में ही यथाजात मुद्रा की पूर्ति मान ली जाती है।

यथाजात का अर्थ 'श्रमणवृत्ति धारण करते समय की मुद्रा' भी किया जाता है। श्रमण होना भी संसार-गर्भ से निकलकर एक विशुद्ध आध्यात्मिक जन्म ग्रहण करना है।

(3) यापनीय–यापनीय कहने का अभिप्राय यह है कि 'मैं' अपने पवित्र भाव से वन्दन करता हूँ। मेरा शरीर वन्दन करने की सामर्थ्य रखता है, अतः किसी दबाव से लाचार होकर गिरी-पड़ी हालत में वन्दन करने नहीं आया हूँ। अपितु वंदना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमांचित हुए सशक्त शरीर से वन्दना के लिए तैयार हुआ हूँ। सशक्त एवं समर्थ शरीर ही विधिपूर्वक धर्मक्रिया का आराधन कर सकता है। दुर्बल शरीर प्रथम तो धर्मक्रिया कर नहीं सकता और यदि किसी के भय से या स्वयं हठाग्रह से करता भी है तो वह अविधि से करता है। जो लाभ की अपेक्षा हानिप्रद अधिक है।

धर्म-साधना का रंग स्वस्थ एवं सबल शरीर होने पर ही जमता है। यापनीय शब्द की यही ध्वनि है, यदि कोई सुन और समझ सके तो? यात्रा के समान 'यापनीय' शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। यापनीय का अर्थ है- मन और इन्द्रिय आदि पर अधिकार रखना। अर्थात् उनको अपने वश में-नियंत्रण में रखना। मन और इन्द्रियों का अनुपशान्त रहना, अनियन्त्रित रहना, अकुशलता है, अयापनीयता है और इनका उपशान्त हो जाना नियन्त्रित हो जाना ही कुशलता है, यापनीयता है। हिन्दी टीकाकार- पं. सुखलाल जी ने 'जवणिज्जं च भे' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आपका शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ पीड़ा से रहित हैं।'

आचार्य हरिभद्र ने भी इस संबंध में कहा है-**'यापनीयं चेन्द्रिय-नोइन्द्रियोपशमादिना अकारेणं भवतां शरीरमिति गम्यते।'** यहाँ इन्द्रिय से इन्द्रिय और नोइन्द्रिय से मन समझा गया है और ऊपर के अर्थ की कल्पना की गई है।

परन्तु भगवती सूत्र में यापनीय का निरूपण करते हुए कहा है कि-यापनीय दो प्रकार के हैं- इन्द्रिययापनीय और नोइन्द्रिययापनीय। पाँचों इन्द्रिय का निरुपहत रूप से अपने वश में होना, इन्द्रिय यापनीयता है और क्रोधादि कषायों का उच्छिन्न होना, उदय न होना , उपशान्त हो जाना, नोइन्द्रिय यापनीयता है।

''जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते तंजहा ! इन्द्रियजवणिज्जे य नोइन्द्रिय जवणिज्जे य'' आचार्य अभयदेव भगवतीसूत्र के उपर्युक्त पाठ का विवेचन करते हुए लिखते हैं-**यापनीयं = मोक्षाध्वनि गच्छतां प्रयोजक-इन्द्रियादिवश्यतारूपो धर्मः।** भगवती सूत्र में नोइन्द्रिय से मन नहीं, किन्तु कषाय का ग्रहण किया गया है, कषाय चूंकि इन्द्रिय सहचरित होते हैं , अतः नो इन्द्रिय कहे जाते हैं।

आचार्य जिनदास भी भगवती सूत्र का ही अनुसरण करते हैं-**''इन्द्रिय जवणिज्जं निरुवहताणि वसे य मे वट्टंति इंदियाणि, नो खलु कज्जस्स बाधाए वट्टंति इत्यर्थः। एवं नोइन्द्रिय-जवणिज्जं कोधादिए वि णो मे बाहेंति''** -आवश्यक चूर्णि।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार यापनीय शब्द का भावार्थ यह है कि 'भगवन् ! आपकी इन्द्रिय विजय की साधना ठीक-ठीक चल रही है? इन्द्रियाँ आपकी धर्म साधना में बाधक तो नहीं होती? अनुकूल ही रहती हैं न? और नोइन्द्रिय विजय भी ठीक-ठीक चल रही है न? क्रोधादि कषाय शान्त हैं न? आपकी धर्मसाधना में कभी बाधा तो नहीं पहुँचाते?

(4) श्रमण–1. श्रमण शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है श्रम करना। प्राकृत शब्द 'समण' के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं– श्रमण, समन और शमन। 2. समन का अर्थ है समता भाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। सभी के प्रति समता भाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बातें अपने को बुरी लगती हैं, वे दूसरों के लिए भी बुरी हैं। **''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।''** यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। 3. शमन का अर्थ है– अपनी वृत्तियों को शान्त करना।

''जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं। न हणइ न हणावेइ य समणुणइ तेण सो समणो।'' जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है। यह समझकर जो स्वयं न हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन ही करता है, अर्थात् सभी प्राणियों में समत्व बुद्धि रखता है, वह श्रमण है।

''णत्थि य से कोई वेसो, पिओ असव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ'' जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह श्रमण है। यह श्रमण का दूसरा पर्याय है। आचार्य हेमचन्द्र उक्त गाथा के 'समण' शब्द का निर्वचन 'सममन' करते हैं। जिसका सार सब जीवों पर सम अर्थात् समान मन अर्थात् हृदय हो वह सममना कहलाता है।

''तो समणो जइ सुमणो, भावेइ जइण होइ पावमणो। समणे य जणे य समो, समो अ माणावमाणेसु।''

श्रमण सुमना होता है, वह कभी भी पापमना नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदा प्रफुल्लित रहता है, जो कभी भी पापमय चिंतन नहीं करता, जो स्वजन और परजन में तथा मान–अपमान में बुद्धि का उचित संतुलन रखता है, वह श्रमण है। आचार्य हरिभद्र दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की तीसरी गाथा का मर्मोद्‌घाटन करते हुए श्रमण का अर्थ तपस्वी करते हैं। अर्थात् जो अपने ही श्रम से तपःसाधना से मुक्ति लाभ प्राप्त करते हैं, वे श्रमण कहलाते हैं। **'श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्तीत्यर्थः'** आचार्य शीलांक भी सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत 16वें अध्ययन में 'श्रमण' शब्द की यही श्रम और सम संबंधी अमर घोषणा कर रहे हैं– **''श्राम्यति तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं तुल्य मित्रादिषु मनः अन्तःकरणं यस्य सः सममनाः सर्वत्र वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः''** सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम

श्रुतस्कन्धान्तर्गत 16वीं गाथा में भगवान महावीर ने साधु के माहन, श्रमण और भिक्षु तथा निर्ग्रन्थ इस प्रकार 4 सुप्रसिद्ध नामों का वर्णन किया है। साधक के प्रश्न करने पर भगवान् ने उन शब्दों की विभिन्न रूप से अत्यन्त सुन्दर भावप्रधान व्याख्या की है। ''जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता है, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता है, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से भी रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, संयमी है, मोक्षमार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है।

(5) अवग्रह–जहाँ गुरुदेव विराजमान होते हैं, वहाँ गुरुदेव के चारों ओर, चारों दिशाओं में आत्म-प्रमाण अर्थात् शरीर-प्रमाण साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है। इस अवग्रह में गुरुदेव की आज्ञा लिए बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। गुरुदेव की गौरव-मर्यादा के लिए शिष्य को गुरुदेव से साढ़े तीन हाथ दूर अवग्रह से बाहर खड़ा रहना चाहिए। यदि कभी वन्दना एवं वाचना आदि आवश्यक कार्य के लिए गुरुदेव के समीप तक जाना हो तो प्रथम आज्ञा लेकर पुनः अवग्रह में प्रवेश करना चाहिये। अवग्रह की व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र आवश्यक वृत्ति में लिखते हैं–''**चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्म-प्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते**'' प्रवचनसारोद्धार के वन्दनक द्वार में आचार्य नेमिचन्द्र भी यही कहते हैं–

आयप्पमाणमित्तो, चउदिसिं होइ उग्गहो गुरुणो ।।
अणणुन्नायस्स सया न कप्पइ तत्थ पविसेउं ।।

प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में अवग्रह के छः भेद कहे गये हैं–**नामावग्रह**–नाम का ग्रहण, **स्थापनावग्रह**–स्थापना के रूप में किसी वस्तु का अवग्रह कर लेना, **द्रव्यावग्रह**–वस्त्र, पात्र आदि किसी वस्तु विशेष का ग्रहण, **क्षेत्रावग्रह**–अपने आस-पास के क्षेत्र विशेष एवं स्थान का ग्रहण, **कालावग्रह**–वर्षाकाल में चार मास का अवग्रह और शेष काल में एक मास आदि का, **भावावग्रह**–ज्ञानादि प्रशस्त और क्रोधादि अप्रशस्त भाव का ग्रहण। वृत्तिकार ने वन्दन प्रसंग में आये अवग्रह के लिए क्षेत्रावग्रह और प्रशस्त भावावग्रह माना है। भगवती सूत्र आदि आगमों में देवेन्द्रावग्रह, राजावग्रह, गृहपति अवग्रह, सागारी का अवग्रह और साधर्मिक का अवग्रह। इस प्रकार जो आज्ञा ग्रहण करने रूप पाँच अवग्रह कहे गये हैं, वे प्रस्तुत प्रसंग में ग्राह्य नहीं हैं।

(6) निर्ग्रन्थ प्रवचन–मूल शब्द है–**निग्गंथं पावयणं**। 'पावयणं' विशेष्य है और 'निग्गंथं'

विशेषण है। जैन साहित्य में 'निग्गंथं' शब्द सर्वतोविश्रुत हैं। 'निग्गंथं' का संस्कृत रूप 'निर्ग्रन्थ' होता है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है- धन, धान्य आदि बाह्य ग्रन्थ और मिथ्यात्व, अविरति तथा क्रोध, मान, माया आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ अर्थात् परिग्रह से रहित, पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु। ''**बाह्याभ्यन्तरग्रन्थनिर्गताः साधवः**'' निर्ग्रन्थों-अरिहंतों के प्रवचन नैर्ग्रन्थ्य प्रवचन हैं। '**निर्ग्रन्थानामिदं-नैर्ग्रन्थ्यं प्रावचनमिति**'-आचार्य हरिभद्र। मूल में जो 'निग्गंथं' शब्द है, वह निर्ग्रन्थ वाचक न होकर नैर्ग्रन्थ्य वाचक है। अब रहा 'पावयणं' शब्द, उसके दो संस्कृत रूपान्तरण हैं- प्रवचन और प्रावचन। आचार्य जिनदास प्रवचन कहते हैं और हरिभद्र प्रावचन। शब्द भेद होते हुए भी, दोनों आचार्य एक ही अर्थ करते हैं- ''जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है, वह सामायिक से लेकर बिन्दुसार पूर्व तक का आगम साहित्य।'' आचार्य जिनदासगणी आवश्यक चूर्णि में लिखते हैं- '**पावयणं सामाइयादि, बिन्दुसारपज्जवसाणं, जत्थ नाण-दंसण-चरित्त-साहणवावारा अणेगया वण्णिज्जंति।**' आचार्य हरिभद्र लिखते हैं-''**प्रकर्षेण अभिविधिना उच्यन्ते जीवादयो यस्मिन् तत्प्रावचनम्।**''

प्रश्न 220. समीक्षा कीजिए-(गुणनिष्पन्न 6 आवश्यक से)

1. आवश्यक आत्मिक स्नान है 2. आवश्यक आत्मिक शल्य क्रिया है 3. आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है।

उत्तर **1. आवश्यक आत्मिक स्नान है-**आवश्यक सूत्र के गुणनिष्पन्न नाम 1. सावद्ययोगविरति 2. उत्कीर्तन 3. गुणवत्प्रतिपत्ति 4. स्खलित निन्दना 5. व्रण-चिकित्सा और 6. गुणधारण हैं। इन नामों के आधार पर आवश्यक आत्मिक स्नान है, की समीक्षा-1. किसी व्यक्ति के द्वारा ऐसा विचार, संकल्प किया जाना कि मैं स्नान करके, पसीने या मैल आदि को दूर करके शारीरिक शुद्धि करूँगा। उसी प्रकार किसी मुमुक्षु आत्म-साधक के द्वारा ऐसा संकल्प किया जाना कि आत्मशुद्धि में प्राणातिपात आदि सावद्य योगों से विरति को ग्रहण करता हूँ। 2. जैसे स्नान करने वाला देखता है कि जिन्होंने स्नान किया है, उन्होंने शारीरिक विशुद्धि को प्राप्तकर लिया है, उनको देखकर वह मन में प्रसन्न होता है और उनकी प्रशंसा भी करता है, उसी तरह आत्मिक स्नान में साधक, पूर्ण समत्व योग को प्राप्त हो चुके अरिहन्त भगवन्तों को देखकर मन में बहुत ही प्रसन्नचित्त होता है और वचनों के द्वारा भी उनके गुणों का उत्कीर्त्तन करता है। 3. जैसे शारीरिक शुद्धि हेतु जो स्नान करने को उद्यत हुए हैं, उनको देखकर शरीर-शुद्धि को महत्त्व

देने वाला व्यक्ति मन में अहोभाव लाता है कि देखो यह शरीर-शुद्धि के लिए अग्रसर हो रहा है, उसी प्रकार आत्मिक स्नान कर अपने दोषों का निकन्दन करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर शिष्य के मन में अहोभाव जागृत होता है, और वह शिष्य उनके गुणों के विकास को देखकर गद्‌गद्‌ बना हुआ गुणवत्प्रतिपत्ति करता है अर्थात् उनके प्रति विनयभाव करता है। 4. जैसे-किसी ने स्नान किया और स्नान करने के बाद कभी भूलवश कीचड़ आदि अशुचि लग गई तो उस अशुचि स्थान की वह व्यक्ति शुद्ध जल से शुद्धि करता है, वैसे ही आत्मिक स्नान करने वाला साधक जो कि व्रतों को अंगीकार करके व्रतों की निर्दोष पालना में आगे बढ़ रहा है, किन्तु कभी प्रमादवश कोई स्खलना हो जाने पर उस स्खलित दोष की निन्दना कर उस दोष से पीछे हटकर पुनः निर्दोष आराधना में आगे बढ़ता है। 5. जैसे स्नान करते किसी व्यक्ति के शरीर में कोई व्रण (घाव) लगा हुआ है तो वह मलहम आदि दवा लगाकर उसका उपचार करता है, उसी प्रकार आत्मिक स्नानकर्ता के व्रतों में दोष रूप व्रण (घाव) होने पर वह प्रायश्चित्त रूप औषध का प्रयोगकर उस भाव व्रण की चिकित्सा करता है। 6. शारीरिक स्नान करने वाला व्यक्ति जैसे स्नान कर लेने के बाद तेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ लगाकर विशेष रूप से शरीर को सजाता है, वैसे ही भाव व्रण आदि को दूर कर लेने के बाद आत्मिक स्नान करने वाला साधक छठे आवश्यक में कुछ प्रत्याख्यान अंगीकार करके विशेष रूप से गुणों को धारण करके अपने संयमी-जीवन की आन्तरिक तेजस्विता में अभिवृद्धि करता है।

2. आवश्यक आत्मिक शल्यक्रिया है-1. जैसे किसी व्यक्ति के किसी व्यसन आदि बाह्य निमित्त के कारण तथा उपादान रूप आभ्यन्तर कारण से कैंसर की गाँठ आदि के रूप में कोई बड़ा रोग हो गया। वह रोगी व्यक्ति विचार करता है कि इस रोग को मुझे आगे नहीं बढ़ाना है। उसी तरह कर्म के कैंसर रोग से पीड़ित व्यक्ति मन में विचार करता है कि अब मैं रोग के कारण हिंसा, झूठ आदि किसी भी सावद्य व्यापार का सेवन नहीं करूँगा। 2. वह रोगी व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ लोगों को देखकर विचार करता है कि ये लोग धन्य हैं, जिन्होंने इस भव, परभव में शुभ कर्म किये हैं और जीवन में कोई कुव्यसन का सेवन नहीं किया है, जो अभी साता से, शान्ति से जीवन व्यतीत कर रहे हैं, उसी तरह आत्म शल्यक्रिया का साधक पूर्ण आत्मिक स्वस्थता को प्राप्त अरिहन्त भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों की स्तुति, उनके गुणों का उत्कीर्तन करता है। 3. कोई व्यक्ति अभी भी जीवन में कोई व्यसन नहीं रखता है, किसी तरह के अशुभ कर्म करके असाता-वेदनीय का बंध नहीं करता है, अपने स्वास्थ्य का पूरा

ध्यान रखता हुआ रहता है, उसे देखकर रोगी व्यक्ति उसके प्रति विनय तथा आदर का भाव रखता है, उससे शिक्षा लेता है , उसी प्रकार आत्मिक शल्य क्रिया में आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति आत्मिक स्वस्थता के क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर उनसे सीख लेता है तथा उनके प्रति विनय भाव रखता हुआ उनके गुणों के प्रति गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। 4. जैसे शारीरिक शल्य क्रिया करता हुआ व्यक्ति अपने मन में स्वकृत दोषों के प्रति ग्लानि तथा निन्दा के भाव लाता है और सोचता है अब ऐसी गलती नहीं करूँगा, जिससे मुझे रोगी बनना पड़े। वैसे ही आत्मिक शल्यक्रिया करने वाला साधक अपने आभ्यन्तर आत्मिक रोगों के लिए मन में ग्लानि व आत्मनिंदा के भाव लाता है, सोचता है मेरे द्वारा पाप से पीछे नहीं हटने के कारण ही मैं संसार में जकड़ा हुआ हूँ और आगे के लिए दोष सेवन नहीं करने का संकल्प करता हूँ, यह स्खलित निन्दना है। 5. जैसे शारीरिक स्तर पर कैंसर आदि की गाँठ से पीड़ित रोगी शल्य क्रिया के द्वारा अपने शरीरस्थ गाँठ को निकलवा कर स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर लेता है अर्थात् अपने रोग का उपचार कर लेता है, वैसे ही महाव्रतों की आराधना करते हुए कभी दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त रूप उपचार से अपने भाव व्रण की चिकित्सा कर लेता है। 6. जैसे शल्यक्रिया (ऑपरेशन) के बाद रोगी के शरीर में कमजोरी आ जाती है, तो वह पौष्टिक दवा (टॉनिक) आदि का सेवन करके शरीर को वापस पुष्ट, बलवान बनाता है, वैसे ही आत्मिक शल्यकर्ता छठे आवश्यक में अनेक प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान आदि अंगीकार करके अपने आत्मगुणों में अभिवृद्धि कर लेता है।

3. आवश्यक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा है–1. जैसे मानसिक रूप से रोगी व्यक्ति अपने मानसिक रोग को उपशान्त करने का संकल्प करता है एवं सोचता है मैं अब रोगी नहीं रहूँगा, मानसिक स्वास्थ्य लाभ को प्राप्त करूँगा , वैसे ही कर्म रोग से पीड़ित व्यक्ति अपने आपको स्वस्थ बनाने का संकल्प करता है। कर्म रोग को बढ़ाने वाले सावद्य कार्यो से विरक्ति का संकल्प ग्रहण करता है। 2. जैसे कोई व्यक्ति पहले मानसिक रोग से पीड़ित था और वह अब उपचारोपरान्त स्वस्थ है, उसे स्वस्थ देखकर यह खुश होता है, उसकी प्रशंसा करता है, वैसे ही कर्मयुक्त प्राणी, घाती कर्म रहित अरिहन्त, अष्ट कर्म रहित सिद्ध भगवन्तों को देखकर, उनके प्रति अहोभाव लाता है, वैसा बनने का सुविचार करता है। उनके गुणों की स्तुति तथा उत्कीर्तन करता है। 3. कोई व्यक्ति पहले मानसिक रूप से पीड़ित था और आज मानसिक रोग का उपचार करता हुआ धीरे-धीरे मानसिक स्वस्थता को प्राप्त कर रहा है, ऐसे व्यक्ति को देखकर

यह रोगी उस व्यक्ति के प्रति विनय, आदर, सम्मान का भाव लाता है, उससे प्रेरणा लेता है, सोचता है, मैं भी इसी तरह स्वास्थ्य लाभ की प्रक्रिया को अपनाऊँगा। इसी तरह आत्मिक रोग से ग्रस्त व्यक्ति, कर्म रोग को दूर करते हुए गुरु भगवन्तों को देखकर, उनके गुणों से प्रभावित होकर, उनके गुणों का विनय अर्थात् गुणवत् प्रतिपत्ति करता है। 4. मानसिक रोगी सोचता है मैं पहले स्वस्थ था, मैंने ही नकारात्मक सोच-ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता, तनाव आदि से अपने आपको 'आधि' ग्रस्त बनाया है और अपने दोषों की निन्दना करके वह दोषों का प्रतिक्रमण करता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि आत्मिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति सोचता है, मैंने मेरी गलती से ही दोष सेवन कर अपने को संसार में अटकाया है। ऐसा चिन्तन कर वह अपनी स्खलनाओं की निन्दा करता हुआ पापों से पीछे हट जाता है। 5. जैसे मानसिक रूप से पीड़ित व्यक्ति किसी मनोचिकित्सक के पास जाकर रोगोपचार कराता है और स्वस्थता (मानसिक समाधि) को प्राप्त करता है, वैसे ही कर्मरोग से ग्रसित व्यक्ति प्रायश्चित्त करके अपने रोग का उपचार करता है। प्रायश्चित्त एक तरह का उपचार है जो भाव-व्रण की चिकित्सा करता है। 6. जैसे मानसिक रोगी व्यक्ति चिकित्सक के परामर्शानुसार सदैव सकारात्मक विचारधारा (झ्ीेळींळींश ढहळपज्ञ-ळपस) ध्यान आदि को अपनाकर, अपनी मानसिक स्वस्थता में अभिवृद्धि करता है और दिमाग को सुदृढ़ बनाता है, वैसे ही कर्मरोग से पीड़ित साधक आत्मा को शक्तिशाली बनाने तथा आत्मविश्वास को सुदृढ़ करने हेतु, अनशन, कायक्लेश, कायोत्सर्ग आदि अनेक प्रकार के तप अपनाता है। संक्षेप में कहें तो 1. समभाव से समाधि मिलती है। 2. पूर्ण गुणियों को देखकर वैसा बनने का लक्ष्य बनता है 3. इस मार्ग में बढ़ते गुरुओं को देखकर आत्मविश्वास जगता है। 4. स्वयं दोषों से पीछे हटता है 5. पश्चात्ताप से शुद्धि करता है। 6. अनेक तरह के गुण धारण कर पूर्णता प्राप्ति के मार्ग में डग भरता है।

प्रश्न 221. आवश्यकसूत्र को अंगबाह्य माना जाता है तो यह गणधरकृत है या स्थविरकृत? स्थविरकृत मानने में बाधा है, क्योंकि स्वयं गणधर आवश्यक करते हैं। यदि गणधर कृत मानें तो अंग प्रविष्ट में स्थान क्यों नहीं दिया?

उत्तर प्रश्न के समुचित समाधान के लिये हमें अंग प्रविष्ट व अंग बाह्य की भेद रेखा (विभाजन रेखा) को देखना होगा-

गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा।
धुव चलविसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं।। -विशेषावश्यक भाष्य गाथा, 552

इसमें तीन अन्तर बताए गए-

1. अंगप्रविष्ट गणधरकृत होते हैं, जबकि अंग बाह्य स्थविरकृत अथवा आचार्यों द्वारा रचित होते हैं।

2. अंगप्रविष्ट में जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थङ्करों द्वारा समाधान (और गणधरों द्वारा सूत्र रचना) किया जाता है, जबकि अंग बाह्य में जिज्ञासा प्रस्तुत किए बिना ही तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादन होता है।

3. अंगप्रविष्ट ध्रुव होता है, जबकि अंगबाह्य चल होता है।

अंगप्रविष्ट में तीनों बातें लागू होती हैं और एक भी कमी होने पर वह अंग बाह्य (अनंग प्रविष्ट) कहलाता है। पूर्वों में से निर्यूढ दशवैकालिक, 3 छेद सूत्र, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार सूत्र, नन्दी सूत्र आदि भी तीर्थङ्करों की वाणी गणधरों द्वारा ही सूत्र निबद्ध है- केवल उस रूप में संकलित/संगृहीत, सम्पादित करने वाले पश्चाद्वर्ती आचार्य अथवा स्थविर आदि हैं अर्थात् अंगबाह्य भी गणधरकृत का परिवर्तित रूप हो सकता है, पर उनकी रचना से निरपेक्ष नहीं।

भगवती शतक 25 उद्देशक 7 आदि से यह तो पूर्ण स्पष्ट है कि छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले को उभयकाल आवश्यक करना अनिवार्य है। उत्तराध्ययन के 26वें अध्ययन में आवश्यक का उल्लेख विद्यमान है, अंतगड के छठे वर्ग में भी सामायिक आदि 11 अंग सीखने का उल्लेख है तो चातुर्याम से पंचमहाव्रत में आने वालों का 'सपडिक्कमणं······' प्रतिक्रमण सहित शब्द स्पष्ट द्योतित करते हैं कि तीर्थङ्कर की विद्यमानता में आवश्यक सूत्र था।

पूर्वों और अंगों की रचना करने में समय अपेक्षित है, मात्र दिन-दिन के समय में इनकी रचना संभव नहीं, उस समय भी सायंकाल और प्रातःकाल गणधर भगवन्त और उनके साथ दीक्षित 4400 शिष्यों ने प्रतिक्रमण किया। विशेषावश्यक भाष्य में स्थविरकल्प क्रम में शिक्षा पद में सर्वप्रथम आवश्यक सीखने का उल्लेख है।

निशीथसूत्र उद्देशक 19 सूत्र 18-19 आदि, व्यवहार सूत्र उद्देशक 10 अध्ययन विषयक सूत्रों से भी सर्वप्रथम आवश्यक का अध्ययन ध्वनित होता है।

बिना जिज्ञासा प्रस्तुति के होने तथा पूर्वों की रचना के भी पूर्व तीर्थङ्कर प्रणीत होने से उसे अंगप्रविष्ट नहीं कहा जा सकता। अंग प्रविष्ट के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी गणधर रचित मानने में बाधा नहीं, यथा आचारचूला को 'थेरा' रचित कहा- चूर्णिकार ने 'थेरा' का अभिप्राय गणधर ही लिया है। निशीथ भी इसी प्रकार गणधरों की रचना है, पर अनंग प्रविष्ट में

आता है। अतः आवश्यक सूत्र को अंग में शामिल करना अनिवार्य नहीं।

सभी अंग कालिक होते हैं, यदि आवश्यक भी इसमें सम्मिलित किया जाता तो उभयकाल अस्वाध्याय में उसका वाचन ही निषिद्ध हो जाता-वह नो कालिक-नो उत्कालिक है-ज्ञान के अन्तिम 4 अतिचार आवश्यक सूत्र पर लागू नहीं होते, जबकि अंगप्रविष्ट के मूल पाठ (सुत्तागमे) पर लागू होते हैं। अतः अंगों से बाहर होने पर भी आवश्यक सूत्र के गणधरकृत होने में बाधा नहीं।

❑❑❑

परिशिष्ट–5

संस्तार–पौरुषी सूत्र

अणुजाणह परमगुरु!, गुरुगुणरयणेहिं मंडियसरीरा।
बहुपडिपुण्णा पोरिसी, राइयसंथारए ठामि ।।1 ।।

(संथारा के लिए आज्ञा) हे श्रेष्ठ गुणरत्नों से अलंकृत परमगुरु! आप मुझे संथारा करने की आज्ञा दीजिए। एक प्रहर परिपूर्ण बीत चुका है, इसलिए मैं रात्रि = संथारा करना चाहता हूँ।

संथारा करने की विधि

अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं।
कुक्कुडि–पायपसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं ।।2 ।।
संकोइए संडासा, उवट्टंते य काय–पडिलेहा।
दव्वाई उवओगं, उसासनिरुंभणालोए ।।3 ।।

(संथारा करने की विधि) मुझको संथारा की आज्ञा दीजिए। (संथारा की आज्ञा देते हुए गुरु उसकी विधि का उपदेश देते हैं।) मुनि बाई भुजा को तकिया बनाकर बाई करवट से सोवे और मुर्गों की तरह पाँव पर पाँव करके सोने में यदि असमर्थ हो तो भूमि का प्रमार्जन कर उस पर पाँव रखे।

दोनों घुटनों को सिकोड़कर सोवे। करवट बदलते समय शरीर की प्रतिलेखना करे। जागने के लिए द्रव्यादि के द्वारा आत्मा का चिन्तन करे–मैं कौन हूँ और कैसा हूँ? इस प्रश्न का चिन्तन करना द्रव्य चिन्तन है। मेरा क्षेत्र कौनसा है? यह विचार करना क्षेत्र चिन्तन है। मैं प्रमाद रूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ अथवा अप्रमत्त भाव रूप दिन में जागृत हूँ? यह चिन्तन काल चिन्तन है। मुझे इस समय लघुशंका आदि द्रव्य बाधा और राग = द्वेष आदि भाव बाधा कितनी है? यह विचार करना भाव चिन्तन है।

इतने पर भी यदि अच्छी तरह निद्रा दूर न हो तो श्वास को रोककर उसे दूर करें और द्वार का अवलोकन करे अर्थात् दरवाजे की ओर देखे।

मंगल सूत्र

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं।
साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।।4 ।।

संसार में चार मंगल हैं, अरिहंत भगवान मंगल हैं, सिद्ध भगवान मंगल हैं, साधु मुनिराज मंगल हैं, केवली का कहा हुआ धर्म मंगल है।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा।
साहु लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।।5।।

संसार में चार उत्तम है-अरिहंत भगवान उत्तम है, सिद्ध भगवान उत्तम है, साधु मुनिराज उत्तम है, केवली का कहा हुआ धर्म उत्तम है।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहु सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।।6।।

चारों की शरण अंगीकार करता हूँ, अरिहंतों की शरण स्वीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ। साधुओं की शरण अंगीकार करता हूँ, केवली प्ररूपित धर्म की शरण अंगीकार करता हूँ।

संथारा प्रत्याख्यान

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं।।7।।

यदि इस रात्रि में मेरे इस शरीर का प्रमाद हो अर्थात् मेरी मृत्यु हो तो आहार, उपधि (उपकरण) और देह का मन, वचन और काया से त्याग करता हूँ।

पापस्थान का त्याग

पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहूणं दविणमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोहं पिज्जं तहा दोसं।।8।।

कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइसमाउत्ता।
परपरिवायं माया-मोसं मिच्छत्त-सल्लं च।।9।।

वोसिरसु इमाइं, मुक्खमग्गं संसग्गविग्घभूआइं।
दुग्गइ-निबंधणाइं, अट्ठारस पाव-ठाणाइं।।10।।

ये 18 पापस्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्न रूप हैं, बाधक हैं। इतना ही नहीं दुर्गति के कारण भी हैं। अतएव सभी पापस्थानों का मन, वचन और शरीर से त्याग करता हूँ।

एकत्व और अनित्य भावना

एगोऽहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ ।।11 ।।
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिराभावा, सव्वे संजोगलक्खणा ।।12 ।।
संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोग संबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ।।13 ।।

मुनि प्रसन्नचित्त से अपने आपको समझाता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं किसी दूसरे का नहीं हूँ।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन उपलक्षण से सम्यक् चारित्र से परिपूर्ण मेरा आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है, आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ संयोग मात्र से मिले हैं।

जीवात्मा ने आज दिन तक दुःख परम्परा प्राप्त की है, वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है, अतएव मैं संयोग सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग करता हूँ।

क्षमापना

खमिअ खमाविअ मइ खमहं, सव्वह जीवनिकाय।
सिद्धह साख आलोयणाए, मुज्झह वइर न भाव ।।14 ।।
सव्वे जीवा कम्मवस, चउदह राज भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ, मुज्झ वि तेह खमंत ।।15 ।।

हे जीवगण ! तुम सब खमतखामणा करके मुझ पर क्षमाभाव करो। सिद्धों की साक्षी रखकर आलोचना करता हूँ कि मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है।

सभी जीव कर्मवश चौदह रज्जु प्रमाण लोक में परिभ्रमण करते हैं, उन सबको मैंने खमाया है। अतएव वे सब मुझे भी क्षमा करे।

मिथ्यादुष्कृत

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएणं भासियं पावं।
जं जं काएण कयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ।।16 ।।

मैंने जो-जो पाप मन से संकल्प द्वारा बाँधे हों, वाणी से पापमूलक वचन बोले हों और शरीर से पापाचरण किया हो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

अन्तिम परमेष्ठी मंगल

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व-साहूणं।।
एसो पंच-णमुक्कारो, सव्व-पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

अरिहंतो को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक के सब साधुओं को नमस्कार हो।

यह पाँच पदों को किया हुआ नमस्कार सब पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और संसार के सभी मंगलों में प्रथम अर्थात् भाव रूप मुख्य मंगल है।

।। संस्तारक पौरुषी सूत्र समाप्त ।।

❑❑❑